पञ्चरत्नसार

[illegible]

श्री पूज्य पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री

सम्पादक - जैन सन्देश को

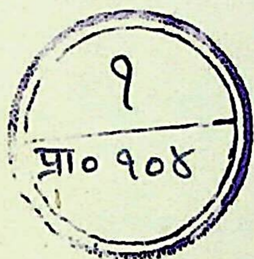
प्रेषित

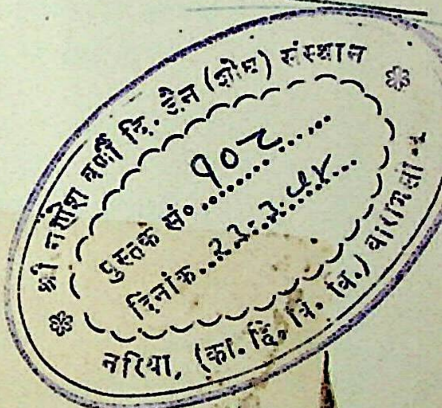
पूर्णचन्द्र जैन

संयोजक

श्री जैन अध्यात्म म[illegible]

मुरादाबाद





श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित

॥ श्री ॥

* पंचरत्न-सार *

(पंचास्तिकाय-समयसार-नियमसार प्रवचनसार
व अष्टपाहुड़ में से संकलित)

संग्रहकर्त्ता—
ब्रह्मचारी मूलशंकर देसाई

प्रकाशक—
श्री जैन अध्यात्म स्वाध्याय मन्दिर
मुरादाबाद

वीर निर्वाण संवत् २४६० कार्तिकशुक्ला १, सोमवार
तारीख १८ नवम्बर, सन् १९६३

मूल्य दो रुपया पचीस नये पैसे
२·२५ रुपये

पुस्तक प्राप्ति स्थानः—
पूर्ण चन्द जैन वैद्य
बी० आई० एम० एस०
बाजार गंज, मुरादाबाद
संयोजक—
श्री जैन अध्यात्म मण्डल

★ मूल्य दो रुपये पच्चीस नये पैसे

★ इस पुस्तक का उत्तरार्ध आधुनिक प्रेस में छपा।

मुद्रकः—
★ साधना प्रेस,
चौमुखापुल,
मुरादाबाद।

प्रस्तावना

पूज्य श्री ब्रह्मचारी मूल शङ्कर जी देसाई का चातुर्मास इस वर्ष मुरादाबाद नगर में हुआ और ५ मास तक मुझको तथा समस्त जैन समाज को ब्रह्मचारी जी के प्रवचन श्रवण करने तथा मनन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

यह नगर ऐसे स्थान पर स्थित है जहाँ पर मुनि, तथा क्षुल्लक, अथवा ब्रह्मचारी, आदि का आना बहुत ही दुर्लभ होता है। और जैन धर्म का प्रचार नहीं के बराबर है।

जैन धर्म के वास्तविक स्वरूप को अधिकांश रूप से जैन समाज ने समझा नहीं है, इसका मूल रूप से कारण भी यह है कि जैन दर्शन शास्त्र के विचारक बहुत कम हैं ओर वे भी आम जैन जनता के समक्ष नहीं पहुँच पाते, फल स्वरूप जैन धर्म का विकास ही नहीं रूक गया है, बल्कि ह्रास होता जा रहा है। और अधिकांश जैन भाइयों ने अपनी मान्यताओं के आधार पर ही जैन धर्म को उसी रूप समझ लिया है।

जैन दर्शन शास्त्र को पद्धति अस्ति नास्ति के आधार पर निर्धारित है। जब तक इस स्याद्वाद शैली का हम को पूरा ज्ञान नहीं होगा, हम जैन धर्म को पूर्णतया समझने में असफल रहेंगे।

जैन धर्म के मूल में अहिंसा सबसे बड़ा आत्मा का धर्म है और सबसे बड़ी हिंसा मिथ्या मान्यताएँ हैं, इन मान्यताओं को तोड़ने का सबसे बड़ा शस्त्र अस्ति नास्ति पद्धति है। जब तक जैन धर्म में इसका सम्यग्ज्ञान न हो सम्यक् चारित्र का प्रश्न ही पैदा नहीं हो सकता ?

कर्म सिद्धान्त जैन दर्शन की एक विशेषता है। कर्म सिद्धान्त को समझने के लिये कोई भी जैनी बिना किसी विद्वान की सहायता के जानने में असमर्थ ही है।

आज समाज में व्यवहारनय और निश्चयनय को लेकर विद्वानों में काफी वाद विवाद हो रहा है, और समाज में दो पक्ष खड़े हो रहे हैं। इस से विद्वानों को अपने पक्ष को सिद्ध करने में कितनी ही संतुष्टता क्यों न होती हो किन्तु भोली समाज आज एक चक्र व्यूह में पड़ गई है, और समाज को अनुभवी सन्तों की विशेष आवश्यकता है। भले ही कोई अपना पक्ष सिद्ध करने की कोशिश करे परन्तु है फिर भी पक्ष ही, निरपेक्ष आत्मा में पक्ष की आवश्यकता नहीं है। जब दोनों पक्षों में स्वयं आप ही है, तो किसी पक्ष की महत्ता का कोई स्थान हीं नहीं है। ये दोनों पक्ष अथवा "स्याद्वाद" मान्यताओं को तोड़ने के लिये हैं, यानी समत्व प्राप्त करने के हेतु ही हैं, और वह जिनको बौद्धिक व्यायाम अथवा तर्क करने की चतुराई है, उनकी समस्याओं को सरल करने की अनुपम शैली है।

स्याद्वाद पद्धति सब पक्षों को निर्मूल करके अपने में बोध कराने की एक अपूर्व शैली है, और स्वरूप बोध अथवा आत्म साक्षात्कार होने पर ही अनुभव प्राप्त होता है, और अनुभवी सब पक्षों में रह कर निरपेक्ष हो रहता है उसकी कथन शैली भी समंझ प्रकाशक होती है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत ५ शास्त्र अर्थात् प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़ का सार एक साथ एकत्रित करके बड़े परिश्रम एवं अनुभव से गूँथा है। इन पाँचों शास्त्रों की मूल गाथाओं को उधृतकर एक स्थान पर रखने में जिस शैली का प्रयोग किया है, वह इस बात की द्योतक है कि पूज्य ब्र० जी ने सिद्धान्त को कितनी गहराई से समझा है। जैन धर्म के दो मूल उपयुक्त दृष्टिकोण यानी मान्यताओं को व स्याद्वाद को

इतने अनुभव, योग्यता, सरलता, से जैन समाज के सामने रक्खा है कि यह कहने में जरा भी अतिशयोक्ति न होगी कि मुरादाबाद के जैन भाइयों ने अब जाना है कि जैन धर्म का कर्म सिद्धान्त क्या है। कहाँ तक मान्यताएँ हमारे अन्दर भरी हैं, जो हमारे आत्मोत्थान में बाधक है, इन पाँच महान ग्रन्थों में कहाँ कहाँ उपचरित कथन है। उसको पूज्य ब्रह्मचारी जी ने भली प्रकार दर्शाया है।

स्याद्वाद को समझाने की पूज्य ब्रह्मचारी जी की अनु-अनुपम रीति है, और जिनागम का तात्त्विक रहस्य समझाने में और वैराग्य भावना बढ़ने में मुरादाबाद की समाज का महान उपकार किया है। उसके लिये समस्त जैन समाज आभारी है। और मैं पूज्य ब्र० जी का विशेषतया अभार ानता हूँ, क्योंकि उनके प्रवचन में यदा कदा मैं एक दृष्टि कोण रखता था जो ब्र० जी की दृष्टि में ठीक न था और उन्होंने इस सम्बन्ध में जो परिश्रम तथा युक्तियाँ प्रयोग की वह अनुसरणीय थी।

अन्त में सर्व मुमुक्षु आत्माओं से प्राथना है कि अपनी तीव्र जिज्ञासा को शान्त करने के हेतु इस पंचरत्नसार का स्वाध्याय करके आत्म सुख के लिये ज्ञान प्राप्त करे, और इसमें से शब्दार्थ, भावार्थ, टीका समझ कर वास्तविक वीतरागता को प्राप्त करके सुखी हो।

निवेदक
जयकृष्ण जैन
एडवोकेट
जिला सरकारी वकील (दीवानी)
मुरादाबाद

प्रकाशक की ओर से

श्री पूज्य ब्रह्मचारी मूलशंकर जी देसाई अप्रैल मास में भ्रमण करते हुए मुरादाबाद पधारे। उस समय आपके प्रवचन से प्रभावित होकर समाज की भावना चातुर्मास कराने की हुई।

समाज की भावना से प्रभावित होकर निमन्त्रण स्वीकार किया उसका समाज आभारी रहेगा। इस चातुर्मास में यहाँ की जैन जनता ने यथाशक्ति धर्मोपदेश का लाभ लिया।

आपकी प्रवचन शैली श्रोतागण के मानस पटल पर गहरा प्रभाव डालती है, तथा उसको विचार की शक्ति प्रदान करती है। साधारण मनुष्य भी आपकी विचारधारा को हृदयंगम कर लेता है।

आप श्वेताम्बर स्थानक वासी परिवार में जन्मे हैं। अध्ययन के बल पर आपने दिगम्बर आम्नाय को अंगीकार किया है। आपके विचार एवं अध्ययन ठोस एवं परीक्षा प्रधानी रहे हैं। अध्ययन एवं स्वाध्याय के विषय में आपका कहना है कि विषय को पूर्वापर रूपेण विचार कर ठीक उतरने पर ही स्वीकार करना चाहिए। केवल लिखा है उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए। केवल भाव रहित अध्ययन निष्फल है। उससे आत्म लाभ होने वाला नहीं है।

इस भव तरू का मूल इक, जानहु मिथ्याभाव।
ताको करि निर्मूल अब, करिये मोक्ष उपाव॥

मिथ्यात्व भाव को छुड़ाने की आपकी प्रेरणा रहती है। प्रवचन में उदाहरण आदि देकर मिथ्या भावना को दूर कराने की जिज्ञासा रहती है।

पूज्य श्री के प्रवचनों में तत्वार्थ का ज्ञान कराने, एवं भावों की यथार्थ प्रतीति कराने की भावना रहती है। पाप भाव को पाप जानो। पुण्य भाव को पुण्य, एवं धर्म भाव को धर्म। पुण्य भाव को धर्म भाव मान लेना ही मिथ्यात्व है। पुण्य भाव बंध है। सोने की बेड़ी के समान स्वर्ग का दाता है जन्म मरण कराता ही रहता है। धर्म भाव शान्ति सुख का कारण है। मोक्ष का दाता है। पुण्य भाव, धर्म भाव नहीं हो सकता इसी प्रकार अनेकों प्रकार की रूढ़ियों को अच्छी प्रकार से समझाया है।

कुछ विचारक व्यक्तियों द्वारा स्थापित अध्यात्म मण्डल है। उसने पूज्य ब्रह्मचारी जी द्वारा संग्रहीत पंचरत्नसार ग्रन्थ को प्रकाशित कराया है, जिसमें आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के पाँच ग्रन्थों का अनुपम रहस्य है। इसमें विषयवार सब ग्रन्थों से गाथाएँ तथा अर्थ एवं अमृतचन्द्राचार्य द्वारा रचित टीका का हिन्दी अर्थ भी दिया है। किस अपेक्षा से किस प्रकार कथन है यही इस ग्रन्थ में दिखाया है।

अक्रम एवं क्रमबद्ध पर्याय तथा निमित्त नैमितिक कारणों को पाँचों ग्रन्थ राज से उद्धत करके सिद्ध किया है। एवं भावार्थ में अपना दृष्टि कोण भी व्यक्त किया है, यह विद्वानों के समझने की बात है। साधारण जनों को इससे कोई लाभ नहीं, वे तो थोड़े एवं सरल रूप के प्रवचन जो उनके हृदय पर असर कर सके ऐसा ज्ञान चाहते हैं। उसी से उन्हें लाभ होता है। इसका ज्ञान पिछले पाँच मास में पूज्य ब्रह्मचारी जी से प्राप्त किया है।

यह ग्रन्थ जिज्ञासु व्यक्ति को वरदान स्वरूप है ऐसा हमारा विश्वास है।

यह ग्रन्थ बहुत जल्दी एवं कम समय में छपा है इसलिये प्रेस सम्बन्धित त्रुटियाँ रहना संभव हैं। तथा पूज्य ब्रह्मचारी जी

सौराष्ट्र प्रान्त निवासी हैं। इसलिये कहीं कहीं भाषा प्रवाह एवं सुष्ठता नहीं आ पाई है।

यह अध्यात्म मण्डल का प्रकाशन में प्रथम प्रयास है। भविष्य में इसका प्रचार एवं मांग बढ़ी तो अगले संस्करण में में त्रुटियों को दूर करने की कोशिश की जायेगी। स्वाध्यायी जन सूचित करने की कृपा करें।

श्री पूज्य ब्रह्मचारी जी ने प्रकाशन का त्याग कर दिया है उससे समाज की ही हानि हुई है। किन्तु समाज को इस ओर दृष्टि रखनी चाहिये।

नोट—यह ग्रन्थ सम्पूर्ण एक ही है। समयाभाव के कारण दो प्रेसों में छपा है। इसलिये कर्त्ता कर्म अधिकार से उतरार्ध रूप में १ पृष्ठ से प्रारम्भ है।

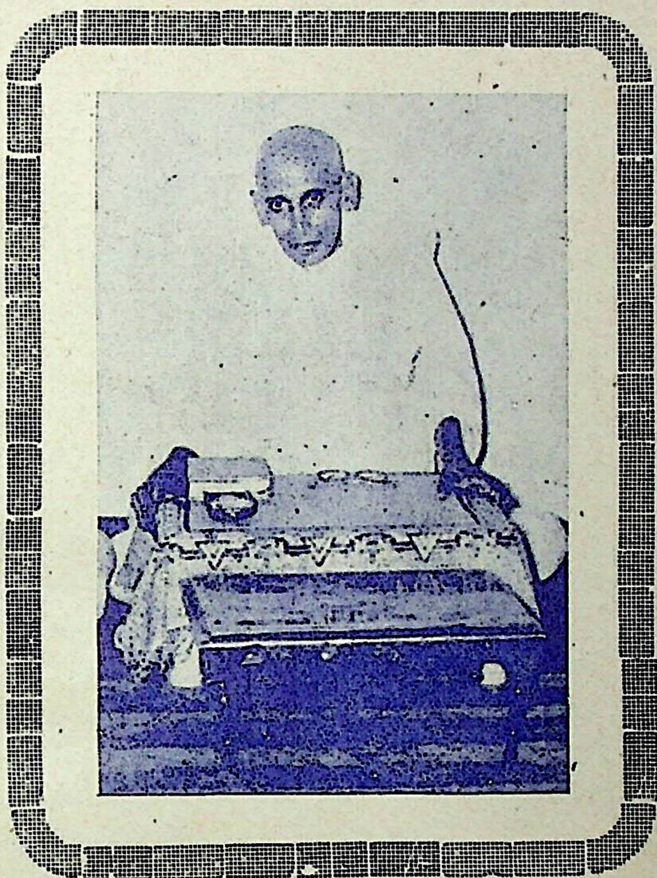
पूर्णचन्द्र जैन वैद्य
B. I. M. S.

रामकिशोर जैन

संयोजक

श्री जैन अध्यात्म मण्डल

मु रा दा बा द



अध्यात्मवेत्ता तत्त्वज्ञानी

ब्रह्मचारी मूलशंकर देसाई

मुरादाबाद चातुर्मास,

वी० नि० सम्वत् २४८९



दो शब्द

श्रीमद् आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी ने अध्यात्त जो कथन किया है ऐसा कथन प्रायः कर अ= आचार्य देव ने विशेष रूप कथन नहीं किया है। श्री कुन्द कुन्द आचार्य के पांच ग्रन्थ विशेष रूप प्रधान है। १ पंचास्तिकाय २ समयसार ३ प्रवचनसार ४ नियमसार ५ अष्ट पाहुड़ जैनागम में प्रधान रूप से स्वादवाद से कथन किया जाता है। स्वादवाद का अर्थ है अपेक्षा से कथन करना। अपेक्षा अनेक प्रकार की हैं। १ उपादान की मुख्यता से कथन करना। उपादान में भी त्रीकाल स्वभाव की अपेक्षा से कथन करना। और उपदान की पर्याय अपेक्षा से कथन करना। (२) निमित्त की मुख्यता से कथन करना। निमित्त दो प्रकार के होते हैं। (१) अन्तरंग निमित्ति अर्थात् बद्ध कर्म नोकर्म अर्थात् शरीर के निमित्त से (२) बाह्य निमित्त अर्थात् अबद्ध नोकर्म निमित्त। अवध नोकर्म निमित्त में देव गुरु शास्त्र धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल और पांच इन्द्रियों के सब विषय आ जाते हैं। (३) श्रधा की मुख्यता से कथन करना। (४) चारित्र की अपेक्षा से कथन करना। (५) बुद्धि पूर्वक राग की अपेक्षा से कथन करना। (६) अबुद्धि पूर्वक राग की अपेक्षा से कथन करना है। (७) शुद्ध द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से कथन करना। करणानुयोग की अपेक्षा से कथन करना। इस प्रकार अनेक अपेक्षा से कथन किया है। यदि कथन हमारे ज्ञान में न आवे तो हम शास्त्र से लाभ नहीं उठा सकते हैं। कहीं कथन जैन मत के अनुयायी को समझाने के लिये किया गया है। कहीं कथन बौध मत के अनुयायी को समझाने के लिये किया गया है।

इस कथन को ठीक ठीक न जाने तो भी लाभ के स्थान में हानि हो जाती है अपेक्षा का विचार जैसे।

राग का कर्त्ता एवं भोक्ता आत्माही है। समयसार गाथा। १०२
जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा न तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा॥

अर्थ—आत्मा जिस शुभ या अशुभ भाव को करता है उस भावका वह वास्तव में कर्ता है, वह उसका कर्म होता है, और वह आत्मा उस (रागादि भाव का) भोक्ता होता है।

टीका—अपना अचलित विज्ञानघन रूप एक स्वाद होने पर भी इस लोक में जो यह आत्मा अनादिकाल अज्ञान के कारण परके और अपने एकत्व के अध्यास (निश्चय) से मंद और तीव्र स्वाद युक्त पुद्गलकर्म के विपाक की दो दशाओं के द्वारा अपने (विज्ञानघनरूप) स्वाद को भेदता हुआ अज्ञान रूप शुभ या अशुभ भाव को करता है, वह आत्मा उस समय तन्मयता से उस भाव का व्यापक होने से उस भाव का कर्ता होता है और वही आत्मा उस समय तन्मयता से उस भाव का भावक होने से उसका अनुभव करने वाला (भोक्ता) होता है। इस प्रकार अज्ञानी भी पर भावका कर्ता नहीं है।

एवं कलश नम्बर २०५ में भी लिखा है कि—

माऽकर्त्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः
कर्तारं कलयंतु तं किल सदा भेदावबोधादधः।
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥२०५॥

अर्थ—यह अर्हित् मत के अनुयायी अर्थात् जैन भी आत्मा को, सांख्यमतियों की भाँति, सवर्था (रागका) अकर्ता मत मानो, भेद ज्ञान

होने से पूर्व उसे आत्मा को राग का कर्ता) निरन्तर कर्ता मानो, और भेद ज्ञान होने के वाद उद्धत ज्ञानधाम (ज्ञान मन्दिर-ज्ञान प्रकाश) में निश्चित इस स्वयंप्रत्यक्ष आत्मा को कर्तृत्व रहित अचल एक परम ज्ञान ही देखो।

भावार्थ—यहां आचार्य का यह अभिप्राय है कि जब तक मिथ्यात्व हैं तव तक अज्ञानी राग को अपना ही स्वरूप मानते हैं किन्तु सम्यग्दर्शन होने के वाद ज्ञानका कर्ता वनो, और राग का ज्ञाता वनो।

यह कथन श्रद्धाकी की अपेक्षा से हैं चरित्र की अपेक्षा से यह कथन नहीं हैं किन्तु जिसको आगम शैली का ज्ञान नहीं वह वर्तमान में भी अपने को चारित्र की अपेक्षा से राग का अकर्ता मानते हैं जिससे राग छोड़ने की उनकी भावना ही नहीं होती जिससे निरंगल पाप में ही प्रवृति कर अर्थात निश्चयाभासी बन नरक निगोद का ही पात्र बन जाते हैं।

अथ देखिये आचार्य चारित्र की अपेक्षा से क्या करते हैं।

अपडिक्कमणं दुविहं अपच्चखाणं तहेव विण्णेयँ।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥२८३॥
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपचखाणं।
एएणुवएसेण य अकारो वण्णिओ चेया ॥२८४॥
जावं अपडिक्कमणं अपच्चखाणं च दव्वभावाणं।
कुव्वई आदा तावं कत्ता सो होई णायव्वो ॥२८५॥

अर्थ—अप्रतिक्रमण दो प्रकार का उसी तरह अप्रत्याख्यान दो प्रकार का जाननाचाहिये, इस उपदेश से आत्मा (राग का) अकारक कहा गया है।

अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है, द्रव्य सम्बन्धी तथा भाव सम्बन्धी इसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का है द्रव्य सम्बन्धी तथा भाव सम्बन्धी, इस उपदेश से आत्मा (राग का) अकारक कहा गया है।

जब तक आत्मा द्रव्य और भाव का अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान करता है तब तक वह आत्मा (राग भाव का) कर्ता होता है, ऐसा जानना चाहिये।

टीका—आत्मा स्वतः रागादिकका अकारक ही है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो (अर्थात् यदि आत्मा स्वतः ही रागादिक भावों का कारक हो तो) अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानका जो वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद से द्विविधि (दो प्रकार का) उपदेश है वह द्रव्य और भाव के निमित्त नैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ, आत्मा के अकर्तृत्व को ही बतलाता है। इसलिये यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिक भाव नैमित्तिक है। यदि ऐसा न माना जाये तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान का कर्तृत्व के निमित्ति रूप का उपदेश निरर्थक ही होगा और वह निरर्थक होने पर एक ही आत्मा को रागादि भावों का निमित्तत्व आ जावेगा, जिससे नित्य-कर्तृत्व का प्रसंग आ जायेगा, जिससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। इसलिये पर द्रव्य ही आत्मा को रागादिक भावों का निमित्त हो। और ऐसा होने पर यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादिक का अकारक ही है। (इस प्रकार यद्यपि आत्मा रागादिक का अकारक ही है) तथापि जब तक वह निमित्त भूत द्रव्य का (पर द्रव्य का) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता तब तक नैमित्तिक भूत भावों का (रागादिक भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता और जब तक इन भावों का) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता तब तक वह उनका (आत्मा रागादिक भावों का) कर्ता ही है, जब वह निमित्त भूत द्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है तभी नैमित्तिक भूत भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है और जब इन भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान होता है तब वह साक्षात् (रागादिक का) अकर्ता ही है।

भावार्थ—देखिये यहां पर आत्मा को रागादिक का अकर्ता सिद्ध

किया तथापि परद्रव्य अर्थात् पांच इन्द्रियों के विषयों तथा उन विषयों के प्रति रागादिक भावों का त्याग नहीं करता तब तक रागादिक भावों का कर्ता ही माना है। अर्थात छठवा गुणस्थान तक बुद्धि पूर्वक राग रहता है और सातवें गुण स्थान में बुद्धि पूर्वक राग नहीं है जिससे छठवाँ गुणस्थान तक आत्मा को राग का कर्ता माना है और सातवें गुण स्थान में राग होते भी राग का साक्षात अकर्ता माना है। जब सातवें गुणस्थान में राग होते भी आत्मा को राग का अकर्ता माना तब वहां राग का कर्ता कौन है ? समाधान—वहां राग का कर्ता चारित्र मोहनिय नामा द्रव्य कर्म का उदय ही राग का कर्ता (निमित्त) है।

शंका—चारित्र मोहनिय कर्म राग का कर्ता कैसे हो सकता है ? हम अपनी योग्यता से राग करते हैं ?

समाधान—आप में योग्यता सब प्रकार की है तथापि कर्म के उदय के निमित्त बिना समयवर्ती राग (अबुद्धि पूर्वक राग) आप कर ही नही सकते ? यहां पर निमित्त का ही प्रधानपना है। देखिये समयसार कलश नम्बर ११०।

यावत्पाकमुपैति कर्मविरति र्ज्ञानस्य सम्यङ्न सा
कर्मज्ञान समुच्चयोऽपि विहित स्तावन्न काचित्क्षतिः।
किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय तन्
मोक्षाय स्थितमकेमेव परमं ज्ञानं विमूक्तं स्वतः॥

अर्थ—जब तक ज्ञान की कर्मविरति भलीभांति परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होती तब तक कर्म और ज्ञान का एकत्रितपना शास्त्र में कहा है, उसके एकत्रित रहने में कोई भी क्षति या विरोध नहीं है। किन्तु यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि आत्मा में अवशपने जो कर्म का उदय होता है वह तो बन्ध का कारण है और जो एक परम ज्ञान है वह एक ही मोक्ष का कारण है जोकि स्वतः विमुक्त हैं।

योग्यता केवल पारिणामिक भाव में ही मानी जाती हैं किन्तु औदयिक भाव, क्षयोपशम भाव, औपशमिक भाव और क्षायिक भाव में योग्यता का प्रश्न ही नहीं हैं वहाँ तो कर्म की ही मुख्यता है। यदि योग्यता से ही सब पर्याय प्रगट होती हैं तो संसार में एक पक्ष ऐसा भी हैं, जो मानते हैं कि मुक्त आत्माओं अपनी योग्यता से संसार में वापिस आते हैं उसका आप क्या समाधान करोगे ? शान्ति से विचारिये ?

देखिये आत्मा में ८४ लाख योनि रूप बनने की योग्यता हैं तो भी गति, शरीर नामा नाम कर्म की अनुसार वह योग्यता प्रगट होती हैं। देखिये प्रवचनसार गाथा नम्बर

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥११७॥

अर्थ —वहाँ नाम संज्ञा वाला कर्म अपने स्वभाव से जीव के स्वभावका पराभव करके, मनुष्य तिर्यंच नरक अथवा देव (इन पर्यायों) को करता है।

टीका—'क्रिया वास्तव में आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से कर्म है उसके निमित्त से परिणमन (द्रव्य कर्म रूप) को प्राप्त होता हुआ पुद्गल भी कर्म है। उस (पुद्गल कर्म) की कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायों मूल कारण भूत जीवकी क्रिया से प्रवर्तमान होने से क्रिया फल हैं, क्योंकि क्रिया के अभाव में पुद्गलों का कर्मत्व का अभाव होने से उस (पुद्गल कर्म) की कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायों का अभाव होता हैं।

वहाँ वे मनुष्यादि पर्यायें कर्म के कार्य कैसे हैं ? (सो कहते हैं कि) वे कर्म स्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके की जाती हैं, इसलिये दीपक की भाँति-यथा—ज्योति (लौ) के स्वभाव के द्वारा तेल के स्वभाव का पराभव करके किया जाने वाला दीपक ज्योति का कार्य है, उसी प्रकार कर्म स्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके की जाने वाली मनुष्यादि पर्यायें कर्म के कार्य हैं।

देखिये आप में सर्व योग्यता होते हुये भी नाम कर्म के अनुसार उसकी योग्यता प्रगट हो सकती हैं अन्यथा नहीं।

इसलिये जहाँ आत्मा की प्रधानता है वहाँ आत्मा की माननी चाहिये और जहाँ कर्म की प्रधानता है वहाँ कर्म की माननी जाननी चाहिये।

देखिये ऊपर में आचार्य देवने सिद्ध किया कि राग और राग का कारण पर पदार्थ अर्थात पाँच इन्द्रियों के विषय, दोनों का त्याग होना चाहिये। पर द्रव्य का त्याग तो द्रव्य लिंगी मुनि करते हैं तो भी रागादिक का त्याग नहीं होता। यहाँ अनेकान्त हैं। पर द्रव्य राग का निमित्त कारण नहीं है यदि परद्रव्य ही रागादिक करावे तो केवली परमात्मा को रागादिक करा देये किन्तु ऐसा वस्तु का स्वभाव नही है। यहाँ परद्रव्य बाह्य निमित्त हैं उदासीन निमित्त हैं। अर्थात आत्मा राग करे तो निमित्त बोला जाय और आत्मा रागादिक न करे तो तो निमित्त नहीं हैं किन्तु ज्ञेय मात्र है। यहाँ निमित्त की मुख्यता नहीं है किन्तु उपादान की ही मुख्यता हैं। क्योंकि जिस प्रकार आत्मा में राग होता है उसी प्रकार राग परद्रव्य में होता ही नहीं। उपादान में जैसी अवस्था होती है वैसी निमित्त में नहीं होती है ऐसे सम्बन्ध को निमित्त उपादान सम्बन्ध बोला जाता है। निमित्त उपादान सम्बन्ध को शास्त्रीय भाषा में उदीरणाभाव बोला जाता है और उदीरणाभाव में उपादान की ही प्रधानता है। देखिये समयसार गाथा २६५

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्भवसाणं तु होई जीवाणं।
ण य वत्थु दो दु बंधः अज्भवसाणेण बंधोत्थि ॥२६५॥

अर्थ —जीवों के जो अध्यवसान होता है वह वस्तु को अवलम्बन करके होता है तथापि वस्तु से बन्ध नहीं होता अध्वसान से ही बन्ध होता है।

पदार्थ के आश्रय राग होता है पदार्थ लोक में न हों और उनका

राग हो जावे ऐसा कदापि नहीं हो सकता तथापि वाह्यपदार्थ राग भी कराता नहीं। वाह्य पदार्थ का त्याग करते भी राग नहीं छुटता इससे सिद्ध हुआ कि वाह्य पदार्थ राग का कारण नहीं है वह तो उदासीन लोक में ज्ञये रूप हैं यदि आत्मा राग करे तो उस ज्ञेय पदार्थ को निमित्त बोला जाता हैं। यहाँ उपादान की मुख्यता है। बाह्य निमित्त की नहीं। जहाँ जैसा सम्बन्ध है वैसा ही जानना चाहिये। जैसे नाम कर्म अपनी बरजोरी से आत्मा को मनुष्यादि बना देता है वही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है और निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध में निमित्तिकी ही मुख्यता है। क्योंकि निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध में दोनों द्रव्य में समान अवस्था होती है किन्तु निमित्त उपादान सम्बन्ध में दोनों द्रव्यों में समान नहीं होती। देखिये समयसार गाथा ३१२-३१३

चेया उ पयडीअट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥३१२॥
एवं बंधो उ दुण्हं वि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥३१३॥

अर्थ - चेतक अर्थात आत्मा प्रकृति के निमित्त से उत्पन्न होता है और नष्ट होता है तथा प्रकृति भी चेतक अर्थात आत्मा के निमित्त से उत्पन्न होती है तथा नष्ट होती है। इस प्रकार परस्पर निमित्त से दोनों ही आत्मा और प्रकृति का बन्ध होता हैं और इससे संसार उत्पन्न होता है।

देखिये इसी का नाम निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। दोनों द्रव्य में समान अवस्था होती है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध अरस परस बन्धन में ही होता है। उसी का दृष्टान्त देखिये समयसार गाथा नंबर २७८,२७९

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥२७८॥

एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७६॥

अर्थ—जैसे स्फटिकमणी शुद्ध होनेसे रायादिरूप से अपने आप परिणमते नहीं है परन्तु अन्य रक्तादि द्रव्यों मे वह रक्त आदि किया जाता है, इसी प्रकार ज्ञानी अर्थात् आत्मा शुद्ध होने से रागादिरूप अपने आप परिणमता नहीं है परन्तु अन्य रागादि दोषों मे वह रागी आदि किया जाता है।

देखिये निमित्तनैमित्तक सम्बन्ध में रागी किया जाता है अर्थात् आत्मा राग करने को चाहता नहीं है निमित्त की वरजोरी से रागी किया जाता है। और निमित्त उपादान सम्बन्ध में स्वयं राग करता है वहां आत्मा स्वाधीन है।

अपने खुद अनुभव से आप विचार कीजिये कि चश्मा क्यों लगाते हो? साधक मान के या बाधक मानके? आत्मा क्या कहती है। मोटर में रेलगाड़ी में क्यों बैठते हो? साधक मानकर या बाधक मानकर? प्रत्यक्ष प्रमाण भी जिसको मानना नहीं है क्या ऐसे जीव को तीर्थंकर मना सकते हैं? ऐसे जीव पर दया खानी चाहिये कि बिचारा निगोद में जाने वाला है तब तो अपने खुद के अनुभव को मानते नहीं हैं।

वाँणी—शब्द का उपादान कर्त्ता पुदगल है आत्मा नहीं है। सोचिये सत्य बोलो भाषा समितिका पालन करो, वचन गुप्ति धारण करो यह उपदेश जीब को दिया है या पुदगल को? यदि जीव को दिया है तब जीव तो बोलता ही नहीं जीव को उपदेश क्यों दिया? भाई साहेब बांणी का निमित्त कर्त्ता जीब ही है। यहां निमित्त की ही मुख्यता है। पुदगल की मुख्यता नहीं है। इसलिये तो कहा है "पुरुष प्रमाण से वचन प्रमाण है।"

जहां निमित्त की मुख्यता है वहाँ निमित्त की प्रधानता देनी चाहिये

और जहाँ उपादान की मुख्यता हो वहाँ उपादान की मुख्यता माननी चाहिये इसी का नाम तो सम्यक् ज्ञान है।

समयसार ग्रन्थ के निर्जरा अधिकार में लिखा है कि सम्यग्दृष्टि का भोग निर्जराका कारण है। इस गाथा का तात्पर्य तो ज्ञान में आया नहीं जिससे विचारा अज्ञानी जीव अर्थात् निश्चयाभासी जीव खाने में भी निर्जरा मानने लगा ? भाई आहार संज्ञा तो पाप है वह निर्जरा तत्त्व कैसे हो जावेगा ? अपनी अज्ञानता के कारण जीव लाभ के स्थान में नुकशान में ही चला जाता है क्योंकि वेचारे को तत्त्व का ज्ञान तो नहीं है। इसी बात को निर्जरा अधिकार में आचार्य कितने सुन्दर शब्दों से कहते हैं। देखिये समयसार कलश नम्बर १५१

ज्ञानीन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किंचित्तथाप्युच्यते
मुंक्षे हंत न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।
बंधःस्यादुपभोगतो यदि न तर्तिंक कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्बस बंधमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम् ॥१५१॥

अर्थ—हे ज्ञानी ? तुझे कभी कोई कर्म करना उचित नहीं है, तथापि तू यह कहे कि—पर द्रव्य मेरा कभी भी नहीं है, और मैं उसे भोगता हूँ "तो तुझ से कहा जाता है कि हे भाई ? तू खराव प्रकार से भोगने वाला है, जो तेरा नहीं है, उसे तू भोगता है यह महा खेद की बात है ? यदि तू कहे कि "सिद्धान्त में यह कहा है कि परद्रव्य के उपभोग से बंध नहीं होता इसलिये भोगता हूं" तो क्या तुझे भोगने की इच्छा है ? तू ज्ञान रूप होकर निवास कर, अन्यथा तू निश्चय से अपने अपराध से वन्ध को प्राप्त होगा।

भोग करना या न करना उपादान अर्थात् आत्मा के आधीन है, यह निमित्त उपादान सम्बन्ध है। हलवाई की मिठाई नहीं बोलती है कि आत्मा तू मुझको खा ? किन्तु आत्मा स्वयं अपराध कर खाता है वहां

निमित्त का कोई दोष नहीं है यह तो ज्ञेय पदार्थ है और था किन्तु आत्मा ने स्वयं अपराध कर उसके प्रति राग किया है। यह बुद्धि पूर्वक राग है जिसको शास्त्रीय भाषा में "उदीरणा" कहा जाता है। और जो राग अबुद्धि पूर्वक होता है उसी को "औदयिक" भाव कहा जाता है। उदीरणा भाव का ही नाम निमित्त उपादान सम्बन्ध है और औदयिक राग का नाम निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। उदीरणा स्व पुरुषार्थ से ही कीं जाती है और औदयिक भाव कर्म की बरजोरी से करना पड़ता है, किया नही जाता, इतना महान अन्तर है। स्त्री के साथ में भोग करना उदीरणा भाव है, और इस भाव को आत्मा अपने पुरुषार्थ से त्याग कर देता है किन्तु वेदनामा मोहनीय कर्म के उदय में जो राग हो जाता है वह भावलिंगी मुनि भी छठवाँ सातवाँ गुणस्थान में नहीं छोड़ सकता। वह तो नौवाँ गुणस्थान में ही छूटेगा उसके पहिले नहीं। इस भाव में आत्मा पराधीन है। उदीरणा भाव से कर्म की अविपाक निर्जरा होती है और औदयिक भाव से कर्म की सविपाक निर्जरा होती है। उदीरणा भाव अक्रम है और औदयिक भाव क्रमबद्ध है। यही बात प्रवचनसार ग्रन्थ की गाथा नम्बर २३८ में दिखाया है कि—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसय सहस्स कोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥२३८॥

अर्थ—जो कर्म अज्ञानी लक्ष कोटिभवों में खपाता है, वह ज्ञानी तीन प्रकार (मन, वचन, काय) से गुप्त होने से श्वासों उच्छ्वासमात्रं में खपा देता है।

टीका—यदज्ञानी कर्म क्रमपरिपाट्या बालतपोवैचित्र्योपक्रमेण च पच्यमानमुपात्तरागद्वेषतया सुख दुःखादि विकारभावपरिणतःपुनरारोपित संतानं भवशतसहस्रकोटिभिः कथंचन निस्तरति।

अर्थ --जो कर्म (अज्ञानी को) क्रम परपाटी से तथा अनेक प्रकार

के बालातपादि रूप अक्रम से (उद्यम से) पकते हुये रागद्वेष की अहेतु क्रिया होने से सुखदुखादि विकार भाव रूप परिणमित होने से पुनः संतान को आरोपित करता जाय इस प्रकार इत्यादि—

देखिये क्रम परिपाटी का अर्थ है सविपाक निर्जरा और अक्रमका नाम है अविपाक निर्जरा, कि जो पुरुषार्थ से ही होती है। आपने अक्रम पर्याय मानी नहीं उसी का नाम तो मिथ्याज्ञान है। और देखिये प्रवनसार ग्रन्थ की गाथा नम्बर २३१ की टीका।

"देश कालज्ञस्यापि बालवृद्ध श्रान्त ग्लानत्वानुरोधेनाहार विहारयो रल्पलेपभयेनाप्रवर्तमानस्यातिकर्कशाचरणीभूयाक्रमेण शरीरं पातयित्वा सुरलोकं प्राप्योद्वान्त समस्त संयमामृतभारस्य तपसोऽनवकाशतयाशक्य-प्रतिकारो महान् लेपो भवति।

अर्थ—देश कालज्ञ को भी यदि वह बाल, वृद्ध, श्रांत ग्लानत्व के अनुरोध मे जो आहार विहार है उसमे होने वाले अल्पलेप के भय से उसमें प्रवृति न करे तो अति कर्कश आचरण रूप होकर अक्रम से शरीर पात करके देवलोक प्राप्त करके जिसने समस्त संयमामृत का समूह वमन कर डाला है उसे तप का अवकाश न होने से जिसका अशक्य है ऐसा महान लेप होता है।

देखिये मुनि विचार करते हैं कि यदि मैं आहार लूंगा तो मुझको अल्प पापका बन्ध जरूर पड़ेगा यह सोचकर आहार न लेकर उपवास कर शरीर को अक्रम से पात कर देता हैं। यह अक्रम पर्याय हैं। और देखिये प्रवचनसार गाथा नम्बर २४० की टीका।

...चिद्वृत्तोः परद्रव्य चङ्क्रमणनिमित्त मत्यन्तमात्मना सममन्योन्य संवलनादेकीभूतमपि स्वभावभेदात्परत्वेन निश्चित्यात्मनैव कुशलो मल्ल इव सुनिर्भरं निष्पीडय निष्पीडय कषायचक्रमक्रमेण जीवं त्याजयति।

अर्थ—चिद्वृति के लिये परद्रव्य में भ्रमण का निमित्त जो कषाय

समूह, वह आत्मा के साथ अन्योन्य मिलन के कारण अत्यन्त एक रूप हो जाने पर भी स्वभाव के भेद के कारण उसे पर रूप से निश्चय करके आत्मा से ही कुशल मल्ल की भांति अत्यन्त मर्दन कर करके अक्रम से उसे मार डालता है ..

देखिये जो कर्म लाखों वर्ष चलने वाले थे उनको अन्तर्मुहूर्त में अपने पुरुषार्थ से अक्रम से मार डालता है। इससे सिद्ध हुआ कि दो पर्याय होती है (१) क्रम बद्ध (२) अक्रम। क्रम बद्ध पर्याय में आत्मा पराधीन है और अक्रम पर्याय में आत्मा स्वाधीन है। जिस जीव ने केवल क्रमबद्ध ही पर्याय मानी है उस जीव ने अपने मिथ्या ज्ञान के कारण पुरुषार्थ का भी नाश कर दिया है।

जो जीव सर्वज्ञ को मानते ही नहीं ऐसे वेदान्त मत सांख्यमत वाले जीव को सर्वज्ञ की सिद्धि के लिये आचार्य देव ने बताया कि सर्वज्ञ एक समय में लोक के सर्व पदार्थ की त्रिकालवर्ती पर्यायें देखते हैं किन्तु यह जैन मत के अनुयाथी के लिये कथन नहीं हैं, जैन मत के अनुयायीको नयका ज्ञान है। निश्चयनय परमार्थ कथन करने वाले हैं, और व्यवहारनय उपचार से कथन करते हैं। देखिये नियमसार ग्रन्थ की गाथा नम्बर १५६।

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५६॥

अर्थ—व्यवहारनय से कहा जाता है कि केवली भगवान सब जानते हैं और देखते हैं। निश्चय नयसे कहा जाता है कि केवल ज्ञानी आत्मा को (स्वयं को) जानता देखता है।

व्यवहार नय अभूतार्थ है असत्यार्थ है श्रद्धानं करने योग्य नहीं है और निश्चय नय भूतार्थ है, सत्यार्थ है श्रद्धान करने योग्य हैं।

जैन मत के अनुयायीओं को क्या कहा है? जरा विचारिये ! केवल

ज्ञानी और श्रुत केवली में जानने देखने में कोई अन्तर नहीं है केवल प्रत्यक्ष परोक्ष का ही अन्तर है।

सोनगढ से प्राय: जितने शास्त्र प्रकाशित हुये हैं उनमें लिखा है कि "शास्त्र का अर्थ करने की पद्धति" उनमें लिखा है कि "जिन मार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता सहित व्याख्यान है उसे तो "सत्यार्थ (इसी प्रकार हैं)" ऐसा समझना चाहिये तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लेकर कथन किया गया हैं उसे "ऐसा नहीं हैं" किन्तु निमित्तादिक की अपेक्षा से यह उपचार किया हैं ऐसा जानना चाहिये।

सोनगढ़ स्वयं ऐसा लिखते हैं किन्तु स्वयं मानते नहीं है यदि मानते होते तो वह कैसे कहते हैं कि सर्वज्ञ तीन काल तीन लोक के सर्व पदार्थ की अवस्था देखते हैं? यह तो व्यवहार नय का कथन हैं। परन्तु इस कथन पर जोर न दिये तो उसने प्रतिपाद जो किया है कि सर्व द्रव्य की क्रमबद्ध ही पर्याय होती है वह सिद्ध नहीं हो सकती। कषाय के कारण व्यवहारनय का पक्ष लेकर बैठे हैं। क्या हठग्राही जीव को तीर्थ कर समझा सकते हैं? कदापि नहीं। अमृतचन्दाचार्य की एक बात माने जो अपने राग के अनुकूल है और दूसरी बात जो अपने राग के मान्यता के अनुकूल नहीं वह मानने को तैयार नहीं हैं। जैसे पंचास्तिकाय ग्रन्थ की गाथा नम्बर १३२ १३५ १३६ में में आचार्य देव ने संस्कृत टीका में जो लिखा हैं उनका भाषा में उलटा अर्थ क्यों करते? आचार्य लिखते हैं निमित्त में प्रथम अवस्था होती है उनके अनुकूल नैमित्तिक की पीछे अवस्था होती है जब सोनगढ़ ने उससे उलटा ही अर्थ किया कि नैमित्तिक के पीछे पीछे निमित्त की अवस्था होती हैं। रेल गाड़ी के पीछे पेसेन्जर का गमन होता है या पेसेन्जर के पीछे रेल गाड़ी का गमन होता है शान्ति से विचारिये। मेरी बात रह जावे आचार्य की बात न रहे। इससे विशेष अनन्तानुबन्धी कषाय क्या करती होगी? आचार्य के अनुयायी कहां रहा? केवल आचार्य के नाम के पीछे अपना मत चलाना है।—इससे विशेष मिथ्यात्व और क्या करता होगा?

समयसार ग्रन्थ गाथा नम्बर १३२ से १२४ में लिखा है कि—

पुग्गल कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयम परिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥१२३॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोह भावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा॥ १२४॥

अर्थ—पुद्गल कर्म जो क्रोध है वह जीव को क्रोध रूप परिणमन कराता है, ऐसा तू माने तो यह प्रश्न होता कि स्वयं न परिणमते हुये उस जीव को क्रोध कैसे परिणमन करा सकता है ? अथवा यदि आत्मा अपने आप क्रोध भाव से परिणमता है, ऐसी तेरी बुद्धि हो, तो क्रोध, जीव को क्रोध रूप परिणमन कराता है, यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है।

जिस जीव को आचार्य देवे यह गाथा किस अभिप्राय से लिखी है उनका ज्ञान नहीं है वह जीव ऐसा अर्थ करते हैं कि निमित्त कुछ नहीं करता, मैं अपनी योग्यता से कषाय रूप परिणमन कर जाता हूं। ऐसी मान्यता के कारण उसने निमित्त कुछ कर सकता है यह ज्ञान का नाश कर दिया ? किन्तु हे भाई ? यह गाथा तो साँख्य मत के अनुयायी को समझाने के लिये हैं क्योंकि वह जीव आत्मा को त्रीकाल शुद्ध मानते हैं अर्थात् कुटस्थ मानते हैं। यह गाथा जैन मत के अनुयायी के लिये नहीं। जैन मत के अनुयायी जानते हैं कि विभाव पराश्रित होता है। स्वभाव स्वाश्रित है। यदि स्व आश्रित विकार होवे तो मुक्त आत्माओं भी स्वाश्रित विकार कर संसार में वापिस आ सकता है, जैसे वेदान्तादि मत वाले मानते हैं। यह दोष आजावेगा।

समयसार में गाथा नम्बर ३१९ में लिखा है कि सम्यग्दृष्टि जीव को कर्म चेतना, कर्मफल चेतना नहीं है किन्तु केवल ज्ञान चेतना है, यह पढ़कर अज्ञानी जीव खान पान रूपि पाप क्रिया करने में भी अपने को बन्ध नहीं पडता, ऐसा मानकर निर्गल पाप में ही प्रवृति करते हैं

और "ज्ञानी के भोग निर्जरा के हेतु है" ऐसा कहीं स्वच्छन्द वृति पोषी अपना ही अहित कर जाते हैं।

ण वि कुव्वई ण वि वेयइ णाणी कम्माइ बहुपयाराई।
जाणइ पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पापं च ॥३१६॥

अर्थ—ज्ञानी बहुत प्रकार के कर्मों को न तो करता है और न भोगता ही हे, किन्तु पुण्य और पाप रूप कर्मबन्ध को तथा कर्म फल को जानता है।

टीका—ज्ञानी कर्म चेतना रहित होने से स्वयं अकर्ता है और कर्मफल चेतना रहित होने से स्वयं अभोक्ता है, इसलिये वह न कर्म को तो करता है और न भोगता हैं, किन्तु ज्ञान चेतना मय होने से मात्र ज्ञाता ही है इसलिये वह शुभ अथवा अशुभ कर्मबन्ध को तथा कर्मफल को मात्र जानता ही है।

यह गाथा पढ़कर नय विवक्षा को न जानकार जीव पाप में निशंक प्रवृति करते भी अपने को अबन्ध मानते हैं। यह गाथा तो श्रद्धा की अपेक्षा लिखि है अर्थात ज्ञानी सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने को ज्ञायक स्वभावी मानते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञान राग को राग रूप जानता ही न हो। हेय उपादये ज्ञान में ही होता है श्रद्धा में हेय उपादये नहीं है। श्रद्धा तो अखन्ड अनादि अनन्त वस्तु स्वभाव की होती है।

पुण्य भाव को हेय भी कहा है और कथंचित उपादेय भी कहा है। पुण्य भाव करने का निषेध नहीं है, किन्तु पुण्य भाव को मोक्ष मार्ग मानने का निषेध किया है। पुण्य को मोक्ष मार्ग में उपादेय न मानकर वाधक मानना चाहिये।

जिस गुणस्थान में जो आत्मा है उस गुणस्थान में उसके अनुसार यदि पुन्य भाव नहीं करोगे तो उस गुणस्थान से नियम से गिर जावेगा इस अपेक्षा से पुन्य भाव को हस्त अवलम्बन रूप भी कहा है और यदि पुण्य भाव में अटक जावेगा उनको छोड़ेगा नहीं, तो आगे के गुणस्थान

गें नहीं जा सकता है, इस अपेक्षा आगे बढ़ने के लिये वही पुण्य भाव हेंय ही हैं। ऐसा न मानकर पुण्य को छोड़ देवेगा तो नियम से पाप में रहोगे इससे तो अपना खुद का ही बुरा हो जावेगा।

देखिये समयसार कलश में क्या कहा है ?

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या
मिह निहितपदानां हंत हस्तावलंबः ॥
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित् ॥५॥

अर्थ—जो व्यवहार नय है वह यद्यपि इस पहली पदवी में (जब तक वीतराग भाव की प्राप्ति न हो तब तक जिन्होंने अपना पैर रखा है (अपने अपने गुणस्थान के अनुसार) ऐसे पुरुषों को अरेरे ! हस्तावलम्बन तुल्य कहा है, तथापि जो पुरुष चैतन्य चमत्कार मात्र, पर द्रव्य भावों से रहित (शुद्ध नयके विषय भूत) परम "अर्थ" को अन्तरंग में अवलोकन करते हैं उसकी श्रद्धा करते हैं तथा उस रूप लीन होकर चारित्र भाव को प्राप्त होते है उन्हें यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है।

पद के अनुसार पुण्य भाव करते हुये भी ज्ञानी वह पुन्य भाव को अच्छा नहीं मानते है वन्धकाही कारण मानते हैं। पुन्य भाव करते समय भी पुण्य में आनन्द नहीं है किन्तु जितने समय पाप से बच गये उस निवृति रूप भाव में आनन्द मानते हैं। अज्ञानी पुण्य में आनन्द मानते हैं यही ज्ञानी अज्ञानी में अन्तर है

करणानुयोग—चौथे गुणस्थान से ही ज्ञान चेतना का प्रारम्भ मानते हैं अर्थात् जितने अंश में राग छुट गया है वह संवर निर्जरा रूप भाव ज्ञानचेतना है और साथ में जितने राग रूप भाव हैं यह कर्मफल चेतना के भाव हैं। मिस्र धारा दसवां गुणस्थान तक चली जातीं हैं ग्यारवे बारवे गुणस्थान में केवल ज्ञान चेतना ही है।

एसो पसत्थ भुदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥२५४॥

अर्थ—यह प्रशस्त राग रूप प्रवृति मुनि अवस्था में गौण हैं. और गृहस्थों के लिये तो मुख्य होती है, ऐसा (शास्त्रों में) कहा है, उसी से (परम्परा से) गृहस्थ परम सौख्य को प्राप्त होता है।

टीका—इस प्रकार शुद्धात्मानुसारयुक्त प्रशस्त चर्यारूप जो यह शुभोपयोग वर्णित किया गया है वह यह शुभोपयोग शुद्धात्मा की प्रकाशक सर्व विरति को प्राप्त श्रमणों के कषाय कण के सद्भाव के कारण प्रवर्तित होता हुआ, गौण होता है, क्योंकि वह शुभोपयोग शुद्धात्म-परिणति से विरुद्ध राग के साथ सम्बन्धवान है, और वह शुभोपयोग गृहस्थों के तो सर्वविरति के अभाव से शुद्धात्म प्रकाशन का अभाव होने से कषाय सद्भाव के कारण प्रवर्तमान होता हुआ भी मुख्य है, क्योंकि—जैसे इन्धन को स्फटिक के सम्पर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है, उसी प्रकार गृहस्थ को राग के संयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है, और क्रमशः परम निर्वाण सौख्य का कारण होता है।

द्रव्यानुयोग मिश्र भाव मानता ही नहीं है जिससे वह दशवां गुणस्थान तक कर्म चेतना मानता है, बारहवें गुणस्थान में ज्ञान चेतना मानता है। एक समय में एक ही पर्याय होगी। यदि राग है तो वीत राग नहीं है. और वीत राग है तो राग नहीं है। इससे ऐसा मत मान लेना कि चौथे गुणस्थान से ज्ञान चेतना का प्रारम्भ नहीं होता। यह तो कथन करने की रीति है। द्रव्यानु योग को मुख्य करे तव करणानुयोग गौण हो जाता है, और करणानुयोग से कथन करे तव द्रव्यानुयोग गौण हो जाता है किन्तु निषेध नहीं करता है। यदि निषेध करते हैं तो एकान्त मिथ्यादृष्टि हैं। देखिये प्रवचनसार गाथा ४२

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स।
णाणं ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता ॥४२॥

अर्थ—ज्ञाता यदि ज्ञेय पदार्थ रूप परिणमित होता हो तो उसके क्षायिक ज्ञान होता ही नहीं, जिनेन्द्र देवों ने उसे कर्म को ही अनुभवं करने वाला कहा है।

टीका—यदि ज्ञाता ज्ञये पदार्थ रूप परिणमित होना हो, तो उसे सकल कर्मवन के क्षय से प्रवर्तमान स्वाभाविक जानने का कारण (क्षायिक ज्ञान) नहीं है, अथवा उसे ज्ञान ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ रूप से परिणति के द्वारा मृगतृष्णा में जलसमूह की कल्पना करने की भावना वाला वह (आत्मा) अत्यन्त दुःसह कर्म भार को ही भोगता है ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है।

जिनागम में अनेक अपेक्षा के कथन हैं इतना नहीं किन्तु अनेक उपचार के भी कथन हैं। यह कथन को उपचार रूप जानना और मानना चाहिये किन्तु आगम में जो लिखा है वही सत्र सत्य ही है ऐसा मानने वाले जीव कल्याण के पथ पर कभी नहीं आ सकते हैं। परीक्षा प्रधानी बनना चाहिये केवल आज्ञा प्रधानी नहीं रहना चाहिये।

निश्चय नय भी अनेक प्रकार के हैं एवं व्यवहार नय भी अनेक प्रकार के हैं उनको ठीक समझने की कोशिश करना और तत्त्वका निर्णय यथार्थ करलेना वही सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन है। इस ग्रन्थ की रचना मैंने कुन्द कुन्द स्वामी के इन पाँच ग्रन्थों से संग्रह करके किया है। पंचास्तिकाय, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड। इसका अध्यन करने से पांचों ग्रन्थों का अध्यन हो जावेगा। किस ग्रन्थ से कौन सी गाथा ली है उसकी सूची प्रथक दी गई है।

यह शास्त्र हमने केवल धर्मानुराग से संग्रह किया है और कोई मान प्रतिष्ठा की भावना अंश मात्र भी नहीं है। लाख बात की एक

बात राग द्वेष छोड़ना, वही मोक्ष मार्ग है, वही शान्ति का मार्ग है और शेष सब उन्मार्ग हैं।

ब्रह्मचारी मूलशंकर देसाई
मुरादाबाद कार्तिक शुदि एकम
वीर निर्वाण संवत् २४६०

गुरू भक्ति

मुनिश्वर वन्दो मन धरि भाव...टेक
पंचमहाव्रत आदरेजी, सुमति धरे मुनि पंच,
पंच हु इन्द्रिय जीत के जी, रहे बिना परपंच...मुनि।
षट आवश्यक नित्य करे जी, जीव दया प्रतिपाल,
सोवें पश्चिम रयन में जी, शुद्ध भूमि लघु काल...मुनि।
स्नान विलेपन ना करेजी, नग्न रहै निरधार,
केशलोंचे एकान्तसु जी, एक ही वेर आहार...मुनि।
दोष छीयालीस टाल के जी, लेवही शुद्ध आहार,
श्रावक को कुल जानके जी, जल अंचवे तिहीबार...मुनि।
स्थिर रहै लघु भोजन करेजी, तजै दन्तवन काज,
ये पाले निरदोष सो जी, सो कहिये ऋषिराज...मुनि।
दोष लगे प्रायश्चित करैजी, धरे शु आतम ध्यान,
सोधे निज परिणाम को जी, सो संयमी परधान...मुनि।
महा तपश्या व्रत करे जी, जिते परिषह घोर,
बीस दोय बहु भेदसों जी, काय कसे अति जोंर...मुनि।
निर्मल कर निज आतमा जी, चढ़े श्रेणी शुक्ल ध्यान,
भैया ते निश्चय सहि जी, पावहि पद निरवान...मुनि।

॥ इति ॥

विषय सूचि

उतरार्ध खण्ड

कर्त्ता कर्म अधिकार

शुद्धि पत्र

पूर्वार्ध

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	७	धातिकर्म	घातिकर्म
७	१९	ज्ञानधन	ज्ञानघन
६	५	पर्याप्त	पर्याय
१८	६	अस्तत्व	अस्तित्व
७३	१८	काशक	प्रकाशक
१३४	१७	नह्ा	नहीं
१३४	१८	दंदन	वंदन
१४८	२४	परिनदवले	परिस्पन्द वाले
१५१	२२	नहीं के	उन्हीं के
१७०	२२	अथधा	अथवा
१७३	१०	अम्त मुडुत	अन्तमुहूर्त
१७६	५	स्वभाध	स्वभाव

उत्तरार्ध

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	१४	पुङ्गल	पुद्गल
५	१६	भाव्य	भाव
७	८	अश्रित	आश्रित
८	२०	आन्ममयना	आत्ममयता
१३	१८, १६	गगन	गमन
२३	१०	मेत्र	मेब
३७	६	रूप	रूक
४४	१५	सम्याज्ञान	सम्यक्ज्ञान
६६	२१	भुमुक्षुओ	मुमुक्षुओं
१०६	१४	मूमिका	भूमिका

* ॐ *

卐 श्रीमद् कुन्द कुन्दाचार्य प्रणीत 卐

पंचरत्नसार

श्री मंगलाचरणम्

एस सुरासुरमणुसिदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं ।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥१॥

अर्थ—यह मैं जो सुरेन्द्रों असुरेन्द्रों और नरेन्द्रों से वंदित हैं तथा जिन्होंने घातिकर्म मल को धो डाला है ऐसे तीर्थ रूप और धर्म के कर्त्ता श्री वर्धमान स्वामी को नमस्कार करता हूँ।

छह द्रव्य के नाम अर्थात् तत्वार्थ

जीवापोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं ।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥२॥ नि०

अर्थ—जीव पुद्गलकाय धर्म अधर्म काल और आकाश यह तत्त्वार्थ कहे हैं, जोकि विविध गुणपर्यायों से संयुक्त है।

पंचास्तिकाय का स्वरूप

जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आगासं ।
अत्थित्तम्हि य णियदा अणाण्णमइया अणुमहंत्ता ॥३॥

अर्थ—जीव पुद्गलकाय धर्म अधर्म तथा आकाश अस्तित्व में नियत (अस्तित्व से) अनन्यमय और अणुमहान बहुप्रदेसी हैं।

एदे छद्दव्वाणिय कालं मोत्तूण अत्थिकायत्ति।
णिद्दिट्ठ जिणसमये काया हु बहुप्पदेसत्तं ॥४॥

अर्थ—काल छोड़कर इन छह द्रव्यों को (अर्थात् शेष पाँच द्रव्यों को) जिन समय में (जिन दर्शन में) अस्तिकाय कहे गये हैं। बहु प्रदेसीपना वह कायत्त्व है।

आगम का स्वरूप

तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ॥५॥ नि.

अर्थ—(केवल ज्ञानी) उनके मुख से निकली हुई वाणी जो कि पूर्वा पर दोष रहित और शुद्ध है, उसे आगम कहा है उसके द्वारा भी तत्त्वार्थ कहे हैं।

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी ॥६॥ अ.

अर्थ—सूत्र का अर्थ है सो जिन सर्वज्ञ देव द्वारा गया कहा है। बहुरि सूत्र विषै अर्थ हैं सो जीव, अजीव आदि बहुत प्रकार हैं तथा हेय त्यागने योग्य (आस्रव बंध) और अहेय, पदार्थ त्यागने योग्य नहीं ऐसा (संवर-निर्जरा-मोक्ष) या अहेय जाने सो सम्यग्दृष्टि है।

जिन सूत्र व्यवहार परमार्थ रूप

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो।
तं जाणिउण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं ॥७॥ अ.

जो जिन भगवान से कह गये व्यवहार नय निश्चनय (परमार्थ) को जानता है वही योगी ज्ञानी, रागादि तथा कर्ममल का नाश करके सुख को प्राप्त करता है।

व्यवहार कथन और परमार्थ कथन में अन्तर

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सि दो खलु समादिट्ठी हवदि जीवो ॥८॥ स.

अर्थ—व्यवहारनय (का कथन) अभूतार्थ है और शुद्धनय (का कथन) भूतार्थ है, ऐसा ऋषीश्वरों ने बताया है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।

टीका—व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ हैं, इसलिये वह अविद्यमान असत्य को प्रगट करता है। शुद्ध नय एक ही भूतार्थ होने से विद्यमान सत्य भूत अर्थ को प्रगट करता है। इसलिये जो शुद्ध नय का आश्रय करता है वे ही सम्यक् अवलोकन करने से सम्यक्दृष्टि है दूसरे सम्यक्दृष्टि नहीं हैं।

भावार्थ—द्रव्य अखण्ड, अभेद, अनादि अनन्त है अर्थात् जिसमें गुण गुणी का भेद नहीं है। गुण पर्याय का भेद नहीं है। भूत, भविष्य, वर्तमान काल का भेद नहीं है। अपनी अनन्त पर्याय सहित है ऐसा निश्चयनय कहते हैं और व्यवहारनय उनमें भेद के कथन करता है अर्थात् गुण में भेद करता है। पर्याय में भेद करता है। भूत, भविष्य, वर्तमान काल के भेद डालता है वह कल्पना मात्र है परमार्थ से द्रव्य अभेद ही है। इसलिये भेद कथन असत्यार्थ हैं। अभूतार्थ हैं इसलिये श्रद्धा करने योग्य नहीं है। क्योंकि वस्तु में भेद नहीं है। श्रद्धा का विषय अभेद अखण्ड द्रव्य स्वभाव है और पर्याय से जब वह शुद्ध हो जाता है तब वह पर्याय से भी अभेद अखण्ड हो जाता है। द्रव्य दृष्टि से विचार

किया जावे तो वह अनादी अनन्त शुद्ध है यह शुद्ध निश्चयनय का कथन है। कि –

उदयति न नय श्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मोयाति निक्षेपचक्रम् ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि–
न्ननुभवमुपयाते याति न द्वैतमेव ।।९।। क.

अर्थ—आचार्य शुद्ध नय का अनुभव करके कहते हैं कि इन समस्त भेदों को गौंण करने वाला जो शुद्ध नय का विषय भूत चैतन्य चमत्कार मात्र तेजः पुञ्ज आत्मा है उसका अनुभव होने से नयों की लक्ष्मी उदित नहीं होती। प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है सो हम नहीं जानते। इससे अधिक क्या कहें? द्वैत हीं प्रतिभासित नहीं होता।

निश्चय नय का स्वरूप

जो पस्सदि अप्पाणं अबुद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ।।१०।। स.

अर्थ—जो नय आत्मा को बन्ध रहित और पर के स्पर्श रहित अन्यत्व रहित चला चल रहित विशेष रहित अन्य के संयाग से रहित ऐसे पाँच भाव रूप से देखता है उसे हे शिष्य तू शुद्ध नय जान।

टीका – निश्चय से अबद्ध अस्पृष्ट अनन्य नियत अविशेष और असंयुक्त ऐसे आत्मा की अनुभूति शुद्ध नय है और वह अनुभूति आत्मा ही है, इस प्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है।

निश्चयनय अखण्ड अभेद ही दिखाता है

न हि विद्धति बद्ध स्पृष्ट भावाद्योमी
स्फुटमुपरितरं तोष्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमान समन्तात्
जगदपगत मोही भूय सम्यक्त्वभावं ।।११।।

अर्थ—जगत के प्राणियो ? इस सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो कि जहाँ वह बद्ध स्पृष्ट भाव स्पष्टतया उस स्वभाव के ऊपर तरते हैं तथापि वे (उसमें) प्रतिष्ठा नहीं पाते। क्योंकि द्रव्य स्वभाव तो नित्य है। एक रूप है और यह भाव अनित्य है। अनेक रूप है पर्याय द्रव्य स्वभावों में प्रवेश नहीं करती ऊपर ही रहती है। यह शुद्ध स्वभाव सर्व अवस्थाओं में प्रकाशमान है। ऐसे शुद्ध स्वभाव का मोह रहित होकर जगत अनुभव करे, क्योंकि मोह कर्म के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्वरूपी अज्ञान जहाँ तक रहता है वहाँ तक अनुभव यथार्थ नहीं होता।

ज्ञायक स्वभाव में कोई और कुछ नहीं है

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।
एवं भणंति शुद्धं णाओ जो सो दु सो चेव ॥१२॥ स.

अर्थ—जो ज्ञायक भाव है वह अप्रमत भी नहीं और प्रमत भी नहीं है। इस प्रकार इसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञायक रूप से ज्ञात हुआ वह तो वही है अन्य कोई नहीं।

उसी द्रव्य में जब व्यवहार नय से कथन किया जावे तब अखण्ड द्रव्य में कल्पना द्वारा भेद कर के कथन करना उसी कथन का नाम व्यवहार नय कथन है। परमार्थ से विचार किया जावे। देखा जाय तो द्रव्य में भेद नहीं है

केवल बोलने मात्र ही है जिससे वह बोलना अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, श्रद्धा करने योग्य नहीं है।

व्यवहार से आत्मा में भेद पाया जाता है

ववहारे णुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तं दसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धा ॥१३॥

अर्थ—ज्ञानी के चारित्र दर्शन ज्ञान यह तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं, निश्चय से ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है, और दर्शन भी नहीं है, ज्ञानीं तो एक शुद्ध ज्ञायकही है।

उसी प्रकार पर्याय में भी निश्चयनय और व्यवहारनय से कथन किया जाता है। जितने अंश में पर्याय शुद्ध होती जाती है उसी पर्याय को शुद्ध कहना यही निश्चयनय का कथन है जितने अंश में पर्याय अशुद्ध है उसी को शुद्ध बोलना वह व्यवहारनय का कथन है। अर्थात् जितने अंश से पर्याय शुद्ध हुई है उस शुद्धता को निश्चय मोक्ष मार्ग बोला जाता है जो परमार्थ है. सत्यार्थ है, भूतार्थ है, किन्तु जो पर्याय अशुद्ध है उस अशुद्ध पर्याय को मोक्ष मार्ग बोलना व्यवहारनय का कथन है। अशुद्ध पर्याय परमार्थ से मोक्ष का मार्ग नहीं है अपितु बन्ध मार्ग है। बन्ध मार्ग को मोक्ष मार्ग बोलना उपचार-व्यवहार है वह कथन श्रद्धा करने योग्य नहीं है। जिससे व्यवहारनय का कथन हेय है। श्रद्धा करने योग्य नहीं है। पुण्य भाव को पुण्य बन्ध या बन्ध मार्ग बोलना निश्चयनय का कथन है और पुण्य भाव को मोक्ष मार्ग बोलना वह व्यवहारनय का कथन है। इससे ऐसी श्रद्धा करनी चाहिये कि निश्चयनय का कथन श्रद्धा करने योग्य है किन्तु व्यवहारनय का कथन श्रद्धा करने योग्य नहीं है। निश्चय द्वारा व्यवहार कथन का निषेध करना चाहिये। अतः श्रद्धान

रखना चाहिये कि निश्चयनय शुद्धनय ग्रहण करने योग्य है त्यागने योग्य नहीं है।

निश्चयनय ग्रहण करने योग्य है

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो नहि।
नास्ति बंधस्तदत्यागात्तत्यागाद् वंध एव हि ॥१४॥

अर्थ—यहाँ यह तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है, क्योंकि उसके अत्याग से (कर्म का) बन्ध नहीं होता और उसके त्याग से बन्ध ही होता है।

व्यवहारनय निषेध करने योग्य है

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निवध्नन्धृतिं
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम्।
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः
पूर्वं ज्ञान धनौधमकमचलं पश्यंति शांतमहः ॥१५॥

अर्थ—धीर (चलाचल रहित) और उदार जिसकी महिमा है ऐसे अनादि निधनज्ञान में स्थिरता को बांधता हुआ शुद्धनय जो कि कर्मो का समूल नाश करने वाला है, पवित्र धर्मात्मा (सम्यग्दृष्टि) पुरुषों के द्वारा कभी भी छोड़ने योग्य नहीं है। शुद्धनय में स्थित वे पुरुष बाहर निकलती हुई अपनी ज्ञान किरणों के समूह को अल्पकालमें ही समेट कर पूर्ण ज्ञान धन के पुञ्ज रूप एक अचल शांत तेज पुञ्ज को देखते हैं, अर्थात् अनुभव करते हैं। व्यवहारनय का (कथन) त्यागने योग्य है। निषेध करने योग्य है, क्योंकि वह असत्यार्थ है।

निश्चय द्वारा व्यवहार निषेध करो

एवं ववहारणोओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण ।
णिच्छयणया सिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ।।१६।।

अर्थ—इस प्रकार (पराश्रित) व्यवहारनय निश्चयनय के द्वारा निषिद्ध जान, निश्चयनय के आश्रित मुनि निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

इससे सिद्ध हुआ कि मुमुक्षु जीवों को केवल निश्चयनय का ही कथन श्रद्धा करने योग्य है, व्यवहारनय का कथन श्रद्धा करने योग्य नहीं है। मोक्ष मार्ग में केवल निश्चयनय शुद्धनय की महिमा है।

शुद्धनयकी महिमा

द्रव्यान्तरव्यक्तिकरादपसारितात्मा—
सामान्यवज्जित् समस्तविशेषजातः ।
इत्येण शुद्धनयउद्धतमोहलक्ष्मी—
लुण्टाक उत्कृष्ट विवेक विविक्त तत्वः ।।१७।।

अर्थ—जिसने अन्य द्रव्य से भिन्नता के द्वारा आत्मा को एक ओर हटा लिया है तथा जिसने समस्त विशेषों के समूह को सामान्य में लीन किया है, ऐसा जो यह उद्धत मोह की लक्ष्मी को लूटने वाला शुद्धनय है उसने उत्कृष्ट विवेक के द्वारा तत्त्व को व्यक्त किया है :—

व्यवहारनय का कथन अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, श्रद्धा करने योग्य नहीं है, तोभी जो जीव व्यवहारनय के कथन को सत्य मानता है, परमार्थ मानता है "श्रद्धा करने योग्य है" ऐसा मानता है उस जीव को वीतरागकी वाणी में अज्ञानी अप्रतिबद्ध मिथ्यादृष्टि कहा है।

द्रव्य का लक्षण

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं ।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥१८॥

अर्थः—स्वभाव को छोड़े बिना जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य संयुक्त है तथा गुणयुक्त और पर्याय सहित हैं, उसे द्रव्य कहते हैं ।

भावार्थ—अपनी पूर्व पर्याय से व्यय उत्तर पर्याय से उत्पाद और दोनों अवस्था में ध्रौव्य । ऐसा उत्पाद व्यय ध्रौव्यता में प्रदेश भेद नहीं है तीनों तन्मय एक रूप ही हैं । द्रव्य का उत्पादादि के साथ एवं गुण पर्याय के साथ लक्ष्य-लक्षण भेद होने पर भी स्वरूप भेद नहीं है । स्वरूप से ही द्रव्य वैसा (उत्पादादि एवं गुण पर्याय वाला) है ।

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया ।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिबक्खा हवदि एक्का ॥१९॥

अर्थ—सत्ता, उत्पाद, व्यय ध्रौव्यात्मक है, एक सर्वपदार्थ स्थित सविश्वरूप अनंतपर्यायमय और सप्रतिपक्ष है ।

दवियदि गच्छदि ताइंताइं सब्भावपज्जयाइं जं ।
दवियं त भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो ॥२०॥

अर्थ—उन उन सद्‌ भाव पर्यायों को जो द्रवित होता है, प्राप्त होता है उसको (सर्वज्ञ) द्रव्य कहते हैं, जोकि सत्ता से अनन्य भूत है ।

दव्वं सल्लक्खणयं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥२१॥ पं.

अर्थ—जो सत् लक्षण वाला है, जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य संयुक्त है, अथवा जो गुणपर्यायों का आश्रय है उसे सर्वज्ञ द्रव्य कहते हैं।

उप्पत्ती व विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया ॥२२॥ पं.

अर्थ—द्रव्य का उत्पाद या विनाश नहीं है सद्भाव है उसी की पर्यायें विनाश उत्पाद और ध्रौव्यता करती हैं।

द्रव्य और पर्याय का अनन्य भाव

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥२३॥ पं.

अर्थ—पर्याओं रहित द्रव्य और द्रव्य रहित पर्यायें नहीं होती दोनों का अनन्य भाव (अनन्यपना) श्रमण प्ररूपित करते हैं।

द्रव्य और गुणों का अनन्य भाव

दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा ॥२४॥ पं.

अर्थ—द्रव्य बिना गुण नहीं होते, गुण बिना द्रव्य नहीं होता, इसलिये द्रव्य और गुणों का अव्यतिरिक्त भाव (अभिन्न भाव) है।

द्रव्य गुण पर्याय रूप है तो भी केवल पर्याय रूप मानता है वह अज्ञानी है

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥२५॥ प.

अर्थ—पदार्थ द्रव्य स्वरूप है, द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं और द्रव्य तथा गुणों से पर्याय होतो है। पर्याय मूढ जीव परसमय (मिथ्या दृष्टि) है।

टीका—इस विश्व में जो कोई जानने में आने वाला पदार्थ है वह समस्त ही विस्तार सामान्य समुदायात्मक और आयात सामान्य समुदायात्मक द्रव्य से रचित होने से द्रव्यमय है और द्रव्य एक जिनका आश्रय है, ऐसे विस्तार विशेष स्वरूप गुणों से रचित होने से गुणात्मक है। और जो पर्यायें जोकि आयत विशेष स्वरूप हैं हैं जिनके लक्षण (ऊपर) कहे गये हैं ऐसे द्रव्य से तथा गुणों से रचित होने से द्रव्यात्मक भी हैं गुणात्मक भी हैं उसमें अनेक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्ति के कारण भूत द्रव्य पर्याय हैं। वे दो प्रकार हैं। (१) समान जातीय और (२) असमान जातीय। उसमें (१) समान जातीय वह है—जैसे कि अनेक पुदुलात्मक द्विअणुक, त्रिअणुक, इत्यादि। (२) असमान जातीय वह है जैसे कि जीव पुद्गलात्मक देव मनुष्य इत्यादि। गुण द्वारा आयात की अनेकताको प्रतिपत्ति की कारण भूत गुण पर्यायें हैं। वह भी दो प्रकार है। (१) स्वभाव पर्याय और (२) विभाव पर्याय। उसमें समस्त द्रव्यों के अपने अपने अगुरुलघु गुण द्वारा प्रति समय प्रगट होने वाली षट् स्थान पतित हानि वृद्धि रूप अनेकत्व की अनुभूति स्वभाव पर्याय है। (२) रूपादि के या ज्ञानादि के स्व पर के कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्था में होने वाले तार तम्य के कारण देखने में आने वाले स्वभाव विशेष रूप अनेकत्व की आपत्ति विभावपर्याय हैं।

वास्तव में यह सर्व पदार्थों के द्रव्य गुण पर्याय स्वभाव की प्रकाशक पारमेश्वरी व्यवस्था भली उत्तम पूर्ण योग्य है, दूसरी कोई नहीं क्योंकि बहुत से (जीव) पर्याय मात्र का अवलम्बन

करके तत्त्व की अप्रतिपत्ति जिसका लक्षण हैं ऐसे मोह को प्राप्त होते हुए परसमय होते हैं।

द्रव्य से गुण भिन्न और गुण से द्रव्य भिन्न मानने में दोष

जदि हवदि दव्वमण्णं गुणदो य गुणाय दव्वदो अण्णो।
दव्वाणंतियमधवा दव्वाभावं पकुव्वंति ॥२६॥प.

अर्थ—यदि द्रव्य गुणों से भिन्न (अन्य हो) और गुण द्रव्य से भिन्न हो तो द्रव्य की अनंतता हो अथवा द्रव्य का अभाव हो।

द्रव्य सत् स्वरूप होते हुए द्रव्य परिणामन स्वभावी है

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंवद्धो ॥२७॥ प.

अर्थ—स्वभाव में अवस्थित (होने से) द्रव्य सत् है, द्रव्य का जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित परिणाम है वह पदार्थों का स्वभाव है।

भावार्थ—पदार्थ तीनों काल रहने वाला होते हुए प्रत्येक द्रव्य अपने अपने में उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित परिणाम संयुक्त हैं अर्थात् कूटस्थ नहीं है।

उत्पाद व्यय ध्रौव्य परस्पर अविनाभी है

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥२८॥ प.

अर्थ—उत्पाद भंग (व्यय) से रहित नहीं होता और भंग बिना उत्पाद के नहीं होता, उत्पाद भंग ध्रौव्य पदार्थ बिना नहीं होता।

टीका—वास्तव में उत्पाद व्यय के बिना नहीं होता और व्यय उत्पाद के बिना नहीं होता, उत्पाद और व्यय स्थिति (ध्रौव्य) के बिना नहीं होते और ध्रौव्य उत्पाद व्यय के बिना नहीं होता।

उत्पाद व्ययध्रौव्य द्रव्य से अलग नहीं है

उप्पाद ट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥२९।प.

अर्थ—उत्पाद व्यय और ध्रौव्य पर्याय में बनते हैं पर्याय नियम से द्रव्य में ही होती है इसलिये वह सब द्रव्य हैं।

टीका—उत्पाद व्यय और ध्रौव्य वास्तव में पर्यायों पर अवलम्बित है और वे पर्यायें द्रव्य पर अवलम्बित हैं इसलिये यह सब एक ही द्रव्य है द्रव्यान्तर नहीं है।

उत्पाद व्यय और ध्रौव्य एकमेक है।

समवेदं खलु दव्वं संभव ट्ठिदिणाससण्णि दट्ठेहिं।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयां ॥३०॥ प.

अर्थ—द्रव्य एक ही समय में उत्पात, व्यय, ध्रौव्य नामक अर्थों के साथ वास्तव में एक मेक है इसलिये यह त्रितय उत्पाद व्यय ध्रौव्य) वास्तव में द्रव्य हैं।

भावार्थ—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य एक ही समय में होते प्रदेश भेद नहीं है वही ही द्रव्य है। ऐसा वस्तु का स्वभाव है।

गुण पर्याय एक द्रव्य पर्याय है

परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेवत्ति ॥३१॥ प्र.

अर्थ—सत्तापेक्षा से अविशिष्ट रूप से द्रव्य स्वयं ही गुण से गुणान्तर रूप परिणमित होता है और उससे गुण पर्यायें द्रव्य ही कही गई हैं।

टींका—गुण पर्यायें एक द्रव्य पर्याय हैं। क्योंकि गुण पर्यायों को एक द्रव्यत्व हैं। द्रव्य स्वयं ही पूर्व अवस्था से अवस्थित गुण में से उत्तर अवस्था में अवस्थित गुण रूप परिणमित होता हुआ पूर्व और उत्तर अवस्था में अवस्थित उन गुणों के द्वारा अपनी सत्ता का अनुभव करता है, इसलिये पूर्व और उत्तर अवस्था में अवस्थित गुणों के साथ अविशिष्ट सत्ता वाला होने से एक ही द्रव्य है द्रव्यान्तर नहीं है।

सर्वथा अभाव अतद्भाव का लक्षण नहीं है

जं दव्वं तण्ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो ॥३२॥

अर्थ—स्वरूप अपेक्षा से जो द्रव्य है वह गुण नहीं है और जो गुण है वह द्रव्य नहीं है यह अतद्भाव है सर्वथा अभाव अतद्भाव नही ऐसा (जिनन्द्र देव द्वारा) निर्देश किया गया है।

टीका—एक द्रव्य में जो द्रव्य है वह गुण नहीं है जो गुण है वह द्रव्य नहीं है। इस प्रकार द्रव्य का गुण रूप स न होना अथवा गुण का द्रव्य रूप से न होना अतद्भाव हैं, क्योंकि इतने से ही अन्यत्व व्यवहार सिद्ध होता है। परन्तु द्रव्य का अभाव गुण है ओर गुण का अभाव द्रव्य है ऐसा लक्षण वाला अभाव अतद्भाव नहीं है।

सत् उत्पाद को अनन्यत्व द्वारा निश्चित अर्थात् जीवही सिद्ध होता है

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वापरो भवीय पुणो।
किं दव्वत्तं पजहदि ण जहं अण्णो कहं होदि ॥३३ प्र.

अथ—जीव परिणमित होता हुआ मनुष्य देव अथवा अन्य (तिर्यंच नारकी या सिद्ध) परन्तु मनुष्य देवादि होकर क्या वह द्रव्यत्व को छोड़ देता है ? नहीं छोड़ता हुआ वह अन्य कैसे हो सकता है ? (अर्थात् वह अन्य नहीं वहका वही हैं।)

टीका—प्रथम तो द्रव्य द्रव्यत्वभूत अन्वय शक्ति को भी नहीं छोड़ता हुआ सत ही है और द्रव्य के जो पर्यायभूत व्यतिरेक व्यक्ति का उत्पाद होता है उसमें भी द्रव्यत्वभूत अन्वय शक्ति का अच्युतत्व होने से द्रव्य अनन्य ही है। जीव द्रव्य होने से और द्रव्य पर्यायों मे वर्तने से जीव नारक तिर्यंच मनुष्यत्व देवत्व और सिद्धत्व में से किसी एक पर्याय में अवश्य (परिणमित) होगा। परन्तु वह जीव उस पर्याय रूप होकर क्या द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति को छोड़ता है ? नही छोड़ता है तो वह अन्य कैसे हो सकता है, कि जिसने त्रिकोटी सत्ता (त्रिकालिक अस्तित्व) जिसके प्रगट है वह (जीव) वही न हो ? वही ही है।

द्रव्य के सत् उत्पाद और असत् उत्पाद में अविरोध अर्थात्
द्रव्य की कथन करने की शैली

एवं विहं सहावे द्व्वं द्व्वत्थपज्जयत्थेहिं।
सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भावं सदालभदि ॥३४॥ प्र.

अर्थ—ऐसा (पूर्वोक्त) द्रव्य स्वभाव में द्रव्यार्थिकनयों के और पर्यायर्थिक नयों के द्वारा सद्भाव संवन्ध और असद्भाव सम्बन्ध उत्पाद को सदा प्राप्त करता है।

टीका—इस प्रकार यथोदित (पूर्व कथित) सर्व प्रकार से निर्दोष लक्षण वाला अनादिनिधन यह द्रव्य सत् स्वभाव में उत्पाद को प्राप्त होता है द्रव्य का वह उत्पाद द्रव्य की कथनी के

समय सद्भाव सम्बन्ध है और पर्याय की कथनी के समय असद्भाव सम्बन्ध है। इसे स्पष्ट समझाते हैं:—

जब द्रव्य ही कहा जाता है, पर्यायें नहीं तब उत्पत्ति विनाश से रहित युगपत प्रवर्तमान द्रव्य को उत्पन्न करने वाली अन्वय शक्तियों के द्वारा उत्पत्ति विनाश लक्षण वाली क्रमशः प्रवर्तमान पर्यायों की उत्पादक उन उन व्यतिरेक व्यक्तियों को प्राप्त होने वाले द्रव्य को सद्भाव संबद्ध ही उत्पाद है। सुवर्ण की भाँति। जैसे सुवर्ण ही कहा जाता है बाजुबन्ध आदि पर्याय नहीं तब सुवर्ण जितनी स्थायी युगपत प्रवर्तमान सुवर्ण की उत्पादक अन्वयशक्तियों के द्वारा बाजुबंध इत्यादि पर्याय जितने स्थायी, क्रमशः प्रवर्तमान बाजुबंध इत्यादि पर्यायों की उत्पादक उन उन व्यक्तियों को प्राप्त होने वाले सुवर्ण का सद्भावसम्बद्ध ही उत्पाद है और जब पर्यायें कही जाती है द्रव्य नहीं, तब उत्पत्ति विनाश जिसका लक्षण है ऐसी क्रमशः प्रवर्तमान पर्यायों की उत्पन्न करने वाली उन उन व्यतिरेक व्यक्तियों के द्वारा उत्पत्ति विनाश रहित युगपत् प्रवर्तमान द्रव्य की उत्पादक अन्वय शक्तियों को प्राप्त होने वाले द्रव्य को असद्भावसम्बद्ध ही उत्पाद है। सुवर्ण की ही भाँति-यथा जब बाधुबंध आदि पर्यायें ही कही जाती है सुवर्ण नहीं, तब बाजुबंध इत्यादि पर्याय जितनी टिकने वाली क्रमशः प्रवर्तमान बाजुबंध इत्यादि पर्याओं की उत्पादक उन उन व्यक्तिरेक व्यक्तियों के द्वारा सुवर्ण जितनी टिकने वाली युगपत प्रवर्तमान सूवर्ण की उत्पादक अन्वय शक्तियों को प्राप्त सुवर्ण के असद्भावयुक्त ही उत्पाद है।

इसलिये द्रव्यार्थिकनय से सत् उत्पाद है और पर्यायार्थिकनय से असत् उत्पाद हैं। यह बात अनवद्य (निर्दोष) है।

एकही द्रव्य में अन्यत्व और अनन्यत्व होने में विरोध नहीं है

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो ।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥३५॥

अर्थ—द्रव्यार्थिकनय से सब द्रव्य है, और पर्यायार्थिकनय से वह (द्रव्य) अन्य अन्य है क्योंकि उस समय तन्मय होने से (द्रव्य पर्यायों से) अनन्य है।

भावार्थ—प्रत्येक द्रव्य सामान्य विशेषात्मक है। इसलिये प्रत्येक द्रव्य वहका वही भी रहता है और बदलता भी है। द्रव्य का स्वरूप ही ऐसा उभयात्मक है। इसलिये द्रव्य के अनन्यत्व में और अन्यत्व में विरोध नहीं है। जैसे मरीचि और भगवान महावीर का जीव सामान्य की अपेक्षा से अनन्यत्व है और जीव के विशेषों की अपेक्षा से अन्यत्व होने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

स्वरूप अस्तित्व का स्वरूप

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं ।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्ययधुवत्ते हिं ॥३६॥ प.

अर्थ—सर्व काल में गुण तथा अनेक प्रकार की अपनी पर्यायों से और उत्पादव्यय ध्रौव्य से द्रव्य का जो अस्तित्व है वह वास्तव में स्वभाव है।

टीका—अस्तित्व वास्तव में द्रव्य का स्वभाव है और वह (अस्तित्व) अन्य साधन से निरपेक्ष होने के कारण अनादि अनन्त होने से तथा अहेतुक, एक रूप वृत्ति से सदा ही प्रवर्तता होने के कारण विभाव धर्म से विलक्षण होने से भाव और भाववानता के कारण अनेकत्व होने पर भी प्रदेश भेद नहीं होने से द्रव्य के

साथ एकत्व को धारण करता हुआ द्रव्य का स्वभाव ही क्यों न हो ? (अवश्य होवे) गुण पर्यायों से जो द्रव्य का अस्तित्व वह स्वभाव है। द्रव्य के अस्तित्व से ही गुणों की और पर्यायों की निष्पत्ति होती है। द्रव्य न हो तो गुण और पर्यायें भी न हों। ऐसा अस्तित्व वह द्रव्य का स्वभाव है। गुण और पर्यायें न हों तो द्रव्य भी न हो ऐसा अस्तित्व वह द्रव्य का स्वभाव है। यदि द्रव्य न हो तो उत्पाद-व्यय ध्रौव्य भी न हो और उत्पाद व्यय ध्रौव्य न हो तो द्रव्य भी न हो ऐसा अस्तित्व वह द्रव्य स्वभाव है।

सादृश्य अस्तित्व का स्वरूप

इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदिति सव्वमयं ।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं ।।३७।।

अर्थ—धर्म का वास्तव में उपदेश करते हुए जिनवर वृषभ ने इस विश्व में विविध लक्षण वाले (भिन्न-भिन्न स्वरूपास्तित्व वाले सर्व) द्रव्यों का सत् ऐसा सर्वगत लक्षण (सादृश्य अस्तित्व) एक कहा है।

टीका—इस विश्व में विचित्रता को विस्तारित करते हुये अन्य द्रव्यों से भिन्न रह कर प्रवर्तमान और प्रत्येक द्रव्य की सीमा को बाँधते हुए ऐसे विशेष लक्षण भूत स्वरूपास्तित्व से (समस्त द्रव्य) लक्षित होते हैं, फिर भी सर्व द्रव्यों का विचित्रता के विस्तार को अस्त करता हुआ सर्व द्रव्यों में प्रवृत्त होकर रहने वाला और प्रत्येक द्रव्य की बन्धी हुई सीमा को अवगणना करता हुआ "सत्" ऐसा जो सर्वगत सामान्य लक्षण भूत सादृश्यास्तित्व है वह वास्तव में एक ही जानना चाहिए।

भावार्थ—प्रत्येक द्रव्य अपने अपने गुण पर्यायें हो रहता है, अन्य द्रव्य की गुण पर्याय रूप कभी नहीं होता वह जो स्वरूप

अस्तित्व है तो भी सब द्रव्य सत् रूप है वह सादृश्य अस्तित्व है अर्थात् सब द्रव्य तीनों काल अस्तिरूप है।

प्रत्येक द्रव्य अपनी गुण पर्याय से तन्मय है

दवियं ज उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहि कणयं अणण्णंमिह ॥३८॥

जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणा हि ॥३९॥

ण कुदोचिवि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचवि कारणमवि तेण ण स होइ ॥४०॥

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥४१॥

अर्थ--जो द्रव्य जिन गुणों से उत्पन्न होता है उन गुणों से उसे अनन्य जानो। जैसे जगत में कडा इत्यादि पर्यायों से सुवर्ण अनन्य है वैसे।

अर्थ—जीव और अजीव के जो परिणाम सूत्र में बताये हैं, उन परिणामों से उस जीव अथवा अजीव को अनन्य जानो।

अर्थ—क्योंकि किसी से भी उत्पन्न नहीं हुआ इसलिये वह आत्मा (किसी का) कार्य नहीं है और किसी को उत्पन्न नहीं करता इसलिये वह (किसी का) कारण भी नहीं है।

अर्थ—नियम से कर्म के आश्रय से (कर्म का अवलम्बन लेकर) कर्ता होता है और कर्ता के आश्रय से कर्म उत्पन्न होते, अन्य किसी प्रकार से कर्ता कर्म की सिद्धि नहीं देखी जाती।

टीका—प्रथम तो जीव क्रमबद्ध (क्रम पूर्वक) ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है। इसी प्रकार अजीव ही है। जीव नहीं। क्योंकि जैसे (कंकण आदि परिणामों से उत्पन्न होने वाले ऐसे) सुवर्ण का कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है उसी प्रकार सब द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य हैं। इसी प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है। तथापि उसका अजीव के साथ कार्य कारण भाव सिद्ध नहीं होता। क्योंकि सर्व द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है। उसके (कारण कार्य भाव के) सिद्ध न होने पर अजीव के जीव का कर्मत्व सिद्ध नहीं होता और उसके (अजीव के जीव के कर्मत्व) सिद्ध न होने पर कर्ता कर्म की अन्य किसी अपेक्षा से सिद्ध न होने से जीव के अजीव का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। इसलिये जीव अकर्ता सिद्ध होता है।

भावार्थ—जीव का अपनी ही पर्याय के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होने से जीव कर्ता है और उसकी पर्याय जीव का ही कर्म है। उसी प्रकार अजीव द्रव्य कर्ता है और उसकी पर्याय अजीव द्रव्य का ही कर्म है। जीव पुद्गल की अवस्था का कर्ता कभी नहीं हो सकता है। कर्ता कर्म एक ही प्रदेश में होता है। जहाँ प्रदेश भेद है वहाँ कर्ता कर्म सम्बन्ध नहीं हैं ऐसा वस्तु का स्वभाव है।

पर्याय क्रम पूर्वक अर्थात् एक के पीछे एक ही होती है। जिस कारण संस्कृत टीका में आचार्य देव ने "तावत्क्रम नियमिता" शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु "तावत्क्रम नियमिता" का अर्थ कुछ विद्वज्जन इस प्रकार करते हैं कि "सर्व द्रव्यों की पर्याय

क्रमबद्ध है" अर्थात् जिस काल में जो पर्याय होने वाली ही है वह ऐसी ही होगी। उस पर्याय को कोई बदल नहीं सकता" इस मान्यता से पुरुषार्थ का नाश हो जाता है। वीतराग वाणी में कोई भी कथन 'एकान्तिक नहीं है अर्थात् ऐसा ही है' 'ऐसा नहीं है' किन्तु अपेक्षा सहित ही कथन होता है अर्थात् ऐसा भी है और वैसा भी है" जहाँ एकान्त कथन है वह कथन वीतराग शासन का कभी नहीं हो सकता। यदि पर्याय क्रमबद्ध ही होती है तो आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने पुरुषार्थ करने का आदेश क्यों दिया ?

पुरुषार्थ से ही सिद्धि

भूतंभांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधसुधो
र्मद्यंतः किदं काऽप्यहो कलयति व्याहत्यमोहं हठात्।
आत्मा आत्मानुभवैक गम्य महिमा व्यक्तोदयमास्ते ध्रुवं
नित्ये कर्म कलङ्कपङ्क विकलो देव स्वयं शाश्वतः ॥४२॥

अर्थ—यदि कोई सुबुद्धि (सम्यग्दृष्टि) जीव-भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल में कर्मों के बन्धको अपने आत्मा से तत्काल शीघ्र भिन्न करके तथा उस कर्मों के निमित्त से होने वाले मिथ्यात्व (अज्ञान) को अपने बल से (पुरुषार्थ से) रोककर अथवा नाश करके अन्तरङ्ग में अभ्यास करे तो यह आत्मा अपने अनुभव से ही जानने योग्य जिसकी प्रगट महिमा है ऐसा व्यक्त (अनुभव गोचर) निश्चल, शाश्वत नित्य-कर्मकलङ्क-कर्द्दम से रहित स्वयं स्तुति करने योग्य देव विराजमान है।

पुरुषार्थ करने की प्रेरणा

पदमिदं ननु कर्म दुरासदं सहज बोध कला सुलभं किल।
तदिदं निज बोध कला बलात् कलयितुं यततां सततं जगत् ॥४३॥

अर्थ—यह (ज्ञान स्वरूप) पद कर्मों से वास्तव में दुरासद्व (दुष्प्राप्य) है और सहज ज्ञान की कला के द्वारा वास्तव में सुलभ है इसलिये निज ज्ञानकी कला के वल से इस पद को अभ्यास करने के लिये (अनुभव करने के लिये) जगत् ? सतत प्रयत्न करो।

आत्मा को प्राप्त करने की विध

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥४४॥

अर्थ—जिसने मोह को दूर कर दिया है और आत्मा के सम्यक् तत्व को प्राप्त किया है ऐसा जीव यदि राग द्वेष को छोड़ता है तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है।

टीका—इस प्रकार जिस उपाय का स्वरूप वर्णन किया गया है उस उपाय के द्वारा मोह को दूर करके भी सम्यक् आत्म तत्व को (यथार्थ स्वरूप को) प्राप्त करके भी यदि जीव राग द्वेष को निर्मूल करता है तो शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है। किन्तु यदि पुनः पुनः उनका अनुसरण करता है (राग द्वेष रूप परिणमन करता है) तो प्रमाद के आधान होने से शुद्धात्म तत्व के अनुभव रूप चिन्तामणि-रत्न के चुराये जाने से अन्तरङ्ग में खेद को प्राप्त होता है। इसलिये मुझको राग-द्वेष को दूर करने के लिये अत्यन्त जागृत रहना चाहिये।

आत्मा को प्रयत्न करि जानो

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण ।
जेण य लभेत मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥४५॥

अर्थ—हे भव्य जीवो ! तुम मन-वचन-काय के द्वारा आत्मा को प्रयत्न पूर्वक सर्व प्रकार से उद्यम करके यथार्थ जानो ! उसकी श्रद्धा करो प्रतीति करो उसमें आचरण करने से मोक्ष प्राप्त करोगे।

इससे सिद्ध हुआ कि पुरुषार्थ से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। जो जीव केवल क्रमबद्ध ही पर्याय मानते हैं उस जीव को भी पुरुषार्थ करने की आचार्य देव ने घोषणा की है।

जीव और पुद्गल दो द्रव्य विकारी परिणमन कर सकते हैं। पर द्रव्य के साथ में संयोग सम्बन्ध हुए विना विकारी अवस्था होती नही है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बंध बंधक द्रव्य में ही होता है। निमित्त के अनुकूल परिणमन करे सो नैमित्तिक है। नैमित्तिक पर्याय निमित्त के आश्रय ही प्रगट होती है। उपादान शक्ति अनेक प्रकार की होते हुए भी वह पर्याय जैसा निमित्त मिलेगा वैसी ही पर्याय प्रगट हो सकती है। ऐसा वस्तु का स्वभाव है। सिद्ध परमात्मा में रागादिक रूप परिणमन करने की शक्ति है तो भी चारित्रमोहनीय कर्म के निमित्त बिना सिद्धपरमात्मा रागरूप परिणमन नहीं कर सकता है। जीव में दो अवस्था बिकारी होती है। (१) अबुद्धि पूर्वक राग (२) बुद्धि पूर्वकरागा।

शङ्का—बुद्धि पूर्वक राग और अबुद्धि पूर्वक राग होता है ऐसा तो हमने कभी सुना भी नहीं है यह बात आपने कहाँ से निकाली आगमका प्रमाण दिखाने की कृपा करें।

समाधान—बुद्धि पूर्वक राग तो आपके ज्ञान में आता ही है वह तो प्रत्यक्ष प्रमाण है एवं निद्रावस्था में मूर्छितावस्था में अपर्याप्तावस्था में रागादिक होता है वह अबुद्धि पूर्वक राग है जो अनुमान ज्ञान का विषय है। इससे यदि संतोष न होवे और केवल आगम के ही प्रमाण से यदि संतोष हो तो देखिये–समय सारग्रन्थ की गाथा नं० १७२ एवं उसकी टीका—

दसणणाण चरित्तं जे परिणमदे जहण्णभावेण ।
णाणी तेणदु वज्झदि पुग्गलकम्मेण विविरेण ॥४६॥

अर्थ—क्योंकि दर्शन ज्ञान चारित्र जघन्य भाव से परिणमन करतेहैं इसलिये ज्ञानी अनेक प्रकार के पुद्गल कर्म से बन्धता है।

टीका–जो वास्तव में ज्ञानी है उसके बुद्धि पूर्वक राग द्वेष मोह रूपी आस्रव भावों का अभाव है, इसलिये वह निरास्रव ही है। परन्तु वहा इतना विशेष है कि वह ज्ञानो जब तक ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट भाव से देखने जानने और आचरण करने में अशक्त वर्तता हुआ जघन्य भाव से ही ज्ञान को देखता जानता और आचरण करता है तब तक उसे भी जघन्य भाव की अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा जिसका अनुमान हो सकता है ऐसे अबुद्धि-पूर्वक कर्म कलंक के विवाद का सद्भाव होने से पुद्गल कर्म का बन्ध होता है। इसलिये तब तक ज्ञान को देखना जानना और आचरण करना चाहिए। जब तक ज्ञान का जितना पूर्ण भाव है उतना देखने, जानने और आचरण में भली भाँति आ जाये। तब से लेकर साक्षात ज्ञानी होता हुआ (वह आत्मा) सर्वथा निरास्रव ही होता है।

बुद्धि पूर्व राग छोड़ता हुआ अबुद्धि पूर्वक राग तोड़ने का कदम

सन्न्यस्यन्निज बुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं ।
वारंबार मबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्ति स्पृशन् ।
उच्छिदन्परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णोभव—
न्नात्मा नित्यनिरास्त्रवे भवतिहि ज्ञानी यदास्यात्तदा ॥४७॥

अर्थ—आत्मा जब ज्ञानी होता है तब स्वयं अपने समस्त बुद्धिपूर्वक राग को निरन्तर छोड़ता हुआ अर्थात् न करता हुआ

और जो बुद्धिपूर्वक राग हैं उसे भी जीतने के लिये बारम्बार (ज्ञानानुभवन रूप) स्वशक्ति को स्पर्श करता हुआ (इस प्रकार) समस्त परवृत्ति को परिणति को उखाड़ता हुआ ज्ञान के पूर्ण भावरूप होता हुआ वास्तव में सदा निरास्रव है।

भावार्थ—जो रागादिक परिणाम मन के द्वारा बाह्य विषयों का आलम्बन लेकर प्रवर्तते हैं और जो प्रवर्त्तते हुए जीव को निज का ज्ञान होता है तथा दूसरों को भी अनुमान से ज्ञान होते हैं वे परिणाम बुद्धि पूर्वक है और जो रागादिक परिणाम इन्द्रिय और मन के व्यापार के अतिरिक्त मात्र मोहोदय के निमित्त से होते हैं तथा जीव को ज्ञात नहीं होते हैं वह अबुद्धि पूर्वक है (यह पण्डित राजमल जी का अभिप्राय है)

उसी प्रकार पुद्गल द्रव्य में भी विकारी अवस्था दो प्रकार की होती है। (१) वैशेषिक परिणमन (२) प्रायोगिक परिणमन (देखिये श्री धवलग्रन्थ पुस्तक नम्बर १४ पृष्ट ६ भूतवली आचार्य कृत सूत्र नम्बर २०) यह बात न्याय से समझाई जाती है—

जीव में जहाँ अबुद्धि पूर्वक राग है वहाँ बुद्धि पूर्वक राग हो या न भी हो परन्तु जहाँ बुद्धि पूर्वक राग है वहाँ अबुद्धि पूर्वक राग नियम से हैं। अबुद्धि पूर्वक राग से सविपाक निर्जरा होती है। और बुद्धि पूर्वक राग से अविपाक निर्जरा होती है। अबुद्धि पूर्वक भाव में आत्मा पराधीन हैं क्योंकि वह कर्मोदय जनित है जो क्षयोपशम ज्ञान में आता हो नहीं है और बुद्धि पूर्वक राग में आत्मा स्वाधीन है जो ज्ञान में आता है। अबुद्धि पूर्वक भाव का नाम क्रमबद्ध पर्याय है और बुद्धि पूर्वक राग का नाम अक्रम पर्याय है जिसने केवल क्रमबद्ध ही पर्याय मानी है उस जीव ने अपना पुरुषार्थ का नाश किया है। यही तो मिथ्यात्व मान्यता है।

पुद्गल में जहाँ वैशेषिक परिणमन हैं वहां प्रायोगीक परिणमन हो या न भी हो किन्तु जहाँ प्रायोगिक परिणमन है वहां वैशेषिक परिणमन नियम से है। एक चार फुट लम्बा पत्थर हैं उस पत्थर में से समय समय में परमाणू निकलते हैं और नये आते हैं। वह पुद्गल की वैशेषिक क्रिया है वह तो क्रमवद्ध है। और उसी पत्थर में से मूर्ति वनवाना यह पुद्गल की प्रायोगिक क्रिया है यह अक्रम पर्याय है। निमित्त के आधीन वह परिणमन है निमित्त न मिले तो मूर्ति न बने तो भी पुद्गल की वैशेषिक परिणमन चालू है जिससे वह पुद्गल द्रव्य परिणमन विना नहीं रहता है। यह तो प्रत्यक्ष ज्ञान में आता है तो भी जिसको मानना ही नहीं है उस जीव को साक्षात् तीर्थंकर मना नहीं सकते हैं।

कुछ विद्वतजन किस अपेक्षा से क्रमवद्ध ही पर्याय सिद्ध करना चाहते हैं और उसमें कहाँ विरोध आता है वह न्याय से विचार किया जाता है या समझाया जाता है—

शङ्का—केवली परमात्मा तीनों काल की पर्याय एक समय में जानता है। केवली भगवान ने जो पर्याय देखी है वही पर्याय होगी तब पर्याय क्रमबद्ध हुई या नहीं ?

प्रतिशङ्का—केवली परमात्मा तीन काल की पर्याय देखता है वह निश्चयनय का कथन है या व्यवहार नय का कथन है ?

समाधान—केवली सर्व द्रव्यों की त्रिकाल पर्याय देखता है वह व्यवहारनय का कथन है। निश्चयनय से केवली भगवान अपने आत्मा को देखता है पर द्रव्यों की पर्याय देखता ही नहीं है। कहा भी है कि—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥४६॥

अर्थ—व्यवहार नय से केवली भगवान सब जानते हैं और देखते हैं और निश्चय से केवलज्ञानी आत्मा को (स्वयं को) जानता है और देखता है।

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं।
जइ कोई भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होई ॥४९॥

अर्थ—(निश्चयनय से) केवली भगवान् आत्मस्वरूप को देखते हैं लोकालोक को नहीं, ऐसा यदि कोई कहे तो उसे क्या दोष है ? (अर्थात् कुछ दोष नहीं है)

लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णैव केवली भगवं।
जइ कोई भणइ एवं तस्स यकिं दूसणं होई ॥५०॥

अर्थ—(व्यवहारनय से) केवली भगवान् लोका-लोक को जानते हैं आत्मा को नहीं ऐसा कोई कहे तो उसे क्या दोष है ? (अर्थात् कोई दोष नहीं है)

शङ्का—व्यवहारनय और निश्चयनय के कथन में क्या अन्तर है ?

समाधान—व्यवहारनय का जो कथन हो उसका यही अर्थ करना चाहिए कि "ऐसा है नहीं" उपचार से कथन किया है क्योंकि व्यवहारनय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है श्रद्धान करने योग्य नहीं है निश्चयनय का जो कथन है उसका यही अर्थ करना चाहिए कि "ऐसा ही है" परमार्थ है सत्य है, क्योंकि निश्चयनय सत्यार्थ है भूतार्थ है श्रद्धान करने योग्य है।

शङ्का—व्यवहारनय का पक्ष लेने वाला जीव सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि है ?

समाधान—व्यवहारनय का पक्ष लेने वाले मिथ्यादृष्टि हैं सम्यग्दृष्टि नहीं हैं।

शङ्का—केवली परमात्मा परद्रव्यों की पर्याय को देखता है वह व्यवहारनय का कथन है ऐसा व्यवहारनय अभूतार्थ असत्यार्थ है उसका आप पक्ष क्यों लेते हो ? क्योंकि व्यवहारनय का पक्ष लेने वाला तो मिथ्यादृष्टि है ?

समाधान—यदि व्यवहारनय का पक्ष न लिया जाये तो क्रम-बद्ध पर्याय सिद्ध करने के लिये और कोई युक्ति ही नहीं है और युक्ति से सिद्ध करने पर मेरी बात असत्यार्थ ही ठहरेगी जिससे व्यवहारनय का पक्ष लिया जाता है।

शङ्का—अपनी बात सिद्ध करने के लिये यदि व्यवहारनय का पक्ष लिया जाता है तब तो आप मिथ्यादृष्टि बन जाते हो तब बात सिद्ध करने से क्या लाभ ?

समाधान—मैंने जो क्रमबद्ध निरुपण किया है उस बात को अब में अस्वीकार करूँगा तो मेरा अनुयायी मुझको मिथ्यादृष्टि मानेगें ? जिससे क्या करु मेरी ही साँप छछुँदर जैसी अवस्था हो रही है। विशेष क्या कहुँ।

प्रत्येक द्रव्य अपनी अपनी अनंत पर्याय सहित अनादि अनंत है क्योंकि पदार्थ अखण्ड अनादिअनंत, अनंतगुण और अनंता-नंत पर्याय सहित है। श्रद्धा का विषय अखण्ड है और सिद्ध परमात्मा भी पर्याय से अखण्ड हो जाता है उसमें भूत-भविष्य-वर्तमान हैं ही नहीं यह तो केवल मोही जीव की कल्पना है। जैसे सौ तोला सोने का एक पिण्ड है, उसमें से जेवर (गहना) बनवाना है उसका जानकार सुनार (ज्ञानी) को पूछता है कि—

शङ्का—इस सोनो में से कौनसा जेवर बनेगा ?

समाधान—आप जो चाहेंगे वही बनेगा।

शङ्का—क्या-क्या जेवर बनेगा नाम कहो ?

समाधान—नाम क्या कहूं यह तो अनंतपर्याय का पुंज रूप है अर्थात् उसमें अनन्त जेवर (पर्याय) बनने की शक्ति है।

शङ्का—उस सोने के पिण्ड में भूत-भविष्य की पर्यायें कहाँ है?

समाधान—पदार्थ में भूत-भविष्य का भेद है ही नहीं, भूत-भविष्य तो मोही जीव की कल्पना है। परमार्थ से देखा जाये तो प्रत्येक द्रव्य अपनी अनंत पर्याय सहित है उसमें भेद क्यों करते हो? वह तो अखण्ड है।

उसी सोना में सब जेबर बनने की शक्ति है तो भी सुनार जो पर्याय बनावेगा वही पर्याय रूप सोना बन जायेगा। जेवर रूप अवस्था सुनार रूप निमित्त के आधीन है जो वह बनावेगा वही पर्याय बनेगी और नहीं क्योंकि विकार पराश्रित है।

शङ्का—क्या सुनार जेवर न बनाये तो सोना का पिण्ड अवस्था बिना रहेगा? पदार्थ का स्वभाव तो परिणमन करना है अर्थात् उत्पाद व्यय धौव्य रूप है?

समाधान—सोना का पिण्ड अवस्था बिना नहीं रहता उसकी वैशेषिक क्रिया अर्थात् पुराने परमाणु निकलते और नये परमाणु आते हैं यह अवस्था तो चालु है सोना कूटस्थ नहीं है। तो भी उसमें से जेवर बनना निमित्त के ही आधीन है, निमित्त बिना नैमित्तिक पर्याय कभी प्रगट नहीं हो सकती है। इससे सिद्ध हुआ कि पुद्गल द्रव्य में वैशेषिक क्रिया तो क्रमबद्ध है और प्रायोगिक क्रिया अक्रम है यह तो निमित्त मिले तब ही होगी।

आत्मा और ज्ञान के एकत्व और अन्यत्व का विचार

णाणं अप्पत्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं
तम्हा णाणं अप्पा-अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥५१॥

अर्थ—ज्ञान आत्मा है, ऐसा जिन देव का मत है। आत्मा के विना ज्ञान नहीं होता इसलिये ज्ञान आत्मा है और आत्मा (ज्ञान गुण द्वारा) ज्ञान है अथवा (सुखादि अन्य गुण द्वारा) अन्य है।

टीका:—क्योंकि शेष समस्त चेतन अचेतन वस्तुओं के साथ समवाय सम्बन्ध नहीं है इसलिये जिसके साथ अनादि अनंत स्वभाव सिद्ध समवाय सम्बन्ध है, ऐसा आत्मा का अति निकट-तया (अभिन्न प्रदेश रूप से) अवलम्बन करके प्रवर्तमान होने से ज्ञान आत्मा के विना अस्तित्व नहीं रख सकता इसलिये ज्ञान आत्मा ही है और आत्मा अनंत धर्मों का अधिष्ठान (आधार) है इसलिये ज्ञान धर्म के द्वारा ज्ञान है और अन्य धर्म के द्वारा अन्य भी हैं।

जीव द्रव्य अधिकार

जीव द्रव्य का गुण पर्याय

भावा जीवादीया जीवगुणा चदेणा य उवओगो।
सुरणरणारयतिरिया जीवस्स य पज्जया बहुगा ॥५२॥

अर्थ—जीवादि (द्रव्य) वे भाव है जीव के गुण चेतना तथा उपयोग है और जीव की पर्यायें देव मनुष्य नारक तिर्यंच रूप अनेक हैं।

टीका—यहाँ भावों (द्रव्यों) गुणों और पर्यायें बतलाये हैं। जीवादि छह पदार्थ वे भाव हैं। उनके गुण और पर्यायें प्रसिद्ध हैं तथापि आगे जो उदाहरण देना है उसकी प्रसिद्धि के हेतु जीव के गुणों और पर्यायों का कथन किया जाता है। जीव के गुणों ज्ञानानुभूति स्वरूप शुद्ध चेतना तथा कार्य स्वरूप और कर्मफला-नुभूति स्वरूप अशुद्ध चेतना है और चैतन्यानुविधायीपरिणाम

स्वरूप सविकल्पनिर्विकल्प रूप शुद्धता अशुद्धता के कारण सकलता विकलता धारण करने वाला दो प्रकार का उपयोग है अर्थात जीव के गुणों शुद्ध अशुद्ध चेतना तथा दो प्रकार के उपयोग हैं।

जीव की पर्याय इस प्रकार है—अगुरुलघु गुणकी हानिवृद्धिसे उत्पन्न होने वाली पर्यायें शुद्ध पर्यायें हैं और सूत्र में (इसगाथामें) कही हुई देव नारक तिर्यंच मनुष्य स्वरूप पर्याये परद्रव्य के सम्बन्ध से उत्पन्न होती है इसलिये अशुद्ध पर्यायें है।

भावार्थ—जीव द्रव्य की शुद्ध पर्याय सिद्ध पर्याय है और अशुद्ध पर्याय देव मनुष्य तिर्यंच और नारकी हैं।

जीव द्रव्य की विभाव पर्यायें

णरणारयतिरिय सुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा।
पज्जाया जीवाणं उदयादिहं णामकम्मस्स ॥५३॥

अर्थ—मनुष्य नारक तिर्यंच और देव नामकर्म के उदयादिक के कारण जीव की पर्यायें हैं जो कि संस्थानादि के द्वारा अन्य-अन्य प्रकार की होती है।

जीव द्रव्य की स्वभाव विभाव पर्यायें

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया न विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जिय पज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ॥५४॥

अर्थ—मनुष्य नारक तिर्यंच देव रूप पयायें विभाव पर्याय कही गई है, कर्मोपाधि रहित पर्यायें वे स्वभाव पर्यायें कही गई हैं।

भावार्थ—मनुष्यादि जीव द्रव्य की विभाव पर्यायें हैं और पंचम गतिरूप सिद्ध पर्याय जीव द्रव्य की शुद्ध पर्याय है।

जीव द्रव्य की स्वभाव विभाव पर्यायें

जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा।
उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्प वीचारा ॥५५॥

अर्थ—जीव दो प्रकार के हैं संसारी और सिद्ध। वे चेतनात्मक तथा उपयोग लक्षण वाले हैं। संसारी जीव देहमें वर्तनेवाले अर्थात् देह सहित है, और सिद्ध जीव देह में न वर्तनेवाले अर्थात् देह रहित हैं।

टीका—यह जीव के स्वरूप का कथन है। जीव दो प्रकार के हैं (१) संसारी अर्थात् अशुद्ध, और (२) सिद्ध अर्थात् शुद्ध। वे दोनों वास्तव में चेतना स्वभाव वाले हैं और चेतना परिणाम स्वरूप उपयोग द्वारा लक्षित होने योग्य हैं। उनमें संसारी जीव देह में वर्तने वाले अर्थात् देह सहित और सिद्ध जीव देह में न वर्तने वाले अर्थात् देह रहित हैं।

भावार्थ—संसारी जीव द्रव्य कर्म सहित हैं और सिद्ध जीव द्रव्यकर्म रहित हैं।

संसारी जीव का स्वरूप

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देह मेत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥५६॥

अर्थ—(संसार स्थित) आत्मा जीव है, चेतयिता (चेतने वाला) हैं उपयोग लक्षित है प्रभु है, कर्त्ता है, भोक्ता है, देह प्रमाण है अमूर्त और कर्म संयुक्त है।

टीका—यहाँ संसार दशा वाले आत्मा का सोपाधि और निरूपाधिस्वरूप कहा है। आत्मा निश्चय से भाव प्राण को धारण करता है, इसलिये जीव है, व्यवहार नय से द्रव्य प्राण

को धारण करता है इसलिये जीव है। निश्चय से चित् स्वरूप होने के कारण "चेतयिता" (चेतने वाला) है, व्यवहार से चित् शक्ति युक्त होने से "चेतयिता" है, निश्चय से अप्रथग्भूत ऐसे चैतन्य परिणाम स्वरूप उपयोग द्वारा लक्षित होने से "उपयोग लक्षित" है। व्यवहार से प्रथग्भूत ऐसे चैतन्यपरिणामस्वरूप उपयोग द्वारा लक्षित होने से "उपयोग लक्षित" है। निश्चय से भाव कर्मों के आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष करने में स्वयं ईश (समर्थ) होने से "प्रभु" है, व्यवहार से द्रव्य कर्मों के आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष करने में स्वयं ईश होने से "प्रभु" है। निश्चय से पौद्गलिक कर्म जिनका निमित्त है ऐसे आत्म परिणामों का कर्तृत्व होने से "कर्त्ता" है, व्यवहार से आत्म परिणाम जिनका निमित्त है ऐसे पौद्गलिक कर्मोंका कर्तृत्व होने से "कर्त्ता" है। निश्चय से शुभाशुभकर्म जिनका निमित्त है ऐसे सुख दुःख परिणामों का भोक्तृत्व होने से "भोक्ता" है, व्यवहार से शुभाशुभ कर्मों से सम्पादित (प्राप्त) इष्टा-निष्ट विषयों का भोक्तृत्व होने से "भोक्ता" है। निश्चय से लोक प्रमाण होने पर भी विशिष्ट अवगाह परिणाम की शक्ति वाला होने से नाम कर्म से रचने वाले छोटे-बड़े शरीर में रहता हुआ, व्यवहार से "देह प्रमाण" है। व्यवहार से कर्मों के साथ एकत्व परिणाम के कारण मूर्त होने पर भी निश्चय से अरूपी स्वभाव वाला होने के कारण "अमूर्त" है। निश्चय से पुद्गल परिणाम को अनुरूप चैतन्य परिणामात्मक कर्मों के साथ संयुक्त होने से 'कर्मसंयुक्त' है, व्यवहार से चैतन्य परिणाम को अनुरूप पुद्गल परिणात्मात्मक कर्मों के साथ संयुक्त होने से "कर्मसंयुक्त" है।

भावार्थ–द्रव्यकर्म, शरीर, द्रव्यप्राण का उपादान कर्त्ता पुद्गल द्रव्य है तो भी जब तक वह जीव द्रव्य का साथ में संयोग रूप

है तब तक वह जीवद्रव्य की ही अजीव तत्व रूप अवस्था है और जब जीव उनसे अलग हो जाये अर्थात् संयोग सम्बन्ध छूट जावे तब ही वह पुद्गल द्रव्य है। यदि ऐसा न माना जावे तो एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव में कोई अन्तर न रहने से जिस प्रकार एकेन्द्रियकाय भक्ष्य है ऐसे ही त्रसकाय भी भक्ष्य होजावेगा यह महान दोष आवेगा।

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणंदसणं भणिदो।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ॥५७॥

अर्थ – आत्मा उपयोगात्मक है। उपयोग ज्ञान दर्शन कहा गया है और आत्मा का वह उपयोग शुभ अथवा अशुभ होता है।

टीका—वास्तव में आत्मा परद्रव्य के संयोग का कारण उपयोग विशेष है। प्रथम तो उपयोग वास्तव में आत्मा का स्वभाव है क्योंकि वह चैतन्यानुविधायी परिणाम है। और वह ज्ञान तथा दर्शन है। क्योंकि चैतन्य साकार और निराकार उभय रूप है। अव इस उपयोग के दो भेद हैं, शुद्ध और अशुद्ध। उसमें से शुद्ध निरूपराग हैं और अशुद्ध सोपराग है। वह अशुद्धोपयोग शुभ और अशुभ दो प्रकार है। क्योंकि उपयोग विशुद्ध रूप और संक्लेश रूप दो प्रकार का है।

मुक्त आत्मा का स्वरूप

कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतम धिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं ॥५८॥

अर्थ कर्म मल से मुक्त आत्मा ऊपर लोक के अन्त को प्राप्त करके वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी अनंत अतिन्द्रिय सुख का अनुभव करता है।

टीका—यहाँ मुक्तावस्था वाले आत्मा का निरूपाधि स्वरूप कहा है।

आत्मा (कर्मरज के) परद्रव्यपने के कारण कर्मरज से सम्पूर्ण रूप से जिस क्षण छूटता है (मुक्त होता है) उसी समय (अपने) उर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोक के अन्त को पाकर आगे गति हेतु का अभाव होने से (वहाँ) स्थिर होता हुआ केवल ज्ञान और केवल दर्शन (निज) स्वरूप भूत होने के कारण उनसे न छुटता हुआ अनंत अतिन्द्रिय सुख का अनुभव करता है। उस मुक्त आत्मा को भाव प्राण धारण जिसका लक्षण (स्वरूप) है ऐसा "जीवत्व" होता है, चिद्रूप जिसका लक्षण है ऐसा "चेतयितृत्व" होता है, चित् उसका लक्षण है ऐसा "उपयोग" होता है। प्राप्त किये हुए समस्त (आत्मिक) अधिकारों की "शक्ति मात्ररूप" प्रभुत्व होता है। समस्त वस्तुओं से असाधारण ऐसे स्वरूप की निष्पत्ति मात्ररूप कर्तृत्व" होता है। स्वरूप भूत स्वातंत्र्य जिसका लक्षण है ऐसी सुख की उपलब्धि रूप "भोक्तृत्व" होता है। अतीत अनन्तर शरीरानुसार अवगाह परिणाम रूप "देह प्रमाण-पना" होता है। उपाधि के सम्बन्ध से विविक्त ऐसा आत्यंतिक "अमूर्तपना" होता है।

चेतना के भेद

कम्माणं फलमेक्को एक्को कज्जं तु णाणमध एक्को।
चेदयदि जीवरासी चेदगभावेण तिविहेण ॥५९॥

अर्थ—त्रिविध चेतक भाव द्वारा एक जीव राशि कर्मों के फल को एकजीव राशि कार्य को और जीव राशि ज्ञान को चेतती है।

टीका—यह चेतयितृत्व गुण की व्याख्या है।

कोई चेतयित्ता अर्थात् आत्मा तो जो अति प्रकृष्ट मोह से मलीन है और जिसका प्रभाव (शक्ति) अति प्रकृष्ट ज्ञानावरण से

मुंद गया है ऐसे चेतक स्वभाव द्वारा सुख दुःख रूपकर्म फल को ही प्रधानतः चेतते हैं क्योंकि उनका अति प्रकृष्ट वीर्यान्तराय से कार्य करने का सामर्थ नष्ट हो गया है।

दूसरे चेतयिता अर्थात् आत्मा जो अति प्रकृष्ट मोह से मलिन है और जिसका प्रभाव प्रकृष्ट ज्ञानावरण से मुंद गया है ऐसे चेतक स्वभाव द्वारा भले ही सुख दुःख रूप कर्म फल के अनुभव से मिश्रत रूप से भी कार्य को ही प्रधानतः चेतते हैं क्योंकि उन्होंने अल्प वीर्यान्तराय क्षयोपशम से कार्य करने का सामर्थ्य प्राप्त किया है।

और दूसरे चेतयिता अर्थात् आत्मा जिसमें सकल मोह कलंक धुल गया है। तथा समस्त ज्ञानावरण के विनाश के कारण जिसका समस्त प्रभाव अत्यंत विकसित हो गया है। ऐसे चेतक स्वभाव द्वारा 'ज्ञान' को ही कि जो ज्ञान अपने से अव्यतिरिक्त स्वाभाविक सुख वाला है उसी को चेतते हैं क्योंकि उन्होंने समस्त वीर्यान्तराय के क्षय से अनंत वीर्य को प्राप्त किया है इसलिये उनको कर्म फल निर्जरित हो गया है और अत्यन्त कृतकृत्यपना हुआ है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि आत्मा में जितनी कषाय का अभाव हुआ है अर्थात् जितना संवर भाव है उतनी ज्ञान चेतना है। और जितना अंश में रागभाव है उतना अंश में कर्म चेतना है और वीतरागी जीवों में केवल ज्ञान चेतना है।

चेतना के भेद

परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥६०॥

अर्थ—आत्मा चेतना रूप से परिणमित होता है और चेतना तीन प्रकार से मानी गई हैं और वह ज्ञान सम्बन्धी, कर्म संबंधी अथवा कर्म फल सम्बन्धी कही गई हैं।

टीका—जिससे चैतन्य आत्मा का स्वधर्म व्यापकत्त्व है उससे चेतना ही आत्मा का स्वरूप है। आत्मा का जो कुछ भी परिणाम हो वह सब ही चेतना का उल्लंघन नहीं करता यह तात्पर्य है और चेतना ज्ञानरूप कर्मरूप और कर्मफल रूप से तीन प्रकार की हैं (उसमें ज्ञान परिणति ज्ञान चेतना कर्म परिणति कर्म चेतना और कर्म फल परिणति कर्मफल चेतना है)

ज्ञान कर्म और कर्मफल चेतना का स्वरूप

णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं।
तमणेगविधं भणिदं फलं ति सोक्खं व दुक्खंवा ॥६१॥

अर्थ—अर्थ विकल्प ज्ञान है। जीव के द्वारा जो किया जा रहा हो वह कर्म है और वह अनेक प्रकार का है। सुख अथवा दुःख कर्मफल कहा गया है।

टीका—प्रथम तो अर्थ विकल्प ज्ञान है। वहाँ अर्थ क्या है? स्वपर के विभाग पूर्वक अवस्थित विश्व अर्थ है। उसके आकारों का अवभासन विकल्प है। और दर्पण के निज विस्तार के भाँति जिसमें एक ही साथ स्व पर आकार अवभासित होते हैं ऐसा अर्थ विकल्प ज्ञान है। जो आत्मा के द्वारा किया जाता है वह कर्म है। प्रतिक्षण उस उस भाव से होता हुआ आत्मा के द्वारा वास्तव में किया जाने वाला जो उसका भाव है, वही आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से कर्म है। और वह कर्म एक प्रकार का होने पर भी द्रव्य कर्म उपाधि की निकटता के सद्भाव और असद्भाव के कारण अनेक प्रकार का है। वहाँ द्रव्य कर्म रूप उपाधि की निकटता के

असद्भाव के कारण जो कर्म होता है उसका फल अनाकुलत्व लक्षण प्रकृति (स्वभाव) भूत सुख है। और द्रव्य कर्म रूप उपाधि की निकटता के सद्भाव के कारण जो कर्म होता है उसका फल विकृतिभूत दुःख है क्योंकि वहाँ सुख के लक्षण का अभाव है। इस प्रकार ज्ञान, कर्म और कर्मफल का स्वरूप निश्चित् हुआ।

ज्ञानकर्म और कर्मफल आत्मा ही है

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफल भावी।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो ॥६२॥

अर्थ—आत्मा परिणामात्मक है परिणाम ज्ञानरूप, कर्मरूप, और कर्मफल रूप होता है, इसलिये ज्ञान कर्म और कर्मफल आत्मा है ऐसा समझना।

टीका—प्रथम तो आत्मा वास्तव में परिणाम स्वरूप ही है क्योंकि परिणाम स्वयं आत्मा है और परिणाम चेतना स्वरूप होने से ज्ञान कर्म और कर्मफल रूप होने के स्वभाव वाला है, क्योंकि चेतना तन्मय होती है। इसलिये ज्ञान, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है। इस प्रकार वास्तव में शुद्ध द्रव्य के निरुपण में परद्रव्य के सम्पर्क का असंभव होने से और पर्यायें द्रव्य के भीतर प्रलीन हो जाने से आत्मा शुद्ध द्रव्य ही रहता है।

भावार्थ—शुद्ध द्रव्य की कथनी में पर द्रव्य का कथन करना केवल उपचार है। केवली परमात्मा पर द्रव्य को देखता है तीन काल की पर्यायें देखते हैं वह सब उपचार कथन है परमार्थ से शुद्धद्रव्य अपने ही स्वरूप में लीन हैं।

किस किस जीव में कौन सी चेतना है

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं।
पाणित्तमदिक्कंतां णाणं विदंति ते जीवा ॥६३॥

अर्थ—सर्व स्थावर जीव कर्मफल को भोगता है, त्रस वास्तव में कार्य सहित कर्म फल को वेदते हैं और जो प्राणित्व का (प्राणों का) अतिक्रम कर गये हैं वे जीव ज्ञान को वेदते हैं।

टीका—यहाँ कौन क्या चेतता है वह कहा है। चेतता है अनुभव करता है उपलब्ध करता है और वेदता है ये एकार्थ है क्योंकि चेतना अनुभूति उपलब्धि और वेदना का एक अर्थ है। वहाँ स्थावर कर्मफल को चेतता है त्रस कार्य को चेतता है केवल ज्ञानी, ज्ञान को चेतता है।

भावर्थ—१३ वां गुणस्थान में केवल ज्ञानी ने पाच इन्द्रिय और मन प्राण को अतिक्रम किया है। १४ वां गुणस्थानक के प्रथम समय में केवल ज्ञानी ने कायप्राण वचनप्राण और श्वासो-च्छ्वास प्राण को अतिक्रम किया है। और १४ वां गुणस्थानक के अन्तिम समय में केवल ज्ञानी ने आयु प्राण का अतिक्रम किया है इस अपेक्षा से सिद्ध परमात्मा ही ज्ञान को वेदते हैं।

जीव द्रव्य की विभाव पर्याय के भेद

माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा ।
सत्तविहा णेरइया णादव्वा पुढविभेएण ।।
चउदभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा ।
एदेसिं वित्थारं लोय विभागेसु णादव्वम् ।।६४।।

अर्थ—मनुष्यों के दो भेद हैं, कर्मभूमि में जन्मे हुए और भोगभूमि में जन्मे हुए, पृथ्वी भेद से नारक सात प्रकार के जानना, तिर्यंचों के चौदह भेद कहे हैं, देव समूहो के चार भेद हैं इनका विस्तार लोक विभाग में से जान लेना।

स्थावर जीवों का भेद

पुढवी य उदगमगणी वाउ वणप्फदि जीवसंसिदा काया ।
देंति खलु मोह बहुलं फासं बहुगावि ते तेसिं ।।६५।।

अर्थ—पृथ्वीकाय अपकाय अग्निकाय वायुकाय और वनस्पतिकाय यह कायें जीव सहित है। उनकी भारी संख्या होने पर भी उनमें रहने वाले जीवों को वास्तव में अत्यन्त मोह से संयुक्त स्पर्श देती है (अर्थात् स्पर्श ज्ञान में निमित होती है)।

टीका:—पृथ्वीकाय अपकाय तेजःकाय वायुकाय और वनस्पति काय ऐसे यह पुद्गल परिणाम बंधवशात (बंध के कारण) जीव सहित हैं। अवान्तर जाति भेद करने पर वे अनेक होने पर भी सभी स्पर्शेन्द्रियावरण के क्षयोपशम वाले जीवों को बहिरङ्ग स्पर्शेन्द्रिय की रचना भूत वर्तते हुए कर्मफलचेतना प्रधानपने के कारण अत्यन्त मोह सहित ही स्पर्शोप लब्धिसंप्राप्त कराते हैं।

त्रस जीव का भेद

संबुक्कमा दुवाहा संखा सिप्पी अपादगा य किमी ।
जाणंति रसं फासं जे ते बइंदिया जीवा ।।६६।।

अर्थ—शंबुक मातृवाह शंख सीप और पग रहित कृमि जो कि रस और स्पर्श को जानते हैं वह द्वीन्द्रिय जीव है।

भावार्थ—जिसको रस और स्पर्श का ज्ञान करने की शक्ति प्राप्त हुई है उसे दोइन्द्रिय जीव कहा जाता है।

जूगा गुँभीमक्कण पिपीलिया विच्छयादिया कीड़ा !
जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा ।।६७।।

अर्थ—जुं, कुंभी खटमल, चींटी और विच्छु आदि जन्तु रस स्पर्श और गंध को जानते हैं वह त्रीन्द्रिय जीव है।

भावर्थ—जिस जीव को रस गंध और स्पर्श का ज्ञान करने की शक्ति प्राप्त हुई है वह त्रीन्द्रिय जीव है।

उद्दंसमसयमक्खियमधुकरिभमरा पतङ्गमादीया।
रूवं रसं च गंध फासं पुण ते विजाणंति ।।६८।।

अर्थ—पुनश्च डांस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भंवर पतंगे आदि जीव रूप, रस, गंध और स्पर्श को जानता है।

भावार्थ—जिस जीव को स्पर्श रस गंध और रूप का ज्ञान करने की शक्ति प्राप्त हुई है वह चतुरिन्द्रिय जीव है।

सुरणरणारयतिरिया वण्णरसप्फासगंधसद्दण्हु ।
जलचरथलचरखचरा बलिया पंचेदिया जीवा ।।६९।।

अर्थ—वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्द को जानने वाले देव मनुष्य नारक तिर्यंच जो जलचर थलचर खेचर होते हैं वह बलवान पचेन्द्रिय जीव है।

भावार्थ—उनमें देव मनुष्य और नारकी मन सहित ही होते हैं और तिर्यंच मन सहित और मन रहित दोनों जाति के पंचेन्द्रिय जीव होते हैं।

पंचेन्द्रिय जीव का विशेष भेद

देवा चउण्णिकाया मणुया पुण कम्मोगभूमीया।
तिरिया बहुप्पयारा णरेइया पुढविभेयगदा ।।७०।।

अर्थ—देवों के चार निकाय हैं, मनुष्य कर्म भूमिज और भोग भूमिज ऐसे दो प्रकार हैं। तिर्यंच अनेक प्रकार के हैं और नारकों के भेद उनकी पृथ्वीयों के भेद जितने हैं।

टीका—देवगतिनाम और देवायु के उदय से देव होते हैं वे भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क और वैमानिक ऐसे निकाय भेदों के कारण चार प्रकार के हैं। मनुष्य गतिनाम और मनुष्यायु के उदय से मनुष्य होते हैं वे कर्म भूमिज और भोग भूमिज ऐसे भेदों के कारण दो प्रकार के हैं। तिर्यंचगति नाम और तिर्यंचायु के उदय से तिर्यंच होते हैं वे पृथ्वी शंवुक, जूं डांस, जलचर उरगपक्षी परिसर्प चतुष्पाद (चौपाये) इत्यादि भेदों के कारण अनेक प्रकार के है। नरकगति नाम और नरकायु के उदय से नारक होते हैं, वह रतनप्रभा भूमिज शर्करा प्रभा भूमिज बालुका प्रभा भूमिज, पङ्कप्रभाभूमिज, धूमप्रभा भूमिज तमःप्रभाभूमिज और महातमः प्रभा भूमिज ऐसे भेदों के कारण सात प्रकार के हैं। उनमें देव मनुष्य नारकी पंचेन्द्रिय ही होते हैं, और तिर्यंच तो कुछ पंचेन्द्रिय होते हैं और कुछ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय भी होते हैं।

खीणे पुव्वणिवद्धे गदिणामे आउसे च ते खलु।
पापुण्णंति य अण्णंगदिमां उस्सं सलेस्सवसा ॥७१॥

अर्थ—पूर्वबद्ध गतिनाम कर्म और आयुष कर्म क्षीण होने से जीव अपनी कषाय के वश वास्तव में अन्यगति और आयुष्य प्राप्त करते हैं।

टीका—यहाँ गतिनाम कर्म और आयु कर्म के उदय से निष्पन्न होते हैं, इसलिये देवत्वादि अनात्म स्वभाव भूत है ऐसा दर्शाया है।

भावार्थ—शरीरादि संयोग पुद्गल द्रव्य जीव तत्व नहीं हैं किन्तु वह अनात्मभूत होने से अजीव तत्व है यह दिखाया है।

जीव निश्चय से मनुष्यादि पर्याय से भिन्न है व्यवहार से अभिन्न है

दव्वतित्थएण जीवा वदिरित्ता पुव्व भणिद अज्जाया ।
पज्जयणयेण जीवा संजुता होंति दुविहे हिं ।।७२।।

अर्थ—द्रव्यार्थिकनय से जीव पूर्व कथित (मनुष्यादि) पर्याय से व्यतिरिक्त है, पर्यायार्थिकनय से जीव उस पर्याय से संयुक्त है इस प्रकार जीव दोनों नयों से संयुक्त हैं ।

शरीर इन्द्रिय जीव नहीं है ।

ण हि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णता ।
ज हवदि तेसु णाणं जीवो त्ति य तं परूवंति ।।७३।।

अर्थ—इन्द्रियाँ जीव नहीं है और छह काय को शास्त्रोक्त कायें भी जोव नहीं है उनमें जो ज्ञान है वह जोव है ऐसी (ज्ञानी) प्ररूपणा करते हैं ।

टीका - यह व्यवहार जीवत्व के एकान्त की प्रतिपत्ति का खण्डन है । यह जो एकेन्द्रियादि तथा पृथ्वीकायादि 'जीव' कहे जाते हैं वे अनादि जीव पुद्गल का अवगाह देखकर व्यवहारनय से जीव प्राधान्य द्वारा जीव कहे जाते हैं । निश्चयनय से उनमें स्पर्शनादि इन्द्रियाँ तथा पृथ्वी आदि कायें जीव के लक्षण भूत स्वभाव के अभाव के कारण जीव नहीं है उन्हीं में जो स्वरूप की ज्ञप्तिरूप से प्रकाशित ज्ञान है वही गुण गुणी के कथंचित् अभेद के कारण जीवरूप से प्ररूपित किया गया है ।

भावार्थ—इन्द्रियां कायादि जीव द्रव्य की अजीव तत्व रूप संयोगी अवस्था है । परमार्थ भूत तो जीव तत्व केवल अनादी अनंत, अनंतगुण और अनंतानन्त पर्याय के पुंजरूप ज्ञायक स्वभाव का नाम ही जीव तत्व है ।

जीव की विशेष व्याख्या भव्य अभव्य

एदे जीवणिकाया देहप्पविचार मस्सिदा भणिदा।
देहविहुणासिद्धा भव्वा संसारिणो अभव्वाय ॥७४॥

अर्थ—यह जीवनिकाय देह में वर्तने वाले कहे गये हैं देह रहित ऐसे सिद्ध है संसारी भव्य और अभव्य ऐसे प्रकार के हैं।

टीका—जिनके प्रकार (पहले) कहे गये ऐसे यह समस्त संसारी जीव देह में वर्तने वाले हैं। देह में न वर्तने वाले ऐसे सिद्ध भगवंत है जो कि शुद्ध जीव हैं। वहां देह में वर्तने की अपेक्षा से संसारी जीवों का एक प्रकार होने पर भी वे भव्य और अभव्य ऐसे दो प्रकार के हैं। "पाच्य" और "अपाच्य" मूंग की भाँति जिनके शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि की शक्ति का सद्भाव हैं उन्हें "भव्य" और उनमें शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि की शक्ति का असद्भाव है उन्हें "अभव्य" कहा जाता है।

व्यवहार जीवत्व का स्वरूप

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जोहु जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणापुण वलमिंदियमाउ उस्सासो ॥७५॥

अर्थ--जो चार प्राणों से जीता है जिवेगा और पूर्वकाल में जीता था वह जीव है और प्राण इन्द्रिय बल आयु तथा उच्छ्वास है।

टीका—यह जीवत्व गुण की व्याख्या है। प्राण इन्द्रिय बल आयु तथा उच्छ्वास स्वरूप है। उनमें चित्सामान्य रूप अन्वय वाले भाव प्राण है, और पुद्गल सामान्य रूप अन्वय वाले वे द्रव्य प्राण हैं। उन दोनों प्राणों को त्रिकाल अच्छिन्न संतान रूप से (अटूटधारा से) धारण करता है इसलिये संसारी को जीवत्व

है। मुक्त को (सिद्ध को) तो केवल भाव प्राणों का ही धारण हो जैसे जीवत्व है ऐसा समझना।

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो।
जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्काभि संबद्धो ॥७६॥

अर्थ—सप्रदेश पदार्थों के द्वारा समाप्ति को प्राप्त सम्पूर्ण लोक नित्य है उसे जो जानता है वह जीव है जो कि (संसार दशा में) चार प्राणों से संयुक्त है।

टीका—इस प्रकार जिन्हें प्रदेश का सद्भाव फलित हुआ है ऐसे आकाश पदार्थ से लेकर काल पदार्थ के सभी पदार्थों से समाप्ति को प्राप्त जो समस्त लोक है उसे वास्तव में उसमें अन्तर्भूत होने पर भी स्वपर को जानने की अचिंत्य शक्ति रूप सम्पत्ति के द्वारा जीव ही जानता है दूसरा कोई नहीं। इस प्रकार शेष द्रव्य ज्ञेय ही है और जीव द्रव्य तो ज्ञेय तथा ज्ञान है, इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय का विभाग है।

अब इस जीव को सहज रूप से (स्वभाव से ही) प्रगट अनंत ज्ञान शक्ति जिसका हेतु है और तीनों काल में अवस्थायित्व जिसका लक्षण है, ऐसा वस्तु का स्वरूप भूत होने से सदा अविनाशी निश्चय जीवत्व होने पर भी संसार अवस्था में अनादि प्रवाह रूप से प्रवर्तमान पुद्गल संश्लेष के द्वारा स्वयं दूषित होने से उसके उसे चार प्राणों से संयुक्तता है जो कि व्यवहार जीवत्व का हेतु है और विभक्त करने योग्य है।

प्राण का भेद

इन्दिय पाणोय तधा बलपाणोतह य आउपाणो य।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥७७॥

अर्थ—इन्द्रिय प्राण, बल प्राण, आयु प्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण ये चार प्राण जीवों के प्राण हैं।

टीका—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र यह पाँच इन्द्रियप्राण हैं, काय, वचन और मन यह तीन बल प्राण है भव धारण का निमित्त आयु प्राण है नीचे और ऊपर जाना जिसका स्वरूप है ऐसी (स्वास) श्वासोच्छ्वास प्राण है।

चार प्राण जीवत्व का हेतु हैं।

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥७८॥

अर्थ—जो चार प्राणों से जीता है जियेगा और पहले जीता था वह जीव है। फिर भी प्राण तो पुद्गल द्रव्यों से निष्पन्न है।

टीका—(व्युत्पति के अनुसार) जो प्राण सामान्य से जीता है जियेगा और पहले जीता था वह जीव है। इस प्रकार (प्राण सामान्य) अनादि संतान रूप (प्रवाह रूप) से प्रवर्त्तमान होने से (संसार दशा में) त्रिकाल स्थायी होने से प्राण सामान्य जीव के जीवत्व का हेतु है ही तथापि वह उसका स्वभाव नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल द्रव्य से रचित है।

भावार्थ—प्राण का उपादान कर्त्ता पुद्गल है तो भी व्यवहार में जीवत्व का वह निमित्त कारण है। ज्ञान की लब्धि प्राप्त होते हुए यदि इन्द्रियाँ बिगड़ जाये तो ज्ञान उपयोग रूप नहीं हो सकता है जिससे वह जीवत्व का कारण है। आत्मा में योग्यता होते हुए भी यदि द्रव्य मन बिगड़ जावे तो आत्मा अपना कल्याण नहीं कर सकता है जिससे वह जीवत्व का कारण है। आत्मा में योग्यता होते हुए यदि शरीर में लकवा रोग हो जावे तो आत्मा

गमन नहीं कर सकता है इसलिये वह जीवत्व का कारण है। आत्मा में योग शक्ति होते हुए भी यदि वचन पर्याप्ति न होवे तो वह आत्मा वचन बोलने में निमित्त नहीं बन सकता हैं यह जीवत्व का कारण है। श्वासोच्छ्वास रूक जावे तो शरीर का सहज त्याग हो जावे जिससे यह जीवत्व का कारण है। और आयु पूर्ण हो जाने से गति का त्याग हो जाता है जिसमें यह जीवत्व का कारण है। जब तक शरीर में आत्मा मौजूद है तब तक शरीर जीव द्रव्य को अजीव तत्व रूप पर्याय है यद्यपि वह पुद्गल द्रव्य से निष्पन्न है जब यह आत्मा उस शरीर को छोड़ देता है तब वही शरीर अजीव तत्व न रह कर पुद्गल द्रव्य की अचेतन पर्याय हो जाती है तब वह अजीव तत्व नहीं रहता।

व्यवहार प्राण धारण करने का कारण

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
ण चयदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसयेसु ॥७९॥

अर्थ—जब तक देह प्रधान विषयों में ममत्व को नहीं छोड़ता तब तक कर्म से मलीन आत्मा पुनः पुनः अन्य अन्य प्राणों को धारण करता है।

टीका—जो इस आत्मा की पौद्गलिक प्राणों की संतान रूप प्रवृति है उसका अन्तरंग हेतु शरीरादि का ममत्व रूप उपरक्तत्व है जिसका मूल अनादि पौद्गलिक कर्म है।

प्राणो की संतति की निवृति का कारण

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥८०॥

अर्थ—जो इन्द्रियादि का विजयी हो कर उपयोग मात्र आत्मा का ध्यान करता है वह कर्मों के द्वारा रंचित नहीं होता उसे प्राण कैसे अनुसरण कर सकते हैं ? (अर्थात् उसके प्राणों का सम्बन्ध नहीं होता) ।

टीका—वास्तव में पौद्गलिक प्राणों की संतति की निवृत्ति का अंतरंग हेतु उपरक्तता का अभाव है और उपरक्तता का कारण (निमत्त) पौद्गलिक कर्म है । और वह अभाव जो जीव समस्त इन्द्रियादिक परद्रव्यों के अनुसार परिणति का विजयी होकर (अनेक वर्णों वाले) आश्रयानुसार सारी परिणति से व्यवृत (पृथक) हुए स्फटिक मणि की भाँति अत्यन्त विशुद्ध उपयोग मात्र अकेले आत्मा में सुनिश्चलतया वसता है उस (जीव) के होता है । यहाँ यह तात्पर्य है कि आत्मा की अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करने के लिये व्यवहार जीवत्व के हेतुभूत पौद्गलिक प्राण इस प्रकार उच्छेद करने योग्य है ।

आत्मा की उपलब्धि का कारण

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्पत्ति णिच्छिदो समणो ।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥८१॥

अर्थ—यदि श्रमण, कर्त्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा है ऐसा निश्चयवाला होता हुआ अन्य रूप परिणमित्त नहीं ही हो तो वह शुद्ध आत्मा को उपलब्ध करता है ।

टीका—जो पुरुष इस प्रकार कर्त्ता करण कर्म और कर्मफल आत्मा ही है यह निश्चय करके वास्तव में पर द्रव्य रूप परिणमित नहीं हो तो वही पुरुष जिसका परद्रव्य के साथ सम्पर्क रुक गया है और जिसकी पर्यायें द्रव्य की भीतर प्रलीन हो गई हैं ऐसे शुद्धात्मा को उपलब्ध करता है परन्तु अन्य कोई नहीं ।

मनुष्यादि पर्यायें जीव का क्रिया का फल है

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥८२॥

अर्थ—वहाँ नाम संज्ञा वाला कर्म अपने स्वभाव से जीव के स्वभाव के पराभव करके मनुष्य तिर्यंच नारक अथवा देव (इन पर्यायों) को करता है।

टीका—क्रिया वास्तव में आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से कर्म है। उसके निमित्त से परिणमन (द्रव्यकर्म रूप) को प्राप्त होता हुआ पुद्गल भी कर्म है। उस (पुद्गल कर्म) की कार्यभूत मनुष्य आदि पर्यायें मूल कारण भूत जीव की क्रिया से प्रवर्तमान होने से क्रियाफल ही है क्योंकि क्रिया के अभाव में पुद्गलों को कर्मत्त्व का अभाव होने से उस (पुद्गल कर्म) की कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायों का अभाव होता है।

वहाँ वे मनुष्यादि पर्यायें कर्म के कार्य कैसे हैं ? (सो कहते हैं कि) वे कर्म स्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके को जाती है इसलिए दीपक की भाँति यथा ज्योति (लौ) के स्वभाव के द्वारा तेल स्वभाव का पराभव करके की जाने वाली मनुष्यादि पर्यायें कर्म का कार्य है।

भावार्थ—जीव में चौरासी लाख योनी रूप परिणमन करने की शक्ति होते हुए भी वह शक्ति कर्म के द्वारा ही प्रगट हो सकती हैं। यहाँ निमित्त का ही प्रधान पना है क्योंकि निमित्त के बिना नैमित्तिक पर्याय प्रगट नहीं हो सकती है जिससे नैमित्तिक द्रव्य का पराभव ही होता है।

मनुष्यादि पर्यायों का कारण निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं ।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ॥८३॥

अर्थ—कर्म से मलीन आत्मा कर्म संयुक्त परिणाम को (द्रव्य कर्म के संयोग से होने वाले अशुद्ध परिणाम को) प्राप्त करता है उसे कर्म चिपकता है (द्रव्य कर्म का बन्ध होता है) इसलिये परिणाम कर्म है।

टीका - संसार नामक जो यह आत्मा का तथा विध (उस प्रकार का) परिणाम है वही द्रव्य कर्म चिपकने का हेतु है। अब उस प्रकार के परिणाम का हेतु कौन है ? (उसके उत्तर में कहते हैं कि) द्रव्य कर्म उसका हेतु है क्योंकि द्रव्य कर्म की संयुक्तता से ही वह देखा जाता है।

शंका—ऐसा होने से इतरेयराश्रय दोष आता है।

समाधान—नहीं आयगा, क्योंकि अनादि सिद्ध द्रव्य कर्म के साथ सम्बन्ध आत्मा का जो पूर्व का द्रव्य कर्म है उसका वहाँ हेतु रूप से ग्रहण किया है। इस प्रकार नवीन द्रव्य कर्म जिसका कार्य है औप पुराना द्रव्य कर्म जिसका कारण भूत है ऐसा आत्मा का तथा विध परिणाम होने से वह उपचार से द्रव्य कर्म ही हैं और आत्मा भी अपने परिणाम का कर्त्ता होने से द्रव्य कर्म का कर्त्ता भी उपचार से है।

भावार्थ—यहाँ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध दिखाया है। निमित्त के अनुकूल परिणमन करे सो नैमित्तिक है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध में निमित्त ही बलवान है नैमित्तिक पराधीन है। आत्मा में विकार करने की योग्यता होते हुए वह योग्यता निमित्त के बिना प्रगट नहीं हो सकती है यह इसका तात्पर्य है।

अबुद्धि पूर्वक राग के साथ में कर्म का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है किन्तु बुद्धि पूर्वक राग में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है। बुद्धि पूर्वक राग में आत्मा स्वाधीन है। अबुद्धि पूर्वक राग में आत्मा पराधीन है। इसी प्रकार दो अवस्थायें होती हैं। द्रव्य कर्म का निमित्त कर्त्ता, आत्मा है और द्रव्य कर्म का उपादान कर्त्ता पुद्गल द्रव्य है। आत्मा को द्रव्य कर्म का उपादान कर्त्ता बोलना व्यवहारनय का कथन है। आत्मा को द्रव्य कर्म का निमित्त कर्त्ता बोलना निश्चयनय का कथन है।

आत्मा द्रव्य कर्म का उपादान नहीं है

परिणामो समयादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया।
किरिया कम्मत्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता ॥८४॥

अर्थ—परिणाम स्वयं आत्मा है और वह जीवमयी क्रिया है। क्रिया को कर्म माना गया है। इसलिये आत्मा द्रव्य कर्म का (उपादान) कर्त्ता तो नहीं है।

टीका—आत्मा का परिणाम वास्तव में आत्मा ही है क्योंकि परिणामो परिणाम के स्वरूप का कर्त्ता होने से परिणाम से अनन्य है और जो उस (आत्मा का) का तथा विध परिणाम है वह जीवमयी ही क्रिया है क्योंकि सर्व द्रव्यों की परिणामलक्षण क्रिया आत्ममयता (निजमयता) से स्वीकार की गई हैं और फिर जो (जीवमयी) क्रिया है वह आत्मा के द्वारा स्वतन्त्रतया प्राप्त होने से कर्म है। इसलिये परमार्थतः आत्मा अपने परिणाम स्वरूप भाव कर्म का ही कर्त्ता है किन्तु पुद्गल परिणाम स्वरूप द्रव्य कर्म का नहीं। द्रव्य कर्म का उपादान कर्त्ता पुद्गल द्रव्य है।

चेतन अचेतन द्रव्य

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अज्जीवं ॥८५॥

अर्थ—द्रव्य जीव और अजीव है। चेतना और उपयोगमय जीव है और पुद्गलादि द्रव्य अचेतन द्रव्य हैं।

भावार्थ—जीवचतेन द्रव्य हैं और पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल अचेतन द्रव्य है।

क्रिया रूप और भाव रूप द्रव्य

उप्पादट्ठिदि भंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स ।
परिणामादो जायंते संघादादो व भेदादो ॥८६॥

अर्थ—पुद्गल जीवात्मक लोक के परिणमन से और संघात (मिलने) और भेद (पृथक होने) से उत्पाद व्यय ध्रौव्य होते हैं।

टीका—कोई द्रव्य भाव और क्रिया वाले होने से और कोई द्रव्य केवल भाव वाले होने से इस अपेक्षा से द्रव्य के दो भेद हैं। उसमें पुद्गल तथा जीव (१) भाव वाले तथा (२) क्रिया वाले हैं क्योंकि (१) परिणाम द्वारा तथा (२) संघात और भेद के द्वारा वे उत्पन्न होते हैं टिकते हैं और नष्ट होते हैं ऐसा निश्चय है। उसमें भाव का लक्षण परिणाम मात्र है और क्रिया का लक्षण परिस्पन्द (क्षेत्रान्तर होना) है। इसमें समस्त ही द्रव्य भाव वाले हैं। क्योंकि परिणाम वाले होने से परिणाम के द्वारा अन्वय और व्यतिरेकों को प्राप्त होते हुए वे उत्पन्न होते हैं टिकते है और नष्ट होते हैं। पुद्गल तो (भाव वाले होने के अतिरिक्त क्रिया वाले भी होते हैं क्योंकि परिस्पन्द स्वभाव वाले होने से परिस्पन्द के द्वारा पृथक पुद्गल एकत्रित हो जाते हैं, इसलिये

और एकत्रित मिले हुये पुद्गल पुनः पृथक् हो जाते हैं इसलिये (इस अपेक्षा से) वे उत्पन्न होते हैं टिकते है और नष्ट होते हैं। तथा जीव भी (भाववाले होने के अतिरिक्त) क्रिया वाले भी होते है, क्योंकि परिस्पन्द स्वभाव वाले होने से परिस्पन्द के द्वारा नवीन कर्म तो कर्म रूप पुद्गलों से भिन्न जीव उनके साथ एकत्रित होने से और कर्म नोकर्म पुद्गल के साथ एकत्रित हुये जीव बाद में पृथक होने से (इस अपेक्षा से) वे उत्पन्न होते हैं टिकते है और नष्ट होते हैं।

क्रियावान द्रव्य का स्वरूप

जीवा पुग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा।
पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु ॥८७॥

अर्थ वाह्य कारण सहित स्थित जीव और पुद्गल सक्रिय है शेष द्रव्य सक्रिय नहीं हैं (निष्क्रिय हैं) जीव पुद्गल करण वाले (जिन्हे सक्रियपने सें पुद्गल बहिरङ्ग साधन हो ऐसे) हैं और स्कन्ध अर्थात् पुद्गल तो काल करण वाले (जिन्हें सक्रियपने में काल बहिरङ्ग साधन हो ऐसे) हैं।

टीका—यहा द्रव्यों का सक्रिय निष्क्रियपना कहा गया है।

प्रदेशान्तर प्राप्ति का हेतु ऐसी जो परिस्पन्द रूप पर्याय वह क्रिया है। वहाँ बहिरङ्ग साधन के साथ रहने वाले जीव सक्रिय हैं, बहिरङ्ग साधन के साथ रहने वाला पुद्गल सक्रिय है। आकाश निष्क्रिय है धर्म अधर्म निष्क्रिय है काल निष्क्रिय है।

जीवों का सक्रियपने का बहिरङ्ग साधन कर्म नोकर्म के संचय रूप पुद्गल है इसलिये जीव पुद्गलकरण वाला है। उसके अभाव के कारण सिद्धो को निष्क्रियपना है। पुद्गलो का सक्रियपने का बहिरङ्ग कारण परिणाम निष्पादक काल है इसलिये पुद्गल कालकरण वाले हैं।

कर्माधिक की भाँति काल का अभाव नहीं होता है इसलिये सिद्धों की भाँति पुद्गलों का निष्क्रियपना नहीं होता।

मूर्त अमूर्त चेतन अचेतन द्रव्य

आगासकालजीवा धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा।
मुत्तं पुग्गलदव्वं जीवो खलु चेदणो तसु ॥८८॥

अर्थ—आकाश काल जीव धर्म अधर्म अमूर्त है पुद्गल द्रव्य मूर्त है। उनमें जीव वास्तव में चेतन है।

टीका—यहाँ द्रव्यों का मूर्त अमूर्तपना और चेतन अचेतनपना कहा गया है।

स्पर्श रस गंध, वर्ण का सद्भाव जिसका स्वभाव है वह मूर्त है, स्पर्श रस गंध वर्ण का अभाव जिसका (लक्षण है) स्वभाव है वह अमूर्त है। चैतन्य का सद्भाव जिसका स्वभाव है वह चैतन्य है, चैतन्य का अभाव जिसका स्वभाव है वह अचेतन है। वहाँ आकाश अमूर्त है, काल अमूर्त है, जीव स्वरूप से अमूर्त है. पर रूप से प्रवेश द्वारा मूर्त भी है, धर्म अमूर्त है, अधर्म अमूर्त है, पुद्गल एक ही मूर्त है। आकाश अचेतन है काल अचेतन है धर्म अचेतन है, अधर्म अचेतन है पुद्गल अचेतन है जीव ही एक चेतन है।

पुग्गलदव्वं मोत्तं मुत्तिविरहिया हवंति सेसाणि।
चेदणभावो जीवो चेदणगुण वज्जिया सेसा ॥८९॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्य मूर्त है शेष द्रव्य अमूर्त हैं अर्थात् मूर्तत्व रहित है, जीव चैतन्य वाला है शेष द्रव्य चैतन्य गुण रहित है।

मूर्त अमूर्त द्रव्य

मुत्ता इन्दियगेज्झा पोग्गल दव्वप्पगा अणेगविधा।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणे दव्वा ॥९०॥

अर्थ—इन्द्रिय ग्राह्य मूर्तगुण पुद्गल द्रव्यात्मक अनेक प्रकार के हैं, अमूर्त द्रव्यों के गुण अमूर्त जानना चाहिये।

भावार्थ—जिसमें रूप रस गंध स्पर्श है वह मूर्त द्रव्य है और जिसमें रूप रस गंध स्पर्श नहीं वह अमूर्त द्रव्य है।

मूर्त द्रव्य के गुण

वण्णरसगंध फासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवीपरियत्तस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥९१॥

अर्थ–वर्ण गंध रस स्पर्श (गुण) सूक्ष्म से लेकर पृथ्वी पर्यन्त के (सर्व) पुद्गल के होते हैं और विविध प्रकार के शब्द हैं वह पुद्गल अर्थात् पुद्गल पर्याय है।

अमूर्त द्रव्यों के गुण

आगासस्सवगाहो धम्मदव्वस्स गमणहेदुत्तं।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो ठाणकारणादा ॥९२॥
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणोभणिदो।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तप्पहीणाणं ॥९३॥

अर्थ—आकाश का अवगाह, धर्म द्रव्य का गति हेतुत्व, और अधर्म द्रव्य का गुण स्थानकारणता है। काल का गुण वर्तना है, आत्मा का गुण उपयोग कहा है। इस प्रकार अमूर्त द्रव्यों के गुण संक्षेप से जानना चाहिये।

द्रव्य का प्रदेशत्व अप्रदेशत्व भेद

जीवा पोग्गलकाया धम्माऽधम्मा पुणो य आगासं।
सपदेसेहिं असंखादा णत्थि पदेस त्ति कालस्स ॥९४॥

अर्थ—जीव पुद्गलकाय धर्म अधर्म और आकाश स्वप्रदेशों की अपेक्षा असंख्यात अर्थात् अनेक हैं काल के प्रदेश नहीं हैं।

भावार्थ—जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाश अनेक प्रदेश वाले होने से प्रदेशवान है। कालाणु प्रदेश मात्र होने से अप्रदेशी है। जीव धर्म अधर्म असंख्यात प्रदेशी हैं। आकाश द्रव्य अनंत प्रदेशी है। पुद्गल संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेशी हो जाते हैं।

सब द्रव्यों का कितने प्रदेश है।

संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स।
धम्माधम्मस्स पुणो जीवस्स असंख देसाहु ॥९५॥
लोयायासे ताव इदरस्स अणंतयं हवे देहो।
कालस्स ण कायत्तं एयपदेसो हवे जम्हा ॥९६॥

अर्थ—मूर्त द्रव्यों का संख्यात असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं, धर्म अधर्म और जीव के वास्तव असंख्यात प्रदेश हैं।

लोकाकाश में धर्म अधर्म और जीव की भाँति (असंख्यात प्रदेश) हैं शेष जो अलोकाकाश उसके अनंत प्रदेश है। काल को कायपना नहीं है क्योंकि वह एक प्रदेशी है।

प्रदेश का लक्षण

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं ॥९७॥

अर्थ—एक परमाणु जितने आकाश में रहता है इतने आकाश को आकाश प्रदेश के नाम से कहा गया है और वह (प्रदेश) समस्त परमाणुओं के अवकाश देने को समर्थ है।

टीका—आकाश का एक परमाणु से व्याप्त अंश आकाश प्रदेश है और वह एक (आकाश प्रदेश) भी शेष पाँच द्रव्यों के प्रदेशों को तथा सूक्ष्मता रूप से परिणमित अनन्त परमाणुओं के स्कन्धों को अवकाश देने में समर्थ है। आकाश अविभाग (अखण्ड) एक द्रव्य है फिरभी उसमें (प्रदेश रूप) अंश कल्पना हो सकती है क्योंकि यदि ऐसा न हो तो सर्व परमाणुओं को अवकाश देना नहीं बन सकेगा।

आत्मा अमूर्त होते हुए भी कर्म का बन्ध क्यों होता है

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि ॥९८॥

अर्थ—जैसे रूपादि रहित, (जीव) रूपादि को द्रव्य को तथा गुण को देखता है और जानता है उसी प्रकार उसके साथ (अरूपी का रूपो के साथ) बंध जानो।

टीका—रूपादि रहित (जीव) रूपी द्रव्यों को तथा उनके गुणों को देखता है, तथा जानता है उसी प्रकार रूपादि रहित (जीव) रूपी कर्म पुद्गलों के साथ बंधता है क्योंकि यदि ऐसा न हो तो यहाँ भी (देखने जानने के सम्बन्ध में भी) यह प्रश्न अनिवार्य है कि अमूर्त मूर्त को कैसे देखता जानता है ?

समाधान—आत्मा अरूपित्व के कारण स्पर्श शून्य है इसलिये उसका कर्म पुद्गलों के साथ सम्बन्ध नहीं है तथापि एकावगाह रूप से रहने वाले कर्म पुद्गल जिनके निमित्त है ऐसे उपयोगारूढ राग द्वेषादि भावों के साथ का सम्बन्ध कर्म पुद्गलों के साथ के बंधरूप व्यवहार का साधक अवश्य है।

जीव परद्रव्यों का कर्त्ता नहीं है तो भी उसको कर्म बन्ध क्यों पड़ता है

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः,
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिः श्छुरितभुवनाभोगभवनः ।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बंधः प्रकृतिभिः,
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ॥९९॥

अर्थ - जो निज रस से विशुद्ध है और जिसकी स्फुरायमान होती हुई चैतन्य ज्योतियों के द्वारा लोक का समस्त विस्तार व्याप्त हो जाता है ऐसा जिसका स्वभाव है ऐसा यह जोव पूर्वोक्त प्रकार से (पर द्रव्यों का व परभावों का) अकर्त्ता सिद्ध हुआ तथापि उसे इस जगत में कर्म प्रकृतियों के साथ यह (प्रगट) बंध होता है सो वह वास्तव में अज्ञान की कोई गहन महिमा स्फुरायमान है।

ज्ञानाधिकार

जीव द्रव्य काल क्षण

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो ।
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि ॥१००॥

अर्थ—ज्ञान और दर्शन से युक्त ऐसा वास्तव में दो प्रकार का उपयोग जीव के सर्व काल अनन्यरूप से जानो ।

जीवो उवओगमओ उवओगो णाण दंसणो होई ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विभाव णाणं त्ति ॥१०१॥

अर्थ—जीव उपयोग मय है उपयोग ज्ञान दर्शन है ज्ञानोपयोग दो प्रकार का है, स्वभाव ज्ञान विभाव ज्ञान ।

स्वभाव विभाव ज्ञान

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं त्ति ।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥१०२॥

सण्णाणं चउभेयं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं ।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव ॥१०३॥

अर्थ—जो ज्ञान केवल, इन्द्रिय रहित और असहाय है, वह स्वभाव ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान और मिथ्या ज्ञान भेद किये जाने पर विभाव ज्ञान दो प्रकार का है।

सम्यग्ज्ञान चार भेद वाला है मति श्रुत अवधि तथा मनः पर्याय और अज्ञान (मिथ्याज्ञान) मति आदि के भेद से तीन भेद वाला है।

भावार्थ—मिथ्या दर्शन के कारण मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधि-ज्ञान को मिथ्या ज्ञान कहा जाता है किन्तु ज्ञान की अपेक्षा से देखा जावे तो ज्ञान तो ज्ञान ही है। ज्ञान हीन परिणमन करने के कारण विभाव ज्ञान कहा जाता है किन्तु जो ज्ञान का उघाड़ है वह तो ज्ञान की स्वभावी पर्याय है। पर पदार्थ देखने की अपेक्षा से परोक्ष ज्ञान कहा जाता है किन्तु आत्मानुभूति की अपेक्षा ज्ञान की सर्व पर्याय प्रत्यक्ष है। बारहवें गुणस्थान में मतिज्ञान की हीन अवस्था वीतराग भाव का अनुभव करता है वही अनुभव तेहरवें गुणस्थान में सर्वज्ञ केवलज्ञान से करता है अनु-भव में कोई अन्तर नहीं है।

स्वभाव विभाव दर्शनोपयोग

तह दंसण उवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो ।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं ॥१०४॥

अर्थ—उसी प्रकार दर्शनोपयोग स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का है। जोकि केवल इन्द्रिय रहित और असहाय है वह स्वभाव दर्शनोपयोग कहा है।

चक्खुअचक्खु ओहि तिण्णिवि भणिदं विभाव दिच्छित्ति ।
पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ।।१०५।।

अर्थ—चक्षु अचक्षु और अवधि दर्शन यह तीनों विभाव दर्शन कहे गये हैं। पर्याय द्विविध है स्वपरापेक्ष और निरपेक्ष।

प्रत्यक्ष और परोक्षज्ञान की व्याख्या

जं परदो विण्णामं तं तु परोक्ख त्ति भणिदमट्ठेसु ।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ।।१०६।।

अर्थ—पर के द्वारा होने वाला जो पदार्थ सम्बन्धी विज्ञान वह तो परोक्ष कहा गया है, यदि मात्र जीव के द्वारा ही जाना जावे तो वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।

टीका—निमित्तता को प्राप्त जो परद्रव्यभूत अन्तःकरण (मन) इन्द्रिय, परोपदेश उपलब्धि संस्कार या प्रकाशादि हैं उनके द्वारा होने वाला स्वविषयभूत पदार्थ का ज्ञान परके द्वारा प्रगट होता है, इसलिये "परोक्ष" के रूप में जाना जाता है और अन्तःकरण, इन्द्रिय, परोपदेश, उपलब्धि, संस्कार या प्रकाशादिक सब परद्रव्य की अपेक्षा रखे बिना एकमात्र आत्म स्वभाव को ही कारण रूप से ग्रहण करके सर्व द्रव्य पर्यायों के समूह में एक समय ही व्याप्त होकर प्रवर्त्तमान ज्ञान केवल आत्मा के द्वारा ही उत्पन्न होता है इसलिये "प्रत्यक्ष" के रूप में जाना जाता है।

इन्द्रिय ज्ञान की पराधीनता

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणादि वा तण्णजाणादि ॥१०७॥

अर्थ—स्वयं अमूर्त जीव मूर्त शरीर को प्राप्त होता हुआ मूर्त शरीर के द्वारा योग्य मर्त पदार्थ को अवग्रह करके जानता है अथवा नहीं जानता (कभी जानता है और कभी नहीं जानता,।

टीका—इन्द्रिय ज्ञान को उपलम्भक (जानने में निमित्त) भी मूर्त है और उपलभ्य (जानने योग्य) भी मूर्त है। वह इन्द्रिय ज्ञान वाला जीव स्वयं अमूर्त होने पर भी मूर्त पंचेन्द्रियात्मक शरीर को प्राप्त होता हुआ, 'ज्ञप्ति उत्पन्न करने में बलधारण का निमित्त होने से जो उपलम्भक है ऐसे उस मूर्त (शरीर) के द्वारा मूर्त स्पर्शादि प्रधान वस्तु को जो कि योग्य हो अर्थात् जो (इन्द्रियों के द्वारा) उपलभ्य हो उसे अवग्रह करके, 'कदाचित् उसके ऊपर-ऊपर की शुद्धि के सद्भाव के कारण उसे जानता है और कदाचित् अवग्रह से ऊपर ऊपर की शुद्धि की असद्भाव के कारण नहीं जानता, क्योंकि वह (इन्द्रय ज्ञान) परोक्ष है। परोक्षज्ञान चैतन्य सामान्य के साथ (आत्मा का) अनादि सिद्ध सम्बन्ध होने पर भी जो अति दृढतर अज्ञान रूप तमोग्रन्थि (अन्धकार समूह) द्वारा आवृत हो गया है, ऐसा आत्मा पदार्थ को स्वयं जानने के लिये असमर्थ होने से उपात्त और अनुपात्त परपदार्थ रूप सामग्री को ढूंढने की व्यग्रता से अत्यन्त चंचल-तरल-अस्थिर वर्तता हुआ अनन्तशक्ति से च्युत होने से अत्यन्त विकल (खिन्न) वर्तता हुआ महामोहमल्ल के जीवित होने से पर परिणति का (परको परिर्णामत करने का) अभिप्राय करने पर भी पद पद पर ठगाता

हुआ परमार्थतः अज्ञान में गिने जाने योग्य है। इसलिये वह हेय है।

इन्द्रिय ज्ञान को हीनता

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति ।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ।।१०८।।

अर्थ—स्पर्श, रस, गंध वर्ण और शब्द पुद्गल है। वे इन्द्रियों के विषय है (परन्तु) वे इन्द्रियाँ उन्हें भी एक साथ ग्रहण नहीं करती नहीं जान सकती।

टीका—मुख्य है स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शब्द जो कि पुद्गल है। वे इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं। (किन्तु) इन्द्रियां के द्वारा वे भी एक साथ ग्रहण नहीं होते क्योंकि क्षयोपशम कीं उस प्रकार की शक्ति नहीं है। इन्द्रियों के जो क्षयोपशम नाम की अन्तरङ्ग ज्ञातृ शक्ति है वह कौवे की आँख की पुतली की भाँति क्रमिक प्रवृत्ति वाली होने से अनेकता प्रकाश के लिये (एक ही साथ अनेक विषयों को जानने के लिये) असमर्थ है इसलिये द्रव्येन्द्रिय द्वारों के विद्यमान होने पर भी समस्त इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान एक ही साथ नहीं होता क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष है।

इन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्धं तेहिं कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ।।१०९।।

अर्थ—वे इन्द्रियाँ पर द्रव्य है उन्हें आत्म स्वभाव रूप नहीं कहा है, उनके द्वारा ज्ञात आत्मा का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है।

टीका—जो केवल आत्मा के प्रति ही नियत हो वह ज्ञान वास्तव में प्रत्यक्ष है। जो भिन्न अस्तित्व वाली होने से परद्रव्यत्व को प्राप्त हुई है और आत्म स्वभावत्व को किंचित् मात्र स्पर्श नहीं करती ऐसी इन्द्रियों के द्वारा वह (इन्द्रिय ज्ञान) उपलब्धि करके उत्पन्न होता है इसीलिये वह (इन्द्रिय ज्ञान) आत्मा के लिये प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

इन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान में भेद

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।

पलयं गयं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥११९॥

अर्थ—जो अप्रदेश को सप्रदेश को मूर्त को अमूर्त को तथा अनुत्पन्न और नष्ट पर्याय को जानता है वह ज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान कहा गया है।

टीका—इन्द्रिय ज्ञान उपदेश, अन्तःकरण और इन्द्रिय इत्यादि को विरूपकारणता (ज्ञान के स्वरूप से भिन्न स्वरूप वाला) से और उपलब्धि (क्षयोपशम), संस्कार इत्यादि को अंतरङ्ग स्वरूप कारणता से ग्रहण करके प्रवृत्त होता है और वह प्रवृत्त होता हुआ सप्रदेश को ही जानता है-क्योंकि वह स्थूल को ही जानने वाला है अप्रदेश को नहीं जानता वह मूर्त को ही जानता है क्योंकि वैसे (मूर्तिक) विषय के साथ उसका सम्बन्ध है वह अमूर्त को नहीं जानता वह वर्तमान को ही जानता है क्योंकि विषय विषयी के सन्निपात सद्भाव है वह प्रवर्तित हो चुकने वाले को और भविष्य में प्रवृत्त होने वाले को नहीं जानता। परन्तु जो अनावरण अनिन्द्रिय ज्ञान है उसे अपने अप्रदेश सप्रदेश मूर्त और अमूर्त तथा अनुत्पन्न एवं व्यतीत पर्याय मात्र ज्ञेयता का अतिक्रमण न करने से ज्ञेय

हो है. जैसे प्रज्वलित अग्नि को अनेक प्रकार का ईन्धन दाह्यता का अतिक्रमण न करने से दाह्य ही है।

भावार्थ—मतिज्ञान श्रुतज्ञान की जो लब्धि मिलि है उसका उपयोग इन्द्रिय और मन के द्वारा ही कर सकता है यदि मन, इन्द्रियाँ विगड़ जावे तो देख नहीं सकता इसलिये मतिज्ञान श्रुतज्ञान दोनों देश से अर्थात् इन्द्रिय और मन से पराधीन है इसलिए परोक्ष है। अवधिज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान दोनों मन की सहायता विना देख नहीं सकता इस अपेक्षा एकदेश परोक्ष है किन्तु उनमें इन्द्रिय की सहायता की जरूरत नहीं पड़ती इस अपेक्षा से एक देश प्रत्यक्ष है। केवल ज्ञान में इन्द्रिय और मन की सहायता की जरूरत नहीं पड़ती जिससे वह साक्षात प्रत्यक्ष है

केवल ज्ञान

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥१११॥

अर्थ—वास्तव में ज्ञान रूप से परिणमित होते हुये केवली भगवान के सर्व द्रव्य पर्यायें प्रत्यक्ष हैं वे उन्हें अवग्रहादि क्रियाओं से नहीं जानते।

टीका—केवली भगवान इन्द्रियों के आलम्बन से अवग्रह ईहा अवाय पूर्वक क्रम से नहीं जानते (किन्तु) स्वयंमेव समस्त आवरण के क्षयके क्षण ही अनादि अनंत अहेतुक और असाधारण ज्ञान स्वभाव को ही कारण रूप से ग्रहण करने से तत्काल ही प्रगट होने वाले केवलज्ञानोपयोग रूप होकर परिणमित होते है इसलिये उनके समस्त, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का अक्रमिक ग्रहण होने से समक्ष संवेदन की आलम्बनभूत समस्त द्रव्य पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं।

केवल ज्ञान में कुछ भी परोक्ष नहीं है

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुण समिद्धस्स ।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ।।११२।।

अर्थ – जो सदा इन्द्रियातीत हैं जो सर्व ओर से सर्व इन्द्रिय गुणों से समृद्ध हैं, और जो स्वयंमेव ज्ञान रूप हुये हैं, उन (केवली भगवान्) को कुछ भी परोक्ष नहीं है।

टीका – समस्त आवरण के क्षय के क्षण ही जो (भगवान) सांसारिक ज्ञान को उत्पन्न करने के बल को कार्यरूप देने में हेतुभूत अपने-अपने निश्चित विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों से अतीत हुये हैं, जो स्पर्श-रस गंध वर्ण और शब्द के ज्ञान रूप सर्वइन्द्रिय गुणों के द्वारा सर्व ओर से समस्त रूप से समृद्ध हैं और जो स्वयंमेव समस्त रूप से स्वपर के प्रकाश करने में समर्थ अविनाशी लोकोत्तर ज्ञानरूप हुये हैं, ऐसे इन (केवली) भगवान को समस्त द्रव्य क्षेत्र काल भाव का अक्रमिक ग्रहण होने से कुछ भी परोक्ष नहीं है।

भावार्थ—छद्मस्थ के देखने में भूत भविष्य वर्तमान का जो भेद पड़ता है ऐसा भेद केवलज्ञान में नहीं है। परमार्थ से विचारा जाय तो भूत भविष्य है ही नहीं वह तो केवल रागी जीव की कल्पना है क्योंकि पदार्थ तो उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है उसमें भूत भविष्य है ही नहीं। पदार्थ जब देखो तब अपनी अनंत शक्ति सहित है। अखण्ड है। उसमें भेद कल्पना करना वह व्यवहारनय का कथन है जो कथन अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, पदार्थ तीनों काल अखण्ड अभेद है ऐसी ही श्रद्धा कार्यकारी है। केवली भगवान तो अपने स्वरूप में गुप्त है। ज्ञान में ज्ञेय झलकता है यह भी उपचार का कथन है क्योंकि झलकना प्रतिबिम्ब पड़ना

यह तो पुद्गल द्रव्य की पर्याय है अमूर्त पदार्थ में झलकना कहना केवल उपचार है वही बात दृष्टाँत से आचार्य समझाते हैं—

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होई ।
तह जाणओ दु ण परस्स आणओ जाणओ सो दु ॥११३॥

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होई ।
तह पासओ दु ण परस्स पासओ पासओ सो दु ॥११४॥

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होई ।
तह संजओ दु ण परस्स संजओ संजओ सो दु ॥११५॥

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होई ।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥११६॥

एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्तं ।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥११७॥

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं जाणइ णाया वि सयेण भावेण ॥११८॥

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं पस्सई जीवो वि सयेण भावेण ॥११९॥

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं विजहई णाया वि सयेण भावेण ॥१२०॥

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं सद्दहइ सम्मदिट्ठी सहावेण ॥१२१॥

एवं ववहारस दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते ।
भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमवे णायव्वो ।।१२२।।

अर्थ—जैसे खड़िया मिट्टी या पोतने का चूना या कलई परकी (दीवाल आदि की) नहीं है कलई वह तो कलई ही है उसी प्रकार ज्ञायक (जानने वाला आत्मा) परका (परद्रव्य का) नहीं है ज्ञायक वह तो ज्ञायक ही है। जैसे कलई परकी नहीं है कलई वह तो कलई ही है, उसी प्रकार दर्शक (देखने वाला आत्मा) परका नहीं है दर्शक तो दर्शक ही है। जैसे कलई परकी नहीं है कलई वह तो कलई ही है उसी प्रकार संयत त्याग करने वाला आत्मा) परका नहीं है संयत वह तो संयत ही है। जैसे कलई परकी नहीं है कलई वह तो कलई ही है उसी प्रकार दर्शन अर्थात् श्रद्धान परका नहीं है दर्शन वह तो दर्शन ही है अर्थात् श्रद्धान वह तो श्रद्धान ही है। इस प्रकार दर्शन ज्ञान चारित्र निश्चयनय का कथन है।

और उस सम्बन्ध में संक्षेप से व्यवहारनय का कथन सुनो।

जैसे कलई अपने स्वभाव से (दीवाल आदि) पर द्रव्य को सफेद करती है उसी प्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभाव से पर द्रव्य को जानता है। जसे कलई अपने स्वभाव से पर द्रव्य को सफेद करती है उसी प्रकार जीव भी अपने स्वभाव से पर द्रव्य को देखता है। जैसे कलई अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है उसी प्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को त्यागता है। जैसे कलई अपने स्वभाव से पर द्रव्य को सफेद करती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने स्वभाव से पर द्रव्य को श्रद्धान करता है। इसी प्रकार ज्ञान दर्शन चारित्र में व्यवहारनय का निर्णय कहा है अन्य पर्यायों में भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

भावार्थ—शुद्धनय से आत्मा एक चेतना मात्र स्वभाव है।

उसके परिणाम जानना देखना श्रद्धा करना निवृत्त होना इत्यादि हैं। वहाँ निश्चयनय से विचार किया जावे तो आत्मा को पर-द्रव्य का ज्ञायक नहीं कहा जा सकता दर्शक नहीं कहा जा सकता श्रद्धान करने वाला नहीं कहा जा सकता, त्याग करने वाला नहीं कहा जा सकता क्योंकि पर द्रव्य और आत्मा के निश्चय से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जो ज्ञान दर्शन श्रद्धान त्याग इत्यादि भाव हैं वे स्वयं ही है भाव भावक भेद कहना वह भी व्यवहार असत्यार्थ ही है। निश्चय से भाव और भाव करने वाला भेद नहीं है।

अब व्यवहारनय के सम्बन्ध में व्यवहारनय से आत्मा को पर द्रव्य का ज्ञाता दृष्टा श्रद्धान करने वाला, त्याग करने वाला कहा जाता है क्योंकि पर द्रव्य और आत्मा के संसार अवस्था में निमित्त नैमित्तिक भाव है। ज्ञानादि भावों का पर द्रव्य निमित्त होता है, इसलिये व्यवहारी जन कहते हैं कि आत्मा पर द्रव्य को जानता है, पर द्रव्य को देखता है, पर द्रव्य का श्रद्धान करता है पर द्रव्य का त्याग करता है। और व्यवहार नय निश्चयनय का कथन देखिये—

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तुववहारो ॥१२३॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा में दंसणं चरित्तं च।
आदापच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥१२४॥

अर्थ—आचारागादि शास्त्र ज्ञान है, जीवादि तत्व दर्शन है जानना चाहिये तथा छह जीव निकाय चारित्र है ऐसा तो व्यवहारनय कहता है। निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान है। मेरा आत्मा ही दर्शन है और चारित्र है मेरा आत्माही प्रत्याख्यान है और मेरा आत्मा ही संवर योग्य है।

टीका—आचारांगादि शब्द श्रुतज्ञान है क्योंकि वह (श्रुतशब्द) ज्ञान का आश्रय है, जीवादि नव पदार्थ दर्शन है क्योंकि वह दर्शन के आश्रय हैं और छह जीव निकाय चारित्र है क्योंकि वह चारित्र का आश्रय है इस प्रकार व्यवहार है। शुद्ध आत्मा ज्ञान है, क्योंकि वह ज्ञान का आश्रय है, शुद्ध आत्मा दर्शन है, क्योंकि वह दर्शन का आश्रय है और शुद्ध आत्मा चारित्र है क्योंकि वह चारित्र का आश्रय है इस प्रकार निश्चय है। इनमें व्यवहारनय प्रतिषेध्य अर्थात् निषेध्य है क्योंकि आचारांगादिक का ज्ञानादिक का आश्रयत्व अनैकान्तिक है और निश्चयनय व्यवहारनय का प्रतिषेधक है, क्योंकि शुद्ध आत्मा के ज्ञानादिक आश्रयत्व एकान्तिक है।

भावार्थ—आचारांगादिक शब्द श्रुत का ज्ञान, जीवादि नव पदार्थों का ज्ञान तथा छह काय के जीवों की रक्षा इत्यादिक के होते हुये भी अभव्य आत्मा के ज्ञान दर्शन चारित्र नही होते इसलिये व्यवहारनय निषेध्य है। और जहाँ शुद्धात्मा होता है वहाँ ज्ञान दर्शन चारित्र होता है। इसलिये निश्चयनय व्यवहार का निषेधक है। अतः शुद्धनय उपादेय कहा गया है, तो भी अभूतार्थ, असत्यार्थ कहने वाले व्यवहारनय के कथन को सत्य मानता है वह मिथ्यात्व है—प्रत्येक पदार्थ का परमार्थ स्वरूप अखण्ड है खण्ड रूप तो है ही नहा तब ज्ञान परमार्थ जाने या कल्पना जाने। शान्ति के साथ विचारना चाहिये। श्रुत ज्ञान और केवल ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है, मात्र प्रत्यक्ष परोक्ष का ही अंतर है। जो श्रुतज्ञानी कहेगा, वही तो केवल ज्ञानी कहेगा। नवीन कहाँ से कहेगा। ज्ञान की कोई महिमा जिनागम में नहीं, महिमा तो वीतराग भाव की है। प्रत्येक जीव का पुरुषार्थ सुख के लिये है ज्ञान के लिये नहीं। जो जीव सर्वज्ञ को मानते ही नहीं उसको

समझाने के लिये केवल ज्ञान की महिमा दिखाई है परमार्थ से नहीं है। पूजा भी चारित्र की होती है ज्ञान की नहीं। गुणस्थान भी चारित्र ऊपर है ज्ञान ऊपर गुणस्थान नहीं है।

श्रद्धान निश्चयनय का करना चाहिये या व्यवहारनय का इस विषय में आचार्य का क्या कहना है वह देखना चाहिये।

ववहारोऽभूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवई जीवो ॥१२५॥

अर्थ—व्यवहारनय (का कथन) अभूतार्थ है और शुद्धनय (का कथन) भूतार्थ है ऐसा ऋषीश्वरों ने बताया है, जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।

टीका—व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ है इसलिये वह अविद्यमान असत्य अर्थ को प्रगट करता है, इसलिये जो शुद्धनय का आश्रय लेते हैं वे ही सम्यक् अवलोकन करने से सम्यग्दृष्टि है दूसरे सम्यग्दृष्टि नहीं है।

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयासिद्धा पुण मुणिणोपायंति णिव्वाणं ॥१२६॥

अर्थ—इस प्रकार (पराश्रित) व्यवहारनय निश्चयनय के द्वारा निषिद्ध जान, निश्चयनय के आश्रित मुनि निर्वाण को प्राप्त होता है।

भावार्थ—व्यवहारनय का कथन श्रद्धान करने योग्य नहीं है, केवल निश्चयनय का कथन श्रद्धान करने योग्य है।

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवल णाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१२७॥

अर्थ—व्यवहारनय से केवली भगवान सब जानते हैं देखते हैं, और निश्चय से केवलज्ञानी आत्मा को (स्वयं को) जानता है और देखता है।

भावार्थ—व्यवहारनय पराश्रित है और निश्चयनय स्व-आश्रित है। व्यवहारनय उपचार मात्र है और निश्चयनय परमार्थ है। व्यवहारनय अङ्गीकार करने योग्य नहीं है। व्यवहार से बोला जावे कि भगवान लोकालोक देखते हैं किन्तु परमार्थनय से विचारा जावे तो केवली भगवान अपने ही गुण पर्याय को जानता देखता है अर्थात् अपने गुण पर्याय में लीन हैं। व्यवहारनय से बोला जाय की केवली भगवान स्व पर को जानता है निश्चय से विचारा जावे तो केवली भगवान का ज्ञान; ज्ञान गुण को जानता है और पर (अन्य) गुणों को जानता है।

अप्पसरूपं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं।
जइ कोई भणइ एवं तस्स किं दूसणं होई ॥१२८॥

अर्थ—निश्चयनय से केवली भगवान आत्मस्वरूप को देखते हैं, लोका लोक को नहीं - ऐसा यदि कोई कहे तो उसे क्या दोष है ? (अर्थात् कुछ दोष नहीं है)।

भावार्थ—निश्चयनय भूतार्थ है सत्याथ है श्रद्धान करने योग्य है। निश्चय से केवली भगवान लोका लोक को देखते ही नहीं केवल अपने को देखते है यह श्रद्धान करना योग्य है।

लोयालोयं जाणई अप्पाणं णेव केवली भगवं।
जइ कोई भणइ एवं तस्सय किं दूसणं होई ॥१२९॥

अर्थ—(व्यवहारनय से) केवली भगवान लोका लोक को जानते है आत्मा को नहीं ऐसा यदि कोई कहे तो उसे क्या दोष है। (अर्थात् कोई दोष नहीं है)।

भावार्थ—व्यवहारनय से ऐसा बोला जावे की केवली भगवान लोकालोक देखता है, अपने आत्मा को नहीं देखता है, यह कथन केवल बोलने योग्य है, श्रद्धान करने योग्य नहीं है, क्योंकि व्यवहारनय अभूतार्थ है असत्यार्थ है श्रद्धा करने योग्य नहीं है तो भी जो जीव व्यवहार कथन को सत्यार्थ मानता है वह जीव अज्ञानी अप्रतिबुद्ध है।

वचन वर्गणा में न फसकर अपना हित कर लेना वही सार है

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयण विवादं सगपरसमएहिं विज्जज्जो ॥१३०॥

अर्थ—नाना प्रकार के जीव हैं नाना प्रकार के कर्म, नाना-प्रकार की लब्धि, (ज्ञान का क्षयोपशम) इसलिये स्वसमयो और पर समयों के साथ वचन विवाद वर्जने योग्य है।

भावार्थ— केवलनय विविक्षा की चर्चा में समय व्यतीत नहीं करना अपना हित करने की भावना रखना। राग द्वेष की निवृत्ति ही करना अपना हित है। जयवंत रहो वह वीतराग भाव जो समस्त आगम का सार है।

केवल ज्ञानियों का ज्ञान तथा दर्शनापयोग साथ में होता है

जुगवं वट्टई णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयर पयास तापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥१३१॥

अर्थ—केवल ज्ञानीयों को ज्ञान दर्शनोपयोग युगपत वर्तते हैं सूर्य के प्रकाश और ताप जिस प्रकार वर्तते हैं उसी प्रकार जानो।

भावार्थ—केवल ज्ञानियों को ज्ञान और दर्शनोपयोग एक साथ में ही होता है क्योंकि क्षायिकज्ञान में लब्धि और उपयोग का

भेद पड़ता ही नहीं है इस का यही कारण है कि क्षायिकज्ञान असहाय निर्पेक्ष है उसको इन्द्रिय और मन की सहायता लेनी ही नहीं पड़ती है, जब छद्‌मस्थोका ज्ञान क्षयोपशम ज्ञान है। क्षयो-पशम ज्ञान दर्शन में लब्धि और उपयोग का भेद पड़ता है। दोनों उपयोग पराधीन हैं अर्थात् इन्द्रिय और मन के आधीन है दोनों के लिये निमित्त कारण एक ही है, अर्थात् जब दर्शन इन्द्रियों द्वारा देखता है तब ज्ञान निमित्त के अभाव के कारण लब्धि रूप रहता है। जब ज्ञान इन्द्रियों द्वारा देखता है तब दर्शन निमित्त के अभाव के कारण लब्धि रूप रहता है। जब ज्ञान मतिज्ञान से देखता है तब श्रुतज्ञान लब्धि रूप रहता है। जब मतिज्ञान के अवान्तर में चक्षु द्वारा ज्ञान देखता है तब चक्षु इन्द्रिय में ज्ञान उपयोग रूप है और उसी समय और इन्द्रियों में ज्ञान लब्धि रूप है, यह तो छद्‌मस्थ ज्ञान की पराधीनता है।

केवल ज्ञान और श्रुत ज्ञान में अन्तर नहीं है

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुयकेवलीमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥१३२॥

अर्थ—जो वास्तव में श्रुतज्ञान के द्वारा स्वभाव से ज्ञायक (ज्ञायक स्वभाव) आत्मा को जानता है उसे लोक के प्रकाशक ऋषिश्वर श्रुत केवली कहते हैं।

टीका—जैसे भगवान युगपत परिणमन करते हुये समस्त चैतन्य विशेष युक्त केवल ज्ञान के द्वारा अनादि निधन निष्कारण असाधारण स्व संवेद्यमान चैतन्य सामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतक स्वभाव से एकत्व होने से केवल (अकेला शुद्ध अखण्ड) है ऐसे आत्मा को आत्मा से आत्मा में अनुभव करने

के कारण केवली है, उसी प्रकार हम (छद्मस्थ) भी क्रमशः परिणमित होते हुये कितने ही चैतन्य विशेषों से युक्त श्रुतज्ञान के द्वारा अनादि निधन निष्कारण असाधारण स्वसंवेद्यमान चैतन्य सामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतक स्वभाव के द्वारा एकत्व होने से केवल (अकेला) है, ऐसे आत्मा को आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण श्रुत केवली है। इसलिए विशेष आकांक्षा के क्षोभ से बस हो (हमतो) स्वरूप निश्चल ही रहते हैं।

भावार्थ –सम्यग्ज्ञानी जब अपने आत्मा को अनुभव करता है तब परद्रव्य को नहीं जानता है तब जो आत्मा अपने ही स्वरूप में लीन हो गया है वह क्या परद्रव्य को जानता देखता होगा? शान्ति से विचारना चाहिये। जिस प्रकार हम भी श्रुतज्ञान से आत्मानुभव करते हैं उसी प्रकार केवली भगवान केवलज्ञान के द्वारा आत्मानुभव करते हैं। श्रुत केवली और सर्वज्ञ केवली में कोई अन्तर नहीं है मात्र प्रत्यक्ष और परोक्ष का ही अन्तर है। केवलज्ञान की महिमा नहीं है, महिमा तो वीतराग भाव की है

निश्चय श्रुतकेवली और व्यवहार श्रुतकेवली

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवली सुद्धं।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा ॥१३३॥
जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुय केवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुयकेवली तम्हा ॥१३४॥

अर्थ—जो जीव निश्चय से श्रुत ज्ञान के द्वारा इस अनुभव गोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को सम्मुख होकर जानता है उसे लोक को प्रगट जानने वाले ऋषीश्वर श्रुत केवली कहते है, जो जीव

सर्व श्रुतज्ञान (शब्द ज्ञान) को जानता है उसे जिन देव श्रुतकेवली कहते हैं, क्योंकि ज्ञान सब आत्मा ही है इसलिये वह श्रुतकेवली है।

टीका—प्रथम जो श्रुत से केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं वह श्रुतकेवली हैं वह तो परमार्थ हैं, और जो सर्व श्रुतज्ञान को जानते हैं वह श्रुतकेवली हैं यह व्यवहार है।

भावार्थ—यहाँ श्रद्धा और ज्ञान की अपेक्षा से निश्चय और व्यवहार श्रुतकेवली कहा गया है। जिस जीव को आत्मानुभूति हो गई है वह निश्चय श्रुतकेवली है और जिस जीव को ११ अङ्ग और १४ पूर्व शब्द ज्ञान) ज्ञान क्षयोपशम है वह व्यवहार श्रुत केवली है। सब निश्चय सम्यग्दृष्टि को आत्मानुभूति हो गई है इसी कारण वह निश्चय श्रुतकेवलो है। किन्तु सब निश्चय सम्यग्दृष्टि को ११ अङ्ग १४ पूर्वका (शब्द ज्ञान) ज्ञान होवे वह निश्चित नहीं है क्योंकि वह तो ज्ञान के क्षयोपशम पर आधीन है। ११ अङ्ग नौ पूर्व का पाठी भी मिथ्यादृष्टि रह जाता है इससे वह ज्ञान के क्षयोपशम की मोक्ष मार्ग में महिमा नहीं है। इसलिये वह व्यवहार है।

जिनागम में उपचार का कथन बहुत है उसे उपचार मानना चाहिये, उसी को सत्य मानने से मिथ्यात्व रह जाता है। श्री धवल एवं गोमट्टसार ग्रन्थ में लिखा है क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति केवली और श्रुतकेवली के पादमूल में ही होती है वह उप-चार-व्यवहार का कथन है क्योंकि जिस जीव ने तीर्थंकर नाम कर्म की प्रकृति का बंधकर तीसरी नरक में गया है वह जीव वहीं नरक से क्षयोपशम सम्यग्दर्शन सहित ही जन्म लेता है। तीर्थंकर और कोई केवली या श्रुतकेवली के पाद मूल में जाता ही नहीं है

और उस पर्याय से उसको मोक्ष जाना है तब वह क्षायिक सम्यग्दर्शन कैसे करेगा ? क्षायिक सम्यग्दर्शन बिना श्रेणीमाड़कर क्षीणकषाय गुण स्थान में जा नहीं सकता, इससे सिद्ध होता है कि वह तीर्थंकर अपनी ही शक्ति से क्षायिक सम्यग्दृष्टि बन जाता है क्योंकि वह निश्चय श्रुतकेवली है, उसी प्रकार प्रत्येक सम्यग्दृष्टि आत्मा अपनी शक्ति से ही अपने ही पादमूल में क्षायिक सम्यग्दृष्टि बन सकता है।

जिनागम में अनेक उपचार का कथन है ऐसा कथन को सत्य नहीं मान लेना चाहिये कुछ अपने ज्ञान की भी महिमा लानी चाहिये।

श्रीधवल ग्रन्थ एवं श्री गोमट्टसार में ऐसा लिखा है कि ज्ञान परद्रव्य को ही जानता है आत्मा को नहीं जानता है और दर्शन आत्मा को ही जानता है परन्तु दर्शन परद्रव्यों को ही नहीं जानता है। ज्ञान स्व-पर प्रकाशक नहीं है किन्तु आत्मा स्व-पर प्रकाशक है। दर्शन की अपेक्षा स्व प्रकाशक है और ज्ञान की अपेक्षा से पर प्रकाशक है। इस बात का निषेध करने को श्री कुन्दकुन्द स्वामी को भी नियमसार ग्रन्थ में लिखना पड़ा है कि –

ज्ञान पर को ही जानता है और दर्शन स्व को ही जानता है यह ठीक नहीं है

णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव।
अप्पा सपरपयासो होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि ॥१३५॥

अर्थ—ज्ञान पर प्रकाशक ही है और दर्शन स्व प्रकाशक ही है, तथा आत्मा स्व पर प्रकाशक है ऐसा यदि वास्तव में मानते हो तो उसमें विरोध आता है।

भावार्थ—आगम ग्रन्थ में ऐसा कथन किया है कि ज्ञान पर प्रकाशक ही है और दर्शन स्व प्रकाशक ही है और आत्मा स्व पर प्रकाशक है, इसका यहां निर्णय किया है कि ऐसा स्वरूप नहीं है। यह आगम कथन को उपचार मानना चाहिये किन्तु परमार्थ नहीं मानना चाहिये। परमार्थ मानने से मिथ्यात्व रह जाता है।

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१३६॥

अर्थ—यदि ज्ञान पर प्रकाशक हो तो ज्ञान से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा, क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत नहीं है ऐसा वर्णन किया गया है।

अप्पा परप्पयासं तइया अप्पेण दंसणं भिणणं।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१३७॥

अर्थ—यदि आत्मा पर प्रकाशक है तो आत्मा से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत नहीं हैं ऐसा वर्णन किया गया है।

व्यवहारनय और निश्चयनय से ज्ञान किसको जानता है

णाणं परप्पयासं ववहारणयेण दंसणं तम्हा।
अप्पा परप्पयासो ववहारणयेण दंसणं तम्हा ॥१३८॥

अर्थ—व्यवहारनय से ज्ञान पर प्रकाशक है इसलिये दर्शन पर प्रकाशक है, व्यवहारनय से आत्मा पर प्रकाशक है इसलिये दर्शन पर प्रकाशक है।

णाणं अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।
अप्पा अप्पपयासो णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ॥१३९॥

अर्थ—निश्चयनय से ज्ञान स्व प्रकाशक है इसलिये दर्शन स्व प्रकाशक है। निश्चयनय से आत्मा स्व प्रकाशक हैं इसलिये दर्शन स्व प्रकाशक है।

भावार्थ—व्यवहारनय अभूतार्थ है असत्यार्थ है, इसलिये व्यवहारनय का श्रद्धान करने योग्य नहीं है। निश्चयनय भूतार्थ है सत्यार्थ हैं इसलिये निश्चयनय का कथन श्रद्धान करने योग्य है ऐसा वस्तु का स्वभाव है, तो भी जो जीव व्यवहारनय का कथन को सत्यार्थ मानता है वह जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है।

ज्ञान की महिमा

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां
नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोऽन्तः।
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा-
नालोकांतादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥१४॥

अर्थ—जिसका उद्योत (प्रकाश) नित्य है, ऐसी किसी परम वस्तु को अंतरंग में देखने वाले पुरुष को रागादि आस्रवों का शीघ्र ही सर्व प्रकार नाश होने से यह ज्ञान प्रगट हुआ कि जो ज्ञान अत्यंतात्यंत (अनंन्तानन्त) विस्तार को प्राप्त निज रस के प्रसार से सर्व भावों को व्याप्त कर देता है, वह ज्ञान प्रगट हुआ तभी से सदा काल अचल है अर्थात् प्रगट होने के पश्चात् सदा ज्यों का त्यों ही बना रहता है, चलायमान नहीं होता, वह ज्ञान अतुल है, उसके समान दूसरा कोई नहीं है।

शुद्धात्म की महिमा

बंधच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकांतशुद्धम।

एकाकारस्वरसभरतोऽत्यंतगंभीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥१४१॥

अर्थ—कर्म बन्ध के छुटने से अतुल अक्षय मोक्ष का अनुभव करता हुआ नित्य उद्योत वाली (जिसका प्रकाश नित्य है ऐसी) सहज अवस्था जिसकी खिल उठी है ऐसा एकान्त शुद्ध (कर्ममल के न रहने से अत्यंत शुद्ध) और एकाकार (समस्त ज्ञेयाकारों को गौंण करता हुआ एक ज्ञान मात्र आकार में परिणमित) निज रस की अतिशयता से जो अत्यंत गंभीर और धीर है ऐसा यह पूर्ण ज्ञान प्रकाशित हो उठा है। और अपनी अचल महिमा में लीन हुआ है।

पुद्गल द्रव्य

परमाणु का स्वरूप

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं वियाणाहि ॥१४२॥

अर्थ—स्वयं ही जिसका आदि है स्वयं ही जिसका मध्य है और स्वयं ही जिसका अन्त है, जो इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है और जो अविभागी है वह परमाणु द्रव्य जानों।

एयरसरूवगंधं दोफासं तं हवे सहावगुणं।
विहाव गुणमिदि भणिदं जिणसमये सव्वपयडत्तं ॥२४३॥

अर्थ—जो एकरस वाला एक वर्ण वाला एक गंध वाला और दो स्पर्श वाला हो वह स्वभाव गुण वाला है। विभाव गुण वाले

को जिन समय में सर्व प्रगट (सर्व इन्द्रियों से ग्राह्म) कहा है।

भावार्थ—परमाणु का सर्व परिणाम स्वभाव परिणमन है, जब वह स्कन्ध हो जाता है तब उसका परिणमन विभाव रूप है।

स्वभाव परिणमन विभाव परिणमन

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जावो ।
खंधसरुवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जायो ॥१४४॥

अर्थ—अन्य निरपेक्ष जो परिणाम वह स्वभाव पर्याय हैं और स्कन्धरूप परिणाम वह विभाव पर्याय है।

निश्चय पुद्गल द्रव्य

पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इदरेण ।
पोग्गलदव्वोत्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स ॥१४५॥

अर्थ—निश्चय से परमाणु को पुद्गल द्रव्य कहा जाता है और व्यवहार से स्कन्ध को पुद्गल द्रव्य ऐसा नाम होता है।

पुद्गल द्रव्यों के भेदों का कथन

अणुखंधवियप्पेण दु पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं ।
खंधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो ॥१४६॥

अर्थ—परमाणु और स्कन्ध ऐसे दो भेद से पुद्गल द्रव्य दो भेद वाला है। स्कन्ध वास्तव में छः प्रकार के हैं, और परमाणु के दो भेद हैं।

अइथूलथूल थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च ।
सुहुमं अइसुहमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं ॥१४७॥

भूपव्वदमादिया भणिया अइथूलथूलमिदि खंधा ।
थूला इदि विण्णेया सप्पी जलतेलमादिया ॥१४८॥
छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि ।
सुहुमथूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य ॥१४९॥
सुहुमा हवंति खंधा पावोग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो ।
तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंदि ॥१५०॥

अर्थ अतिस्थूल-स्थूल स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल-सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म ऐसे पृथ्वी आदि स्कन्धों के छह भेद हैं।

भूमि पर्वत आदि अति स्थूल स्थूल स्कन्ध कहे गये हैं। घी, जल, तेल आदि स्थूल स्कन्ध जानना।

छाया आताप आदि स्थूल सूक्ष्म स्कन्ध जानं और चार इन्द्रियों के विषयभूत स्कन्धों को सूक्ष्म स्थूल कहा गया है।

और कर्म वर्गणा के योग्य स्कन्ध सूक्ष्म हैं उनसे विपरीत (अर्थात् कर्म वर्गणा को अयोग्य) स्कन्ध सूक्ष्म सूक्ष्म कहे जाते हैं।

धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणंति तं णेयो ।
खंधाणां अवसाणो णादव्वो कज्जपरमाणू ॥१५१॥

अर्थ—जो (पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन) चार धातुओं का हेतु है वह कारण परमाणु जानना, स्कन्धों के अवसान को (पृथक् हुए अविभागी अन्तिम अंश को) कार्य परमाणु जानना।

पुद्गल द्रव्यास्ति काय का व्याख्यान

खंधा य खंधदेसा खंदपदेसा य होंति परमाणु ।
इदि ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा ॥१५२॥

अर्थ—पुद्गल कार्य के चार भेद जानना स्कन्ध, स्कन्ध देश, स्कन्ध प्रदेश और परमाणु।

खांधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसो त्ति।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणु चेव अविभागी ॥१५३॥

अर्थ—सकल समस्त (पुद्गल पिंडात्मक सम्पूर्ण वस्तु) वह स्कन्ध है, उसके अर्ध को देश कहते हैं। अर्ध का अर्ध वह प्रदेश है और अविभाग वह परमाणु है।

बादरसुहुमगदाणं खांधाणं पुग्गलो त्ति ववहारो।
ते होंति छप्पयारा तेलोक्कं जेहिं णिप्पण्णं ॥१५४॥

अर्थ—बादर और सूक्ष्म रूप से परिणत स्कन्धों को 'पुद्गल' ऐसा व्यवहार है। वे छः प्रकार के हैं जिससे तीन लोक निष्पन्न हैं।

टीका—छह प्रकार के स्कन्ध इस प्रकार हैं (१) बादर बादर (२) बादर (३) बादर सूक्ष्म (४) सूक्ष्म बादर (५) सूक्ष्म (६) सूक्ष्म सूक्ष्म। वहाँ काष्ठ पाषाणादि (स्कन्ध) जो कि छेदन होने पर स्वयं नहीं जुड़ सकते वे 'बादर बादर" है। (२) दूध घी तेल जल रस आदि (स्कन्ध) जो कि छेदन होने पर स्वयं जुड़ जाते हैं वे "बादर" है। (३) छाया धूप अन्धकार चाँदनी आदि (स्कन्ध) जो कि स्थूल ज्ञात होने पर भी जिनका छेदन भेदन अथवा ग्रहण नहीं किया जा सकता है, वे "बादर सूक्ष्म" हैं। (४) स्पर्श रस गंध शब्द जो कि सूक्ष्म होने पर भी स्थूल ज्ञात होते हैं वे 'सूक्ष्म बादर" है। (५) कर्म वर्गणादि (स्कन्ध) कि जिन्हें सूक्ष्मपना है, तथा जो इन्द्रियों से ज्ञात न हो ऐसे वे "सूक्ष्म" है। (६) कर्म वर्गणा के नीचे के द्विअणुक (स्कन्ध) जो कि अत्यन्त सूक्ष्म है वे "सूक्ष्म सूक्ष्म" है।

सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणु ।
सो सस्सदो अस्सद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो ॥१५५॥

अर्थ—सर्व स्कन्धों का जो अन्तिम भाग उसे परमाणु जानो वह अविभागी एक शाश्वत मूर्ति प्रभव और अशब्द है।

एयरसवण्णगन्धं दो फासं सद्दकारणमसद्दं ।
खधंतरिदं दव्वं परमाणु तं वियाणाहि ॥१५६॥

अर्थ—वह परमाणु एक रस वाला, एक वर्ण वाला, एक गंध वाला तथा दो स्पर्श वाला है, शब्द का कारण है अशब्द है और स्कन्ध के भीतर हो तथापि (परिपूर्ण स्वतन्त्र) द्रव्य है, ऐसा जानो।

टीका—सर्वत्र परमाणु में रस वर्ण गन्ध स्पर्श सहभावी गुण होते हैं, और वे गुण उसमें क्रमवर्ती निज पर्यायों सहित वर्तते हैं। वह इस प्रकार पांच रस पर्यायों में से कोई एक (रस पर्याय) सहित रस वर्तता है, पाँच वर्ण पर्यायों में से एक समय किसी एक वर्ण पर्याय सहित वर्ण वर्तता है, दो गन्ध पर्यायों में से एक समय किसी एक (गन्ध पर्याय, सहित गन्ध वर्तता है, शीत स्निग्ध, शीत रूक्ष, उष्ण स्निग्ध और उष्ण रूक्ष इन चार स्पर्श पर्यायों के युगल में से किसी एक युगल सहित स्पर्श वर्तता है। इस प्रकार जिसमें गुणों का वर्तन (अस्तित्व) कहा गया है, ऐसा यह परमाणु शब्द स्कन्द रूप से परिणमित होने की शक्ति रूप स्वभाव वाला होने से शब्द का कारण है। एक प्रदेशी होने के कारण शब्द पर्याय रूप परिणति न वर्तती होने से अशब्द है और स्निग्ध रूक्षत्व के कारण बंध होने से अनेक परमाणुओं की एकत्व परिणति रूप स्कन्ध के भीतर रहा हो तथापि स्वभाव को न छोड़ता हुआ संख्या को प्राप्त होने से अकेला ही द्रव्य है।

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो ।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादिगो णियदो ॥१५७॥

अर्थ—शब्द स्कन्ध जन्य है, स्कन्ध परमाणु दल का संघात है और वे स्कन्ध स्पर्शित होने-टकराने से शब्द उत्पन्न होता है इस प्रकार वह (शब्द) नियत रूप से उत्पाद्य है।

टीका—शब्द पुद्गल स्कन्ध पर्याय है ऐसा यहाँ दर्शाया है। इस लोक में बाह्य श्रवणेन्द्रिय द्वारा अवलम्बित भावेन्द्रिय द्वारा जानने योग्य ऐसी जो ध्वनि वह शब्द है। वह (शब्द) वास्तविक स्वरूप से अनंत परमाणुओं के एक स्कन्ध रूप पर्याय है। बहिरङ्ग साधन भूत महा स्कन्धों द्वारा तथाविध परिणाम रूप (शब्द परिणाम रूप) उत्पन्न होने से वह स्कन्ध जन्य है, क्योंकि महास्कन्ध परस्पर टकराने से शब्द उत्पन्न होता है। पुनश्च यह बात विशेष समझाई जाती है, एक दूसरे में प्रविष्ट होकर सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित ऐसी जो स्वभाव निष्पन्न ही (अपने स्वभाव से ही निर्मित) अनंत परमाणुमयी शब्द योग्य वर्गणाओं से समस्त लोक भरपूर होने पर भी जहाँ जहाँ बहिरङ्ग कारण सामग्री उदित होती है, वहाँ वहाँ ये वर्गणायें शब्द रूप से परिणमित होती है, इस प्रकार शब्द नियत रूप से (अवश्य) उत्पाद्य है इसलिये वह स्कन्ध जन्य है।

उवभोज्यमिंदिएहिं य इंदियकाया मणो य कम्माणि ।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुग्गलं जाणे ॥१५८॥

अर्थ—इन्द्रियों द्वारा उपभोग्य विषय, इन्द्रियाँ, शरीर, मन, कर्म और अन्य जो कुछ मूर्त हो वे सब पुद्गल जानो।

लोक पुद्गल पिण्ड से भरा है

ओगाढ़गाढ़णिचिदो पुग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो ।
सुहुमेहिं बादरेहि य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं ॥१५९॥

अर्थ—लोक सर्वतः सूक्ष्म तथा बादर तथा कर्मत्व के योग्य तथा अयोग्य पुद्गल स्कन्धों के द्वारा (विशिष्ट प्रकार से) अवगाहित होकर गाढ़ भरा हुआ है ।

परमाणु का स्कन्ध बनने का कारण

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा ।
समदो दुराधिगा जदि बज्झन्ति हि आदिपरिहीणा ॥१६०॥

अर्थ—परमाणु परिणाम स्निग्ध हों, या रुक्ष हो, सम (अंश वाले) हों, या विषम (अंश वाले) हों, यदि समान से दो अधिक अंश वाले हों तो बंधते हैं, जघन्यांश वाले नहीं बंधते ।

टीका—समान दो गुण (अंश) अधिक स्निग्धत्व या रुक्षत्व हो तो बंध होता है, यह उत्सर्ग (सामान्य नियम) है, क्योंकि स्निग्धत्व या रुक्षत्व द्विगुणाधिकता का होना परिणामक हैं, इसलिये बंध का कारण है । यदि एक गुण स्निग्धत्व या रुक्षत्व हो तो बंध नहीं होता यह अपवाद है, क्योंकि एक गुण स्निग्धत्व या रुक्षत्व के परिणयपरिणामकता का अभाव होने से बन्ध के कारणत्व का अभाव है ।

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि ।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो ॥१६१॥

अर्थ—स्निग्ध रूप से दो अंश वाला परमाणु चार अंश वाले स्निग्ध (अथवा रुक्ष) परमाणु के साथ बंध को अनुभव करता

(प्राप्त होता) है। अथवा रुक्ष रूक्ष से तीन अंश वाला परमाणु पाँच अंश वाले के साथ युक्त होता हुआ बन्धता है।

धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकायादि

धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं।
लोगागाढं पुट्ठं पिहुलमसंखादियपदेसं ।।१६२।।

अर्थ—धर्मास्तिकाय अस्पर्श, अरस, अगंध, अवर्ण और अशब्द है, लोक व्यापक है, अखण्ड है, विशाल और असंख्यात प्रदेशी है।

अगुरुगलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं।
गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ।।१६३।।

अर्थ—वह धर्मास्तिकाय अनंत ऐसे जो अगुरुलघु (गुण अंश) उन रूप सदैव परिणमित होता है नित्य है, गति क्रियायुक्त और कारणभूत (निमित्त रूप) है, और स्वयं अकार्य है।

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहकरं हवदि लोए।
तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणाहि ।।१६४।।

अर्थ—जिस प्रकार जगत में पानी मच्छलियों को गमन में अनुग्रह करता है उसी प्रकार धर्मद्रव्य जीव पुद्गलों को गमन में अनुग्रह करता है ऐसा जानो।

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ।।१६५।।

अर्थ—जिस प्रकार धर्म द्रव्य है उसी प्रकार अधर्म नाम का द्रव्य भी जानो, परन्तु (गति क्रिया युक्त को कारण भूत होने

के बदले) स्थिति क्रिया युक्त को पृथ्वी की भांति कारण भूत है (अर्थात् स्थिति क्रिया परिणत जीव पुद्गलों को निमित्त भूत है)।

जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी।
दो वि य मया विभत्ता अविभत्ता लोयमेत्ता य ॥१६६॥

अर्थ—(जीव पुद्गल की) गति स्थिति तथा अलोक लोक का विभाग उन दो द्रव्यों के सद्भाव से होता है, और वे दोनों विभक्त अविभक्त और लोक प्रमाण कहे गये हैं।

टीका—धर्म अधर्म दोनों परस्पर पृथग्भूत अस्तित्व से निष्पन्न होने से विभक्त (भिन्न) है, एकक्षेत्रावगाही होने से अविभक्त (अभिन्न) है, समस्त लोक में प्रवर्त्तमान जीव पुद्गलों को गति-स्थिति में निष्क्रिय रूप से अनुग्रह करते हैं, इसलिये लोक प्रमाण है।

ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स।
हवदि गदि स्स प्पसरो जीवाणं पुग्गलाणं च ॥१६७॥

अर्थ—धर्मास्तिकाय गमन नहीं करता और अन्य द्रव्य को गमन नहीं कराता, वह, जीव तथा पुद्गलों को (गति परिणाम में आश्रय मात्र रूप होने से) गति का उदासीन प्रसारक (अर्थात् गति प्रसार में उदासीन निमित्त भूत) है।

टीका—धर्म और अधर्म गति और स्थिति के हेतु होने पर भी वे अत्यन्त उदासीन है ऐसा यहाँ कथन है। जिस प्रकार गति-परिणत पवन ध्वजाओं के गति परिणाम के हेतु कर्त्ता दिखाई देता है उसी प्रकार धर्म द्रव्य नहीं है।

भावार्थ—निमित्त शब्द का प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है। १—उपादान में जैसी परिणति होती है वैसी परिणति निमित्त

में होती ही नहीं है ऐसा निमित्त को उदासीन निमित्त वाह्य निमित्त अवद्ध नोकर्म निमित्त कहा जाता है। जैसी जीव पुद्गल में गमन क्रिया होती है वैसी गमन क्रिया धर्मास्तिकाय में होती ही नहीं है, ऐसी परिणति में उपादान की ही मुख्यता है। परिणति करना या नहीं करना वह निमित्त के आधीन नहीं है किन्तु उपादान के ही आधीन है। २—निमित्त में जैसी अवस्था होती है वैसी ही अवस्था (अन्य द्रव्य) नैमित्तिक में होती है ऐसा निमित्त को प्रेरक निमित्त, अंतरंग निमित्त तथा वद्ध कर्म नोकर्म कहा जाता है। इसी का नाम निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध में निमित्त के अनुसार नैमित्तिक अवस्था होती है इसमें निमित्त को ही मुख्यता है नैमित्तिक पराधीन है। जैसे (ज्ञानावरण कर्म और ज्ञान गुण) जितने ज्ञानावरण कर्म का अभाव होगा उतने ही ज्ञान का विकास होगा और जितना ज्ञानावरण कर्म का आवरण होगा उतना ही ज्ञान ढका होगा। ज्ञान की लब्धि होने पर भी यदि आँख में मोतिया बिन्दु हो जावे तो ज्ञान उपयोग रूप नहीं हो सकता है। यद्यपि ज्ञान में योग्यता है तो भी देख नहीं सकता। धर्मास्तिकाय वाह्य उदासीन निमित्त है। जीव पुद्गल गमन करे तो निमित्त बोला जावे यदि जीव पुद्गल गमन न करे तो जबर-दस्ति से गमन करता नहीं है।

गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपुग्गलाणं च।
अवगहणं आयासं जीवादीसव्वदव्वाणं ॥१६८॥

अर्थ—धर्म द्रव्य जीव पुद्गल को गमन का निमित्त है, और अधर्म द्रव्य (उन्हें) स्थिति का निमित्त है, आकाश द्रव्य जीवादि सर्व द्रव्यों को अवगाहन का निमित्त है।

आकाश द्रव्यास्तिकाय

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च।
जं देदि विवरमखिलं तं लोगे हवदि आगासं ॥१६९॥

अर्थ—लोक में जीवों को और पुद्गलों को वैसे ही शेष समस्त द्रव्यों को जो सम्पूर्ण अवकाश देता है वह आकाश है।

जीवापुग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोण्णा।
तत्तो अणण्णमण्णं आयासं अंतवदिरित्तं ॥१७०॥

अर्थ—जीव पुद्गल काय, धर्म, अधर्म, (तथा काल) लोक से अनन्य है अंत रहित ऐसा आकाश उससे (लोक से) अनन्य तथा अन्य है।

धम्माधम्मागासा अपुधब्भूदा समाणपरिमाणा।
पुधगुवलद्धिविसेसा करिंति एगत्तमण्ण त्तं ॥१७१॥

अर्थ—धर्म, अधर्म और आकाश (लोकाकाश) समान परिणाम वाले अपृथग्भूत होने से तथा पृथक उपलब्ध विशेष वाले होने से एकत्व तथा अन्यत्व को करते हैं।

टीका—यहाँ धर्म, अधर्म और लोकाकाश का अवगाह की अपेक्षा से एकत्व होने पर भी वस्तु रूप से अन्यत्व कहा गया है।

लोकाकाश का स्वरूप

पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थि काय कालड्ढो।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्व काले दु ॥१७२॥

अर्थ—आकाश में जो भाग पुद्गल और जीव से संयुक्त है तथा धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और काल से समृद्ध है वह सर्व काल में लोक है। (शेष केवल आकाश अलोक है)।

काल द्रव्य का स्वरूप

सब्भावसभावाणं जीवाणं तह य पोग्गलाणं च ।
परियट्टणसंभूदो कालो णियमेण पण्णत्तो ॥१७३॥

अर्थ—सत्ता स्वभाव वाले जीवों और पुद्गलों के परिवर्तन से सिद्ध होने वाले ऐसे काल का (सर्वज्ञोंद्वारा) नियम से उपदेश दिया गया है ।

ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधअट्ठफासो य ।
अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालो त्ति ॥१७४॥

अर्थ—काल द्रव्य (निश्चयकाल) पांच वर्ण और पांच रस रहित दो गंध और आठ स्पर्श रहित अगुरुलघु, अमूर्त और वर्तना लक्षण वाला है ।

जीवादु पुग्गलादोऽणंतगुणा चावि संपदा समया ।
लोयायासे संति य परमट्ठो सो हवे कालो ॥१७५॥

अर्थ—अब जीव से तथा पुद्गल से भी अनंत गुने समय है, और जो (कालाणु) लोकाकाश में है वह परमार्थ काल है ।

काल द्रव्य का स्वरूप

कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसंभूदो ।
दोण्हं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो ॥१७६॥

अर्थ—काल परिणाम से उत्पन्न होता है (अर्थात् व्यवहार काल का माप जीव पुद्गलों के परिणाम द्वारा होता है) परिणाम द्रव्य काल से उत्पन्न होता है, यह दोनों का स्वभाव है । काल क्षण भंगुर तथा नित्य है ।

टीका—यह व्यवहार काल तथा निश्चय काल के स्वरूप का कथन है।

वहाँ "समय" नाम की जो क्रमिक पर्याय सो व्यवहार काल है, उसके आधारभूत द्रव्य सो निश्चय काल है।

वहाँ व्ययहार काल निश्चय काल पर्याय रूप होने पर भी जीव पुद्गलों के परिणाम से मपता है ज्ञात होता है इसलिये जीव पुद्गलों के परिणाम से उत्पन्न होने वाला कहलाता है. और जीव पुद्गलों के परिणाम बहिरङ्ग निमित्तभूत द्रव्य काल के सद्भाव में उत्पन्न होने के कारण द्रव्य काल से उत्पन्न होने वाले कहलाते हैं। वहाँ तात्पर्य यह है कि व्यवहार काल जीव पुद्गलों के परिणाम द्वारा निश्चित होता है, और निश्चय काल जीव पुद्गलों के परिणाम की अन्यथा अनुपपति द्वारा (अर्थात् जीव पुद्गलों के परिणाम अन्य प्रकार से नहीं बन सकते इसलिये) निश्चित होता है। वहाँ व्यवहार काल त्तण भंगी है, क्योंकि वह मात्र सूक्ष्म पर्याय जितना हो है, निश्चय काल नित्य है, क्योंकि वह अपने गुण पर्यायों के आधारभूत द्रव्य रूप से सदैव अविनाशी है।

काल की व्यवहार पर्याय

समओणिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्ती।
मासोदुअयणंसंवच्छरो त्तिकालो परायत्तो ॥१७७॥

अर्थ—समय, निमेष, काष्ठा, कला, घड़ी, अहोरात्र (दिवस) मास ऋतु अयन और वर्ष ऐसा जो काल (व्यवहार काल) वह पराश्रित है।

भावार्थ—"समय" निमित्त भूत ऐसे मंद गति से परिणत पुद्गल परमाणु द्वारा प्रगट होता है-मापा जाता है। "निमेष"

आँख के मीचने से प्रगट होता है (अर्थात् खुली आँख के मिचने में जो समय लगे उसे निमेष कहते हैं और वह निमेष असंख्यात समय का होता है)। पन्द्रह निमेष की एक काष्ठा, तीस काष्ठा की एक कला, बीस से कुछ अधिक कला की एक घड़ी और दो घड़ी का एक मुहूर्त बनता है। अहोरात्र सूर्य गमन से प्रगट होता है। वह अहोरात्र तीस मुहूर्त का होता है। तीस अहोरात्र का का एक मास, दो मास की एक ऋतु तीन ऋतु का एक अयन और दो अयन का एक वर्ष बनता है। यह सब व्यवहार काल है।

कालद्रव्य कायवान नहीं है

एदे कालागासा धम्माधम्मा य पुग्गला जीवा ।
लब्भंति दव्वसण्णं कालस्स दु णत्थि कायत्तं ॥१७८॥

अर्थ—यह काल आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल, और जीव (सब) द्रव्य संज्ञा को प्राप्त करते हैं परन्तु काल को कायपना नहीं है।

टीका—यह काल को द्रव्यपने का विधान का और अस्तिकायपने के निषेध का कथन है। जिस प्रकार वास्तव में जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाश को द्रव्य के समस्त लक्षणों का सद्भाव होने से वे द्रव्य संज्ञा को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार काल भी 'द्रव्य' संज्ञा को प्राप्त करता है। इस प्रकार छह द्रव्य हैं। किन्तु जिस प्रकार जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाश को द्वि आदि प्रदेश जिसका लक्षण है ऐसा अस्तिकायपना है उसी प्रकार कालाणुओं को यद्यपि उनकी संख्या लोकाकाश के प्रदेशों जितनी (असंख्य) है तथापि एक प्रदेशीपने के कारण अस्ति कायपना नहीं है।

पंञ्च भावों का स्वरूप

जीवा अणाइणिहणा संता णंता य जीव भावादो ।
सब्भावदो अणंता पंचग्गगुणप्पाधाणा य ॥१७९॥

अर्थ—जीव (पारिणामिक भावों से) अनादी अनंत है, तीन भावों से सांत (अर्थात् सादि सान्त) हैं और जीव भाव से अनंत है (अर्थात् जीव के सद्भाव रूप क्षायिक भाव से सादि अनंत है) क्योंकि सद्भाव से जीव अनंत ही होते हैं, वे पाँच मुख्य गुणों से प्रधानता वाले है ।

टीका—जीव वास्तव में सहज चैतन्य लक्षण पारिणामिक भाव से अनादि अनंत है, वे ही औदयिक, क्षयोपशमिक और औपशमिक भावों से सादि सांत है। वे ही क्षायिक भाव से सादि अनंत है।

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा ।
खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं ॥१८०॥

अर्थ—कर्म बिना जीव को उदय उपशम-क्षायिक अथवा क्षयोपशमिक नहीं होता, इसलिये भाव (चतुरविधभाव) कर्मकृत है।

भावार्थ—जीवत्व भव्यत्व और अभव्यत्व यह तीन पारिणामिक भाव अनादि अनंत हैं। दूसरे गुणस्थान में श्रद्धागुण पारिणामिक भाव से परिणमन कर जाता है, वह सादि सान्त है। पहले गुणस्थान में जिस जीव ने अनन्तानुबन्धी कर्म का विसंयोजन कर दिया है और मिथ्यात्व कर्म का उदय है तव चारित्र गुण जब तक अप्रत्याख्यान कर्म का परमाणु अनंतानुवन्धी रूप न परिणम जावे तब तक चारित्र गुण पारिणामिक भाव से अनंतानुबन्धी रूप परिणमन करता है वह सादि सान्त भाव है। ग्यारहवे गुणस्थान

में चारित्रगुण उपशम भाव का व्यय कर पारिणामिक भाव से रागरूप परिणमन कर दशवाँ गुणस्थान में आता है वह पारिणामिक भावसादि सान्त है। चौदहवाँ गुणस्थान के अन्त के समय में क्रियागुण पारिणामिक भाव से उर्द्धगमन कर लोक के अग्रभाग पर जाता है वह भी पारिणामिक भाव सादि सान्त है।

औदयिकभाव अर्थात् गुण की संपूर्ण विकारी अवस्था सामने कर्म का उदय उसे औदयिक भाव कहते हैं। आत्मा के नौ गुण औदयिक भाव से परिणमन कर सकते हैं। (१) श्रद्धागुण (२) चारित्र गुण (३) क्रियागुण (४) योगगुण (५) प्रदेशत्व गुण (६) अपगाहना गुण (७) अव्यावाध गुण (८) अगुरुलघु गुण (९) सूक्ष्म गुण।

क्षयोपशमभाव—आत्मा के गुण की शुद्ध अशुद्ध मिश्र अवस्था का नाम है सामने कर्म का उदय है। आत्मा के पांच गुण क्षयोपशमिक भाव से परिणमन कर सकते हैं। (१) ज्ञान गुण (२) दर्शन गुण (३) वीर्य गुण (४) चारित्र गुण (५) श्रद्धा गुण।

उपशमभाव—आत्मा के गुण की संपूर्ण शुद्धता और कर्म का उपशम, उसे उपशम भाव कहते हैं। उपशम भाव से आत्मा को दो गुण परिणमन कर सकते हैं। (१) श्रद्धा गुण (२) चारित्र गुण।

क्षायिक भाव—आत्मा के गुण की सम्पूर्ण शुद्धता और प्रतिपक्षी कर्म का अत्यन्त अभाव उसे क्षायिक भाव कहते हैं। आत्मा के बारह गुण क्षायिक भाव से परिणमन कर सकते हैं। (१) श्रद्धा गुण (२) चारित्र गुण (३) ज्ञान गुण (४) दर्शन गुण (५) वीर्य गुण (६) योग गुण (७) क्रिया गुण (८) प्रदेशत्व गुण (९) अव्यावाध गुण (१०) अवगाहन गुण (११) अगुरुलघु गुण (१२) सूक्ष्म गुण।

गुण स्थान से भावों का स्वरूप

मिथ्यात्वगुणस्थानमें—ज्ञान गुण, दर्शन गुण, और वीर्य गुण, क्षयोपशम भाव से परिणमन करता है। श्रद्धागुण, चारित्र गुण, क्रिया गुण, योग गुण, प्रदेशत्व गुण, अवगाहना गुण, अव्याबाध गुण, अगुरुलघु गुण और सूक्ष्मत्व गुण औदयिक भाव से परिणमन करते हैं। किसी सादि मिथ्यादृष्टि जीव का चारित्र गुण पारिणामिक भाव से परिणमन कर सकता है।

सासादन गुण स्थान—ज्ञान, दर्शन, वीर्य गुण, क्षयोपशमिक भाव से परिणमन करते हैं। श्रद्धा गुण, परिणामिकभाव, से परिणमन करते हैं। चारित्र-योग, क्रिया, प्रदेशत्व, अवगाहनत्व, अव्यावाध, अगुरुलघु और सूक्ष्मत्व गुण औदयिक भाव से परिणमन करते हैं।

मिश्रगुणस्थान–ज्ञान, दर्शन, वीर्यगुण, श्रद्धागुण और चारित्र-गुण क्षयोपशमिक भाव से परिणमन करते हैं। योग-क्रिया, प्रदेशत्व, अव्यावाध, अवगाहन, अगुरुलघु और सूक्ष्मत्व गुण औदयिक भाव से परिणमन करते हैं।

अव्रत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—ज्ञानगुण, दर्शन गुण, चारित्र-गुण और वीर्यगुण, क्षयोपशमभाव से परिणम करता है। श्रद्धा-गुण बनाना जीवों की अपेक्षा से क्षयोपशम, उपशम और क्षायिक भाव से परिणमन कर सकते हैं। योगगुण, क्रियागुण, प्रदेशत्व-गुण, अव्यावाध गुण, अवगाहन गुण, अगुरुलघु गुण और सूक्ष्मत्वगुण, औदयिक भाव से परिणमन करते हैं।

संयमासंयम गुणस्थान—प्रमत्त संयत गुण स्थान और अप्रमत गुणस्थान में भी चतुर्थ गुणस्थान रूप गुण परिणमन करते हैं।

अपूर्व करण गुणस्थान अनिवृत्ति करण और सूक्ष्म साम्पराय के गुणस्थानमें, ज्ञान गुण, दर्शनगुण, वीर्य गुण और चारित्र गुण क्षयोपशम भाव से परिणमन करता है। श्रद्धा गुण नाना जीवों की अपेक्षा से उपशम भाव तथा क्षायिक भाव से परिणमन करता है। योग-क्रिया, प्रदेशत्व, अव्याबाध, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व और सूक्ष्मत्व गुण औदयिक भाव से परिणमन करते हैं।

उपशान्तमोहगुणस्थान—ज्ञान दर्शनवीर्य गुण,क्षयोपशम भाव से परिणमन करते हैं। श्रद्धा गुण उपशम एवं क्षायिक भाव से नाना जीवों की अपेक्षा से परिणमन करता है। चारित्रगुण उपशम भाव से और अन्त के समय में अशुद्ध पारिणामिक भाव से परिणमन करता है। योग-क्रिया, प्रदेशत्व, अव्याबाध, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और सूक्ष्मत्व गुण, औदयिक भाव से परिणमन करते हैं।

क्षीणमोह गुणस्थान—ज्ञानगुण, दर्शनगुण, वीर्यगुण, क्षयोपशम भाव से परिणमन करते हैं। चारित्रगुण, श्रद्धागुण क्षायिक भाव से परिणमन करते हैं। योग, क्रिया, प्रदेशत्व, अव्याबाध, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और सूक्ष्मत्वगुण औदयिक भाव से परिणमन करते हैं।

सयोग केवली गुणस्थान—ज्ञान, दर्शन, वीर्य, चारित्र और श्रद्धागुण क्षायिक भाव से परिणमन करते हैं। योग-क्रिया, प्रदेशत्व, अव्याबाध, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और सूक्ष्मत्वगुण औदयिक भाव से परिणमन करते हैं।

अयोग केवली गुणस्थान के प्रथम समय में ज्ञान, दर्शन, वीर्य, चारित्र, श्रद्धा, योग क्रिया और प्रदेशत्व गुण क्षायिक भाव से परिणमन करते हैं। अव्याबाध, अवगाहनत्व, अगुरुलघु और सूक्ष्मत्व गुण औदयिक भाव से परिणमन करते हैं। और अयोग

केवली के अंतिम समय में ज्ञान गुण, दर्शन गुण, चारित्र गुण, श्रद्धा गुण, वीर्य गुण, योग गुण, प्रदेशत्व गुण, अव्याबाध गुण, अवगाहनत्व गुण, अगुरुलघुत्व गुण और सूक्ष्मत्व गुण क्षायिक भाव से परिणमन कर जाते हैं। किन्तु क्रियागुण जो क्षायिक भाव से प्रथम समय में परिणमन करता था वह अन्तिम समय में अशुद्ध पारिणामिक भाव से उर्द्धगमन कर लोक के अग्र भाग में शुद्ध पारिणामिक भाव से स्थिर हो जाता है। सिद्ध परमात्मा में सब गुण शुद्ध पारिणामिक भाव से ही परिणमन करते हैं। परमार्थ से विचारा जाय तो क्षयिक भाव एक समय की ही पर्याय है। जिस समय में कर्म का क्षय होता है तब क्षायिक भाव हो जाता है और दूसरे समय में वही क्षायिक भाव शुद्ध पारिणामिक भाव हो जाता है।

मिथ्यात्व भाव

अनादी काल से संसारी जीव मिथ्यात्व भाव से ही परिणमन करता आया है, मिथ्यात्व भाव उसे कहते हैं कि पर पदार्थ में अपनत्व बुद्धि एवं अतत्व में तत्व बुद्धि उसी का नाम मिथ्यात्व भाव है, मिथ्यात्व भाव श्रद्धागुण की ही विकारी पर्याय का नाम है। मिथ्यात्व के साथ में अनन्तानुबन्धी कषाय भी नियम से रहती है अनन्तानुबन्धी कषाय उसी का नाम है कि पर पदार्थ में इष्टानिष्ट कल्पना करना, उसी का नाम अनन्तानुबन्धी कषाय है। अनन्तानुबन्धी कषाय एवं मिथ्यात्व की चाल एक ही है किन्तु जाति अलग-अलग है। अनन्तानुबन्धी भाव का प्रतिपक्षी कर्म चारित्र मोहनीय कर्म है और मिथ्यात्व भाव का प्रतिपक्षी कर्म दर्शन मोहनीय है। दर्शन मोहनीय कर्म का परमाणु अनन्तनुबंधी रूप कभी भी न हो जावे एवं चरित्र मोहनीय कर्म का परमाणु

दर्शन मोहनीय रूप कभी भी न हो जावे दोनों की जाति अलग-अलग है।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव का लक्षण

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥१८१॥

अर्थ – जब तक इस आत्मा की ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, रागादिक भाव कर्म, और शरीरादि नोकर्म में "यह मैं हूँ और मुझमें यह कर्म नोकर्म है" ऐसी बुद्धि है तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध है।

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहोत्ति।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा ॥१८२॥

अर्थ—जीव के द्रव्यादि सम्बन्धी मूढ भाव वह मोह है, उससे आच्छादित वर्तता हुआ जीव राग अथवा द्वेष को प्राप्त करके क्षुब्ध होता है।

टीका—धतूरा खाये हुए मनुष्य की भाँति, जीव के जो पूर्व वर्णित द्रव्य गुण पर्याय है उनमें होने वाला तत्त्व अप्रतिपत्ति लक्षण मूढ़ भाव वास्तव में मोह है। उस मोह से निज रूप आच्छादित होने से यह आत्मा परद्रव्य को स्वद्रव्य रूप से, पर गुण को स्वगुण रूप से, और पर पर्याय को स्व पर्याय रूप समझकर अङ्गीकार करके अतिरूढ़-दृढतर संस्कार के कारण परद्रव्य को ही सदा ग्रहण करता हुआ, दग्ध इन्द्रियों की रुचि के वश से अद्वैत में भी द्वैत प्रवृत्ति करता हुआ, रुचिकर-अरुचिकर विषयों में राग द्वेष करके अति प्रचुर जल समूह के वेग से प्रहार को प्राप्त सेतुबन्ध (पुल) की भाँति दो भागों में खण्डित होता हुआ अत्यन्त क्षोभ

को प्राप्त होता है। इससे मोह राग और द्वेष इन भेदों के कारण मोह तीन प्रकार का है।

मोह का लक्षण

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु।
विसएसु च पसंगो मोहस्सेदाणिलिंगाणि ॥१८३॥

अर्थ—पदार्थ अयथाग्रहण और तिर्यंच मनुष्यों के प्रति करुणा भाव तथा विषयों की संगति (इष्ट विषयों में प्रीति अनिष्ट विषयों में अप्रीति) यह सब मोह के चिन्ह लक्षण हैं।

टीका—पदार्थों की अयथातथ्य रूप प्रतिपत्ति के द्वारा (अतत्व में तत्त्व श्रद्धान) और तिर्यंच मनुष्य प्रेक्षायोग्य होने पर भी उनके प्रति करुणा बुद्धि से मोह को (जानकर) इष्ट विषयों की आसक्ति से राग को और अनिष्ट विषयां को अप्रीति से द्वेष को (जानकर) इस प्रकार तीन लिंगों द्वारा पहचान कर तत्काल ही उत्पन्न होते ही तीनों प्रकार का मोह नष्ट कर देने योग्य है।

मिथ्यादृष्टि की पहचान

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सम्हि अत्थि मम एदं।
अण्णं जं परद्रव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥१८४॥

आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि।
होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहंपि होस्सामि ॥१८५॥

एयतु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥१८६॥

अर्थ—जो पुरुष (आत्मा) अपने से अन्य जो परद्रव्य सचित्त स्त्री पुत्रादिक, अचित्त धन धान्यादिक अथवा मिश्र ग्राम नगरादिक है, उन्हें यह समझता है कि "मैं यह हूँ यह द्रव्य मुझ स्वरूप है, मैं इसका हूँ, यह मेरा है, यह मेरा पहले था, इसका मैं भी पहले था, यह मेरा भविष्य में होगा. मैं भी इसका भविष्य में होऊँगा" ऐसा झूठा आत्म विकल्प करता है, वह मूढ है, मोही है, अज्ञानी है और जो पुरुष परमार्थ वस्तु स्वरूप को जानता हुआ वैसा झूठा विकल्प नहीं करता वह मूढ नहीं है, ज्ञानी है।

ज्ञानी अज्ञानी में क्या अन्तर है

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ॥१८७॥

अर्थ—ज्ञानी ऐसे अपने वस्तु स्वभाव को जानता है इसलिये वह रागादिक को निज रूप नहीं करता अतः वह (रागादिक का) कर्ता नहीं है। अज्ञानी ऐसे वस्तु स्वभाव को नहीं जानता इसलिये वह रागादिक भावों का कर्त्ता होता है। कहा भी है कि—

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः ।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥१८८॥

अर्थ—अज्ञानी अपने ऐसे वस्तु स्वभाव को नहीं जानता इसलिये वह रागादिक को (रागादिक भावों को) अपना करता है, अतः वह उनका कर्ता होता है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि आत्मा अपना अनादि अनंत अखंड त्रिकाल ज्ञायक स्वभाव का कर्त्ता है। जब वह अपने को अपना

ज्ञायक स्वभाव का कर्ता नहीं मानता है तब वह रागादिक भावों को अपना स्वरूप मानकर मिथ्यादृष्टि हो जाता है। मिथ्यादृष्टि जीव को अपना अनादि अनंत अखण्ड ज्ञायक स्वभाव का ज्ञान नहीं होने से वह रागादिक भावों को अपना ही स्वभाव मानता है जिससे वह रागादिक पर्याय का कर्त्ता बन ज.ता है अर्थात् मानता है।

आत्मा को राग का कर्त्ता कब तक मानना

माऽकर्त्तारममी स्पृशन्तु पुरुष सांख्या इवाप्यार्हताः
कर्त्तारं कल तु तं किल सदा भेदावबोधादधः।
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यंतु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ।।१८९।।

अर्थ—यह अर्हत मत के अनुयायी अर्थात् जैन भी आत्मा को साँख्य मतियों को भाँति, (सर्वथा अकर्त्ता मत मानो, भेद ज्ञान होने से पूर्व उसे निरन्तर (रागादिक का) कर्त्ता मानों और भेद ज्ञान होने के बाद उद्धत ज्ञान धाम (ज्ञान मन्दिर-ज्ञान प्रकाश) में निश्चित् इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा को (रागादिक का) कर्तृत्व रहित अचल एक परम ज्ञाता ही देखो।

भावार्थ—जिनागम में अनेक अपेक्षा से कथन है और इसी कथन का नाम स्याद्वाद है। किस अपेक्षा से कथन किया है वह यथार्थ न जाने तो आत्मा का अहित हो जावे। यहाँ पर मिथ्या-दृष्टि जीव को राग का कर्त्ता माना है और सम्यग्दृष्टि जीव को राग का अकर्त्ता माना है। अव्रतादि सम्यग्दृष्टि जीव में रागादिक भाव तो होता है तब वह रागादिक भाव का कर्त्ता कौन है ? यदि आत्मा अपने को रागादिक भावों को कर्त्ता माने तो वह

जीव मिथ्यादृष्टि है ? तब क्या माने ? यह कथन श्रद्धा की अपेक्षा से है श्रद्धा की अपेक्षा से ज्ञानी अपने को अनादि अनंत अखण्ड ज्ञायक स्वभाव ही मानता है। कैसा है वह ज्ञायक ? जिसमें गुण गुणी भेद नहीं है, गुण पर्याय भेद नहीं है, जिसमें दर्शन ज्ञान चरित्र का भेद नहीं है. क्योंकि आत्मा केवल ज्ञान दर्शन चारित्र रूप ही नहीं है वह तो अनन्त गुण का पुञ्ज है एवं अनन्तानंत पर्याय का पुञ्ज है। जिसमें दर्शन ज्ञान चारित्र का भेद नहीं है तब रागादिक को अपना कैसे मानेगा ? यदि रागादिक को अपना स्वभाव माने तब ज्ञायक स्वभाव को अपना स्वभाव नहीं माना यही तो मिथ्यात्व भाव है। परन्तु चारित्र या ज्ञान की अपेक्षा से विचार किया जावे तो रागादिक भाव का उपादान कारण आत्मा ही है वह आत्मा की ही पर्याय है। इस अपेक्षा से न माने तो रागादिक छोड़ने को चेष्टा-पुरुषार्थ वह कैसे करेगा ? वह निश्चयाभासी रागादिक को पर का ही भाव मानता है तब रागादिक छोड़ने का पुरुषार्थ नहीं करता है। रागादिक को अपना नहीं मानने से रागादिक करने का भय ही नहीं रहा तब निरर्गल प्रवृत्ति कर निगोद का पात्र बन जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि श्रद्धा की अपेक्षा से आत्मा को रागादिक भावों का अकर्त्ता ही मानना और चारित्र की अपेक्षा से आत्मा को रागादिक का कर्त्ता मानना। तब शंका उठती है कि आत्मा को रागादिक भावों का कर्त्ता कब तक मानना ?

बुद्धि पूर्वक राग का आत्मा कर्त्ता है अबुद्धि पूर्वक
राग का अकर्त्ता है

अपडिक्कमणं दुविहं अपच्चखाणं तहेव विण्णेयं ।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥१९०॥

अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपच्चखाणं ।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ।।१९१।।
जावं अपडिक्कमणं अपच्चखाणं च दव्वभावाणं ।
कुव्वइ आदा तावं कत्ता सो होइ णायव्वो ।।१९२।।

अर्थ—अप्रतिक्रमण दो प्रकार का उसी तरह अप्रत्याख्यान जानना चाहिये, इस उपदेश से आत्मा अकारक कहा गया है।

अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है, द्रव्य सम्बन्धी तथा भाव सम्बन्धी, इसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का है, द्रव्य सम्बन्धी और भाव सम्बन्धी इस उपदेश से आत्मा अकारक कहा गया है।

जब तक आत्मा द्रव्य का और भाव का अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान करता है तब तक वह (राग का) कर्त्ता होता है ऐसा जानना चाहिये।

टीका—आत्मा स्वतः रागादिक का अकारक ही है. क्योंकि यदि ऐसा न हो तो (अर्थात् यदि आत्मा स्वतः रागादिक भावों का कारक हो तो) अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्वि विधता का उपदेश नहीं हो सकता। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद से द्विविध (दो प्रकार का) उपदेश है वह द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ, आत्मा के अकर्तृत्व को ही बतलाता है। इसलिये यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिक भाव नैमित्तिक हैं। यदि ऐसा न माना जाये तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान का कर्तृत्व के निमित्त रूप का उपदेश निरर्थक ही होगा, और वह निरर्थक होने पर एक ही

आत्मा को रागादिक भावों का निमित्तत्व आ जावेगा, जिससे नित्य कर्तृत्व का प्रसङ्ग आजावेगा, जिससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। इसलिये परद्रव्य ही आत्मा के रागादिक भावों का निमित्त हो। और ऐसा होने पर, यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादिक का अकर्ता ही है। (इस प्रकार यद्यपि आत्मा रागादिक का अकारक ही है) तथापि जब तक वह निमित्त भूत द्रव्य का (परद्रव्य का) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता तब तक नैमित्तिक भूत भावों का (रागादिक भावों का) प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान नहीं करता, और जबतक वह इन भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता तब तक वह उनका कर्त्ता हो है, जब वह निमित्तभूत द्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है तभी नैमित्तिक भूत भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है और जब इन भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान होता है तब वह साक्षात् अकर्त्ता ही है।

भावार्थ—जब तक आत्मा बुद्धि पूर्वक राग का एवं राग का कारण परद्रव्य का त्याग नही करता तब तक वह रागादि भावों का कर्त्ता है। जब वह आत्मा बुद्धि पूर्वक राग का और राग को कारण पर द्रव्य का त्याग करता है, तब वह राग का अकर्त्ता है। अर्थात् छठवाँ गुणस्थान तक आत्मा बुद्धि पूर्वक राग का कर्त्ता है और सातवें गुण स्थान में बुद्धि पूर्वक राग का अकर्त्ता है। सातवें गुण स्थान में राग है तो भी वह राग का साक्षात् अकर्त्ता कहा उस का यही अर्थ है कि जो राग हमारे ज्ञान में हो नहीं आता उसका हम त्याग कैसे करें ? सातवाँ गुण स्थान में ध्यान रूप अवस्था है और चारित्र गुण वहाँ भी रागरूप परिणमन करता है। परमार्थ से राग ११-१२वाँ गुण स्थान में ही छुटता है। आत्मा को राग का अकारक कहने से अज्ञानी जीव राग को पुद्गल द्रव्य की पर्याय मान लेता है। जब पुद्गल द्रव्य की

पर्याय मान ली तब उसे छोड़ने का पुरुषार्थ क्यों करे ? ऐसा जीव को सावधान करने के लिये आचार्य कहते हैं कि—

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात्कृतिः ।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्वलसनाज्जीवोऽस्यकर्त्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ॥१९३॥

अर्थ—जो कर्म (अर्थात् भाव कर्म) है वह कार्य है, इसीलिये वह अकृत नहीं हो सकता अर्थात् किसी के द्वारा किये बिना नहीं हो सकता। और ऐसा भी नहीं है कि वह (भाव कर्म) जीव और प्रकृति दोनों की कृति हो, क्योंकि यदि वह दोनों का कार्य हो तो ज्ञान रहित (जड़) प्रकृति को अपने कार्य का फल भोगने का प्रसंग आ जावेगा। और वह (भावकर्म) एक प्रकृति की कृत्ति (अकेली प्रकृति का कार्य) भी नहीं है क्योंकि प्रकृति का तो अचेतनत्व प्रगट है (अर्थात् प्रकृति तो अचेतन है और भाव कर्म चेतन है) इसलिये उस भाव कर्म का कर्त्ता जीव ही है, और चेतन का अनुसरण करने वाला अर्थात् चेतन के साथ अन्वय रूप (चेतन परिणामरूप) ऐसा वह भाव कर्म जीव का ही कर्म है क्योंकि पुद्गल तो ज्ञाता नहीं है (इसलिये वह भाव कर्म पुद्गल का कर्म नहीं हो सकता)।

भावार्थ—यदि रागादिक परिणाम पुद्गल का है तो रागादिक पर्याय का व्यय कर क्षमारूपी पर्याय भी पुद्गल में उत्पन्न होना चाहिये किन्तु क्षमा तो आत्मा में ही होती है पुद्गल में नहीं इससे सिद्ध हुआ कि रागदिक पर्याय चेतन की ही है।

ये तु स्वभावनियमं कलयंति नेम-
मज्ञानभग्नमहसो बत ते वराकाः।
कुर्वंति कर्म तत एव हि भावकर्म-
कर्त्ता स्वयं भवति चेतन एवं नान्यः॥१९४॥

अर्थ—(आचार्य खेद पूर्वक कहते हैं कि) जो इस वस्तु स्वभाव के नियम को नहीं जानते वे बेचारे जिनका (पुरुषार्थरूप-पराक्रम-रूप) तेज अज्ञान में डूब गया है ऐसे कर्म को करते हैं इसलिये भाव कर्म का कर्त्ता चेतन ही स्वयं (अज्ञानी) होता है अन्य कोई नहीं।

भावार्थ—भावकर्म चेतन की विकारी पर्याय है, किन्तु जिसको अपने ज्ञायक स्वभाव का ज्ञान नहीं है ऐसा अज्ञानी जीव रागा-दिक भाव का कर्त्ता बनता है, किन्तु अपना ज्ञायक स्वभाव का कर्त्ता बनता ही नहीं है, जिससे उनका संसार छुटना असम्भव है। ज्ञानी अपना ज्ञायक स्वभाव का कर्त्ता बनाता है जिससे रागादिक को काटकर मोक्ष का पात्र बन जाता है।

ज्ञानी अज्ञानी में भेद

सुहजोएण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू।
सो तेण हु अण्णाणी णाणी एत्तो हु विवरीओ॥१९५॥

अर्थ—जो जीव इष्ट सामग्री में राग करता है और अनिष्ट सामग्री में द्वेष करता है वही अज्ञानी है, और जो जीव पर पदार्थ में इष्टानिष्ट कल्पना नहीं करते हैं वही ज्ञानी है, वही स्वरूप की साधना करने वाले साधु हैं।

भावार्थ—पर पदार्थ में इष्टानिष्ट कल्पना करना वही अनंतानुबन्धी कषाय है, जो अनन्त संसार की जड़ है।

आसवहेदू य तहा भावं भोक्खस्स कारणं हवदि ।
सो तेण हु अण्णाणी आदसहावा हु विवरीओ ।।१९६।।

अर्थ—जिस भाव से आश्रव होता है उसी भाव से जो जीव मोक्ष का कारणं मानता है, वही जीव उस मान्यता से अज्ञानी है, क्योंकि उस जीव ने आत्म स्वभाव जाना ही नहीं है।

भावार्थ—अज्ञानी पर द्रव्य में ही इष्ट अनिष्ट मानता है वही मान्यता का नाम अनन्तानुबन्धी कषाय है, और जिस भाव से बन्ध होता है उसी भाव से मोक्ष मानता है वह मान्यता का नाम मिथ्यात्व भाव है।

परद्रव्य में जिसको प्रीति है वही अज्ञानी है

परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो ।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीओ ।।१९७।।

अर्थ—जिस पुरुष को परद्रव्य में परमाणु प्रमाण अर्थात् लेशमात्र भी राग है तथा परद्रव्य को अच्छा मानता है, वही जीव मूढ़ है, अज्ञानी है, आत्म स्वभाव से विपरीत है अर्थात् आत्म स्वभाव में रुचि नहीं है।

पुण्य भाव में धर्म मानता है वह अज्ञानी है

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि ।
धम्मं भोगनिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ।।१९८।।

अर्थ—(अज्ञानी जीव) भोग के निमित्त रूप धर्म की ही श्रद्धा करता है, और उसी का स्पर्श करता है, उसी की प्रीतिति करता है उसी की रुचि करता है, परन्तु कर्म के क्षय के निमित्त रूप धर्म की न तो श्रद्धा करता है, न उसकी प्रतीति करता है, न रुचि करता है, और न उसका स्पर्श करता है।

भावार्थ—अज्ञानी जीव केवल पुण्य भाव को ही मोक्ष मार्ग मानता है किन्तु संवर निर्जरा भाव को मोक्ष मार्ग नहीं मानता। मुख से पुण्य भाव को हेय बोलता है परन्तु अन्तरंग में पुण्य भाव को ही संवर निर्जरा मानता है, यही अज्ञान की जड़ अनन्त संसार का कारण है।

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अजाणंता ॥१९९॥

अर्थ—जो परमार्थ से बाह्य (अज्ञानी) है वे मोक्ष के हेतु को न जानते हुए संसार गमन का हेतु होने पर भी अज्ञान से पुण्य को (मोक्ष का हेतु समझकर) चाहते हैं।

परजीवों को मार सकता हूँ आदि भाव मिथ्यात्व हैं

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय—
कर्मोदयान्मरण जीवित दुःख सौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात्पुमान्मरणजीवित दुःखसौख्यम् ॥२००॥

अर्थ—इस जगत में जीवों के मरण जीवित सुख दुःख सदैव नियम से (निश्चित रूप से) अपने कर्मोदय से होता है। यह मानना तो अज्ञान है कि "दूसरा पुरुष दूसरे के मरण जीवन सुख दुःख को करता है"।

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यंति ये मरण जीवित दुख सौख्यम्।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति ॥२०१॥

अर्थ—इस (पूर्व कथित मान्यता रूप) अज्ञान को प्राप्त करके जो पुरुष पर से परके मरण जीवन दुःख सुख को देखते हैं, अर्थात् मानते हैं, वे पुरुष जो कि इस प्रकार अहंकार रससे कर्मों के करने के इच्छुक है (अर्थात् मैं इन कर्मों को करता हूँ ऐसे अहंकार रूपी रससे जो कर्म करने की मारने जिलाने की सुखी दुःखी करने की वाच्छा करने वाला है) वे नियम से मिथ्यादृष्टि अपने आत्मा का घात करने वाला है।

सम्यग्दर्शन

व्यवहार सम्यग्दर्शन

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो ॥२००॥

अर्थ—आप्त, आगम और तत्वों की श्रद्धा से समयक्त्व होता है, जिसके अशेष (समस्त) दोष दूर हुए हैं ऐसा जो सकल गुण-मय पुरुष वह आप्त है।

आप्त देव कैसा होता है

छुहतण्हभीरूरोसो रागोमोहोचिंताजरारूजामिच्चू।
स्वेदं खेदं मदो रइ विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो ॥२०३॥

अर्थ—क्षुधा, तृषा, भय, रोष-रागमोह, चिन्ता, जरा, रोग, मृत्यु, स्वेद, (पसीना), खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा जन्म और उद्वेग (अरति) यह अठारह दोष हैं।

णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो।
सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा ॥२०४॥

अर्थ—(ऐसे) निःशेष दोष से रहित जो है और केवल ज्ञानादि परम वैभव से जो संयुक्त है वह परमात्मा कहलाता है, उससे विपरीत वह परमात्मा नहीं है।

अर्हंत का स्वरूप

घणघाईकम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुणसहिया ।
चोत्तिसअदिसअजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति ।।२०५।।

अर्थ—घनघात्ति कर्म रहित केवल ज्ञानादि परम गुणों सहित और चौतीस अतिशय संयुक्त एसे अर्हंत होते हैं।

सिद्ध परमात्मा का स्वरूप

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ।।२०६।।

अर्थ—आठ कर्मों के बन्धन को जिन्होंने नष्ट किया है ऐसे आठ महा गुणों सहित परम लोक के अग्र में स्थित नित्य ऐसे वे सिद्ध होते हैं।

भावार्थ—जिसने आठ कर्मों के अभाव में बारह गुण की परम शुद्धता (क्षायिक भाव) प्राप्त की है अर्थात् जिसका सम्पूर्ण गुण शुद्ध हो गया है वह सिद्ध. परमात्मा है। वे गुण (१) ज्ञान गुण (२) दर्शन गुण (३ चारित्र गुण (४) श्रद्धा गुण (५) वीर्य गुण (६) योग गुण (७) क्रिया गुण (८) प्रदेशत्व गुण (९) अव्या-बाध गुण (१०) अवगाहन गुण (११) अगुरुलघु गुण (१२) सूक्ष्म-त्व गुण शुद्ध हो गया है वह सिद्ध परमात्मा हैं।

सिद्ध परमात्मा का स्वरूप

जाइजरमरणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं ।
णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं ।।२०७।।

अर्थ--जन्म, जरा, मरण रहित, परम, आठ कर्म रहित शुद्ध ज्ञानादि चार स्वभाव वाला अक्षय अविनाशी और अच्छेद्य हैं।

भावार्थ—सिद्ध परमात्मा में केवल चार गुण स्वभाव भाव नहीं है, किन्तु आत्मा के सम्पूर्ण गुण स्वभाव से ही परिणमन करते हैं।

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरयं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥२०८॥

अर्थ—(सिद्ध भगवान को) केवल ज्ञान केवल दर्शन केवल सुख केवल वीर्य, अमूर्तत्व, अस्तित्व और सप्रदेशत्व होते हैं।

भावार्थ—सिद्ध परमात्मा के आत्मा में संपूर्ण गुण शुद्ध हो गया है। समस्त पुद्गल (अजीव तत्व) का सम्बन्ध छुटने से अमूर्तत्व गुण प्रगट हुआ है। सिद्धात्मा एक क्षेत्र में रहते हुए अपने अपने अस्तित्व से सब अलग अलग हैं। प्रत्येक आत्मा अपने प्रदेश में ही रहता है अन्य के प्रदेश में प्रवेश नहीं कर जाता है।

आगम का स्वरूप

तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ॥२०९॥

अर्थ—(केवल ज्ञानी) उनके मुख से निकली हुई वाणी जो कि पूर्वा पर दोष रहित और शुद्ध है उसे आगम कहा है और उसे तत्वार्थ कहते हैं।

परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होई।
परिणामरहियवयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥२१०॥
ईहापुव्वं वयणं जीवस्स य बंध कारणं होई।
ईहारहियं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥२११॥

अर्थ—परिणाम पूर्वक (राग सहित) वचन जीव को बन्ध का कारण है। परिणाम रहित वचन (राग रहित) होता है इसलिये ज्ञानी को (केवल ज्ञानी को) वास्तव में बन्ध नहीं है।

इच्छा पूर्वक वचन जीव को बन्ध का कारण है (ज्ञानी को) इच्छा रहित वचन होता है, इसलिये (केवल ज्ञानी को) ज्ञानी को वास्तव में बन्ध नहीं है।

भावार्थ—छद्मस्थ जीवों की वाणी में इच्छा निमित्त है इसलिए इच्छा के कारण बन्ध पड़ता है। केवल ज्ञानियों की वाणी में इच्छा निमित्त नहीं है इससे केवल ज्ञानी को इच्छा नहीं होने से बन्ध नहीं पड़ता है।

आचार्य का स्वरूप

पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिद्प्पणिद्दलणा ।
धीरा गुण गंभीरा आयरिया एरिसा होंति ।।२१२।।

अर्थ—पंचाचारों से परिपूर्ण, पंचेन्द्रिय रूपी हाथी के मद का दलन करने वाले, धीर और गुण गम्भीर ऐसे आचार्य होते हैं।

उपाध्याय का स्वरूप

रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा ।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति ।।२१३।।

अर्थ—रत्नत्रय से संयुक्त जिन कथित पदार्थों के सूरवीर उपदेशक और निःकांक्ष भाव सहित ऐसे उपाध्याय होते हैं।

साधु का स्वरूप

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता ।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंत्ति ।।२१४।।

अर्थ—व्यवहार से विमुक्त चतुर्विध आराधना में सदा रक्त निग्रन्थ और निर्मोही ऐसा साधु होते हैं।

पात्रादिक के भेद से फल में भेद

रागो पसत्थभूदो वत्थु विसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥२१५॥

अर्थ—जैसे इस जगत में अनेक प्रकार की भूमियों में पड़े हुए बीज धान्य काल में विपरीत तथा फलित होते हैं उसी प्रकार प्रशस्तभूतराग वस्तु भेद से (पात्र भेद से) विपरीततया फलता है

भावार्थ—प्रशस्त राग स्वरूप शुभोपयोग वह का वह होता है फिर भी पात्र की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है क्योंकि कारण के भेद से कार्य का भेद अवश्यम्भावी है।

छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥२१६॥

अर्थ—जो जीव छद्मस्थ विहित वस्तुओं में व्रत नियम अध्यन ध्यान दान में रत होता है, वह मोक्ष को प्राप्त नही होता (किन्तु) सातात्मक भाव को प्राप्त होता है।

टीका—सर्वज्ञ स्थापित वस्तुओं में युक्त शुभोपयोग का फल पुण्य संचय पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है। वह फल कारण की विपरीतता होने से विपरीत ही होता है। वहाँ छद्मस्थ स्थापित वस्तु में ये कारण विपरीतता है, उनमें व्रत, नियम, अध्यन, दान ध्यान रत रूप से युक्त शुभोपयोग का फल जो मोक्ष शून्य केवल पुण्यापसद की प्राप्ति है, वह फल की विपरीतता है वह फल सुदेव सुमनुष्यत्व है।

अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु ॥२१७॥

अर्थ—जिन्होंने परमार्थ को नहीं जाना और जो विषय कषाय में अधिक है, ऐसे पुरुषों के प्रति सेवा, उपकार दान कुदेव रूप में और कुमनुष्य रूप में फलता है।

टीका—छद्मस्थ स्थापित वस्तुयें हैं वे कारण विपरीतता है। वे (विपरीतकारण) वास्तव में शुद्धात्म ज्ञान से शून्यता के कारण "परमार्थ के अजान" और शुद्धात्म परिणति को प्राप्त न करने से विषय कषाय में अधिक ऐसे पुरुष हैं, उनके प्रति शुभोपयोगात्मक जीवों को सेवा, उपकार या दान करने वाले जीवों को जो केवल पुण्यापसद की प्राप्ति है सो वह फल विपरीतता है, वह फल कुदेव कुमनुष्य है।

भावार्थ—कुपात्र अपात्र जीवों को पात्र मानने की विपरीतता से पुण्य के फल में विपरीतता है। जिस जीव को देव गुरु धर्म की यथार्थ प्रतीति है वह जीव पात्र जीव है। जिसको देव के स्वरूप में विपरीतता है, गुरु के स्वरूप में विपरीतता है, और दयामय धर्म मानते हैं वह जीव कुपात्र है। जिसको देव गुरु और धर्म में विपरीतता है ऐसे जीव अपात्र है। जाति ऊपर पात्रता नहीं है किन्तु अन्तरङ्ग श्रद्धान पर पात्रता है। पात्र जीव पात्र के हाथ से ही आहार दान लेते हैं, कुपात्र या अपात्र के हाथ से नहीं लेते हैं, क्योंकि जिसको विधि का ज्ञान ही नहीं है ऐसे जीवों के हाथ से वह दान नहीं लेते हैं। पात्र जीव करूणा भाव से कुपात्र एवं अपात्र को दान देते है किन्तु भक्ति से नहीं देते हैं। पात्र जीव व्यवहार सम्यग्दृष्टि है और कुपात्र अपात्र मिथ्या दृष्टि है।

व्यवहार सम्यग्दर्शन

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसंवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥२१८॥

अर्थ—भूतार्थनय से ज्ञात जीव-अजीव और पुण्य; पाप, तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष यह नव तत्त्व सम्यक्त्व हैं।

छद्दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा ।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणयेव्वो ॥२१६॥

अर्थ—छहद्रव्य, नव पदार्थ, पाँच अस्तिकाय, सप्ततत्त्व ये जिन वचनों में कहे है तिनका स्वरूप का जो श्रद्धान करे सो सम्यग्दृष्टि जानना ।

निश्चय व्यवहार सम्यग्दृष्टि

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवई सम्मत्तं ॥२२०॥

अर्थ—जीवादी पदार्थ उनका श्रद्धान सो तो व्यवहार से सम्यक्त्व है ऐसा जिन भगवान ने कहा है, निश्चय में अपना आत्मा ही का श्रद्धान सो सम्यक्त्व है।

आत्मा का श्रद्धान कैसे करे

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥२२१॥

अर्थ—मै आत्मा को इस प्रकार ज्ञानात्मक दर्शनभूत अतीन्द्रिय महापदार्थ ध्रुव, अचल, निरालम्ब और शुद्ध मानता हूँ।

भावार्थ—आत्मा (१) ज्ञानात्मक, (२) दर्शनरूप, (३) इन्द्रियों के बिना ही सब को जानने वाला महा पदार्थ, (४) ज्ञेय परपर्यायों का ग्रहण त्याग न करने से अचल और (५) ज्ञेय परद्रव्यों का आलम्बन न होने से निरालम्ब है इसलिये वह एक है। इस प्रकार एक होने से वह शुद्ध है, ऐसा शुद्ध आत्मा ध्रुव होने से वही एक उपलब्ध करने योग्य है।

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तंपि ॥२२२॥

अर्थ– निश्चय से मैं एक हूँ, दर्शन ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ किंचित मात्र भी अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है यह निश्चय है।

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।
तह्मि ठिओ तच्चित्तो सव्वे ए ए खयं णेमि ॥२२३॥

अर्थ—निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममता रहित हूँ, ज्ञान दर्शन से पूर्ण हूँ उस स्वभाव में रहता हुआ उसमें (उस चैतन्य अनुभव में) लीन होता हुआ मैं इन क्रोधादिक सब आस्रवों को क्षय को प्राप्त करता हूं।

शरीर आदि से मध्यस्थ

णाणं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंत्ता णेव कत्तीणं ॥२२४॥

अर्थ—मैं न देह हूँ, न मन हूँ और न वाणी हूँ, उनका कारण नहीं हूँ, कर्त्ता नहीं हूँ, कराने वाला नहीं हूँ और कर्त्ता का अनुमोदक नहीं हूँ।

टीका— मैं शरीर, वाणी, और मन को परद्रव्य के रूप में समझता हूँ इसलिये मुझे उनके प्रति कुछ भी पक्षपात नहीं है। मैं उन सबके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

वास्तव में शरीर, वाणी मन के स्वरूप का आधारभूत अचेतन द्रव्य में नहीं हूँ। मैं स्वरूपाधार हुवे विना भी वे वास्तव में अपने स्वरूप को धारण करते हैं। इसलिये मैं शरीर, वाणी, मन का पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ। और मैं शरीर वाणी

मन का कारण अचेतन द्रव्य नहीं हूँ। मैं कारण (हुवे) बिना भी वे वास्तव में कारणवान है। इसलिये उसके कारणत्व का पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ, और मैं स्वतन्त्र ऐसे शरीर, वाणी तथा मन का कर्त्ता अचेतन द्रव्य नहीं हूँ, मैं कर्त्ता हुए बिना भी वे वास्तव किये जाते हैं, इसलिये उनके कर्तृत्व का पक्षपात छोंड़कर मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ। और मैं स्वतन्त्र ऐसे शरीर, वाणी तथा मन का कारक (कर्ता) जो अचेतन द्रव्य है उसका अनुमोदक नहीं हूं। मैं कारक अनुमोदक बिना भी वे वास्तव में किया जाते है, इसलिये उनके कर्त्ता के अनुमोदक का पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

रागादिक भाव मेंरा नहीं है

को णाम भणिज्ज बुहो णाउं सव्वे पराइए भावे।
मज्झमिणं ति य वयणां जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥२२५॥

अर्थ—सर्व भावों को दूसरे का जानकर कौन ज्ञानी अपने को शुद्ध जानता हुआ "यह मेरा है" (यह भाव मेरे हैं) ऐसा वचन बोलेगा ?

टीका—जो (पुरुष) पर के और आत्मा के नियत स्व लक्षणों के विभाग में पड़ने वाली प्रज्ञा के द्वारा ज्ञानी होता है, वह वास्तव में चिन्मात्र भाव को अपना जानता है। ऐसा जानता हुआ (वह पुरुष) पर भावों को "यह मेरा है" ऐसा क्यों कहेगा ? क्योंकि पर में और अपने में निश्चय से स्व स्वामि सम्बन्ध का असंभव है इसलिये सर्वथा चिद्भाव ही (एक मात्र) ग्रहण करने योग्य है, शेष समस्त भाव छोड़ने योग्य है ऐसा सिद्धान्त है।

भावार्थ—ज्ञानी तो अपना त्रीकाली ज्ञायक स्वभाव को ही अपना मानता है। पुण्य रूपी कुशील भाव को अच्छा मानने

वाला ज्ञानी कैसे हो सकता है ? परभाव को अपना भाव मानने वाले के संसार में चोर कहा जाता है और चोर को संसार में जेल में ही जाना पड़ता है इसी प्रकार जो जीव रागादिक भाव को अच्छा मानता है उनको चारगति रूप संसार में ही जन्म मरण करना ही पड़ेगा कहा भी है कि—

सिद्धांतोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिःसेव्यतां ।
शुद्धं चिन्मयमेकमेवपरमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ।।२२६।।

अर्थ—जिनके चित का चरित्र उदात्त (उदार उज्जवल) है ऐसा मोक्षार्थी इस सिद्धान्त का सेवन करें कि "मैं तो सदा शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति ही हूँ और जो भिन्न लक्षण वाले विविध प्रकार के भाव प्रगट होते है वे मैं नहीं हूँ क्योंकि वे सभी मेरे लिये परभाव है।

भावार्थ—जो परभावों को अपना या अच्छा मानता है वह चोर है अनंत संसारी है।"

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान् ।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यतिः ।।२२७।।

अर्थ—जो परद्रव्य को ग्रहण करता है वह अपराधी है इसलिये बन्ध में पड़ता है, और जो स्वद्रव्य में ही संवृत हे (अर्थात स्वरूप में मग्न है गुप्त है) ऐसा यति निरपराधी है इसलिये बन्धता नहीं है।

भावार्थ—जो जीव राग को ही अपना स्वरूप मानता है वह राग को कभी भी छोड़ नहीं सकता है। अपने को ज्ञायक स्वभावी माने तब ही राग छोड़ सकता है।

पर्याय का लच्च छोड़कर केवल त्रीकाली ज्ञायक ही लच्च करने योग्य है

जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा ।
कम्मोपाधिसुमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो ॥२२८॥

अर्थ—जीवादि वाह्य तत्व हेय है, कर्मोपाधि जनित गुण पर्यायों से व्यतिरिक्त आत्मा आत्मा को उपादेय है।

भावार्थ—पर्याय से लच्च हटाकर केवल त्रिकाली अखण्ड अनादि अनंत ज्ञायक स्वभाव का ही लच्च करना चाहिये वही उपादेय है अर्थात् श्रद्धा करने योग्य वही है और नहीं। गुण पर्याय का ज्ञान होता है किन्तु श्रद्धा नहीं, श्रद्धा केवल अखण्ड वस्तु जो अनादि अनंत (अनंत गुण पर्याय का पुज रूप) है उसी की ही करना चाहिये। जैसी श्रद्धा होगी ऐसी ही अवस्था बन जावेगी।

मोह की सेना जितने का उपाय

जो जाणदि अरहंतं द्व्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥२२९॥

अर्थ—जो अरहंत को द्रव्यपने गुणपने और पर्यायपने जानता है वह (अपने) आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है।

टीका—जो वास्तव में अरहंत को द्रव्यरूप से, गुणरूप से, और पर्याय रूप से जानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है, क्योंकि दोनों में निश्चय से अन्तर नहीं है, और अरहंत का स्वरूप, अन्तिम ताव को प्राप्त सोने के स्वरूप की भाँति, परिस्पष्ट है इसलिये उसका ज्ञान होने पर सर्व आत्मा का ज्ञान होता है।

मिथ्यात्व कैसे छुटे

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चरवादीहिं बुज्झदो णियमा ।
खीयदि मोहो वचयो तम्हा सत्थं समधिदव्व ॥२३०॥

अर्थ—जिन शास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वाले के नियम से मोह समूह क्षय हो जाता है इसलिये शास्त्र का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिये ।

टीका · मोह का क्षय करने में परम शब्द ब्रह्म की उपासना का भाव ज्ञान के अवलम्बन द्वारा दृढ़ किये गये परिणाम से सम्यक् प्रकार अभ्यास करना सो उपायान्तर है ।

शास्त्र से क्या निर्णय करना चाहिये

दव्वाणि गुणा तेसि पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्वत्ति उवदेसो ॥२३१॥

अर्थ—द्रव्य गुण और उनकी पर्यायें "अर्थ". नाम से कही गई है उनमें गुण पर्यायों का आत्मा द्रव्य है इस प्रकार (जिनेन्द्र का) उपदेश है ।

टीका—द्रव्यगुण और पर्यायों में अभिधेय भेद होने पर भी अभिधान का अभेद होने से वे "अर्थ" है उसमें जो गुणों का और जो पर्यायों को प्राप्त करते हैं अथवा जो गुणों और पर्यायों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं ऐसे 'अर्थ' द्रव्य है, जो द्रव्यों को आश्रय के रूप में प्राप्त करते हैं अथवा जो आश्रय भूत के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं ऐसे 'अर्थ' गुण है। जो द्रव्यों को क्रम परिणाम से प्राप्त करते हैं अथवा जो द्रव्यों के द्वारा क्रम परिणाम से प्राप्त किये जाते है ऐसे 'अर्थ' पर्याय हैं।

स्वपर का विवेक मोह क्षय का कारण है

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं ।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणादि ॥२३२॥

अर्थ—जो निश्चय से ज्ञानात्मक ऐसे अपने को और पर को निज निज द्रव्यत्व से सम्बद्ध जानता है वह मोह का क्षय करता है।

टीका—निश्चय से अपने को स्वकीय चैतन्यात्मक द्रव्यत्व से सम्बद्ध और पर को परकीय यथोचित् द्रव्यत्व से सम्बद्ध ही जानता है, वही (जीव) जिसने कि सम्यक् रूप से स्व पर के विवेक को प्राप्त किया है सम्पूर्ण मोह का क्षय करता है, इसलिये मैं स्वपर के विवेक के लिये प्रयत्न शील हूँ।

स्वपर विवेक को सिद्धि आगम से करने योग्य है

तम्हाजिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु ।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ॥२३३॥

अर्थ—इसलिये (स्वपर के विवेक से मोह का क्षय हो सकने योग्य होने से) यदि आत्मा अपनी निर्मोहता चाहता है, तो जिन मार्ग से गुणों के द्वारा द्रव्यों में स्व और पर को जानो (जिनागम के द्वारा विशेष गुणों से यह विवेक करो कि अनंत द्रव्यों में से यह स्व और यह पर है)।

टीका—मोह का क्षय करने के प्रति अभिमुख बुधजन इस जगत में आगम में कथित अनन्त गुणों में से किन्हीं गुणों के द्वारा जो गुण अन्य के साथ योग रहित होने से असाधारणता धारण करके विशेषत्व को प्राप्त हुये है उनके द्वारा अनन्त द्रव्य परम्परा में स्वपर विवेक को प्राप्त करो। जो कि इस प्रकार है—

सत् और अकारण होने से स्वतः सिद्ध अन्तर्मुख और बहिर्मुख प्रकाश वाला होने से स्व परका ज्ञायक ऐसा जो यह मेरे साथ सम्बन्ध वाला मेरा चैतन्य है, उसके द्वारा जो (चैतन्य) समान जातीय अथवा असमान जातीय अन्य द्रव्य को छोड़कर मेरे आत्मा में ही वर्तता है, उसके द्वारा मैं अपने आत्मा को सकल त्रिकाल में ध्रुवत्व का धारक द्रव्य जानता हूँ। इस प्रकार पृथक रूप से वर्तमान स्व लक्षणों के द्वारा जो अन्य द्रव्य को छोड़कर उसी द्रव्य में वर्तते हैं उनके द्वारा आकाश, धर्म-अधर्म काल पुद्गल अन्य आत्माओं को सकल त्रिकाल में ध्रुवत्व धारक द्रव्य के रूप में निश्चित् करता हूँ। इसलिये मैं आकाश नहीं हूँ, धर्म नहीं हूँ, अधर्म नहीं हूँ, काल नहीं हूँ, पुद्गल नहीं हूँ और आत्मान्तर नहीं हूँ, क्योंकि मकान के एक कमरे में जलाये गये अनेक दीपकों के प्रकाशों की भाँति यह द्रव्य इकट्ठे होकर रहते हुए भी मेरा चैतन्य निज स्वरूप से अच्युत ही रहता हुआ मुझे पृथक बताता है। इस प्रकार जिसने स्व पर का विवेक निश्चित किया है ऐसा आत्मा के विकारकारी मोहांकुर का प्रादुर्भाव नहीं होता।

सम्यक्त्व के दोष

एवं चिय णाउण य सव्वे मिच्छत्तदोस संकाइ।
परिहरि सम्मत्तमला जिण भणिया तिविहजोएण ॥२३४॥

अर्थ—ऐसे पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्व चरण चारित्र को जान कर मिथ्यात्व के जो शंकादि दोष है उनको, तथा जो सम्यक्त्व के अशुद्ध करने वाले मल है वे जिन देव ने कहे हैं उनको मन, वचन और काय द्वारा छोड़े।

भावार्थ—सम्यक्त्व में २५ पचीस प्रकार का दोष लगते हैं, वे बुद्धि पूर्वक छोड़ना चाहिये, वे दोष ८ आठ मद, ८ आठ शंकादि दोष, ६ अनायतन, ३ मूढता हैं।

सम्यक्त्व के आठ अङ्ग

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य ।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ।।२३५।।

अर्थ—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा अमूढ दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना ऐसे आठ अंग है ।

सम्यग्दृष्टि का वाह्य चिन्ह

वच्छल्यं विणाएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए ।
मग्गगुणासंसणाए अवगूहण रक्खणाए य ।।२३६।।

एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं ।
जीवो आराहंतो जिणसम्मत्तं अमोहेण ।।२३७।।

सम्यग्दृष्टि के वाह्य चिन्ह इस प्रकार है :—

अर्थ—सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीव के तत्काल जन्मे गौ वत्स के समान साधर्मीयों से प्रीति करता है। गुणों से अधिक हों उनमें विनय सत्कार आदि के द्वारा बहुमान देता है। दुखी प्राणियों को देखकर करुणा भाव रूप अनुकम्पा करता है तथा दान आदि के द्वारा उनका उपकार करता है। निर्ग्रन्थ मुनि के मोक्षमार्ग की प्रसंसा करना, यह भी सम्यग्दृष्टि का बाह्य चिन्ह है। किसी धर्मात्मा पुरुष के कर्म के उदय से किसी प्रकार का दोष उत्पन्न हो जावे उसको प्रकाशित न करे। धर्मात्मा पुरुष को मार्ग से गिरता हुआ जानकर उसको स्थिर करे, जिससे गिर कर भ्रष्ट न हो सके, इसी का नाम स्थितिकरण है, ऊपर भावों को प्रगट करने वाला एक आर्जव भाव है। एवं सम्यग्दृष्टि आतमा सरल निष्कपट निष्छल होता है।

सम्यग्दर्शन सर्व गुण में सार है

एवं जिणपरणात्तं दंसणरयणं धरेह भावेण ।।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स ।।२३८।।

अर्थ—इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान ने कहा है, सम्यक् दर्शन रूपी रत्न को भावों से धारण करो, मोक्ष रूपी महल पर चढ़ने, के लिये रत्न त्रय में (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र में) सम्यग्दर्शन प्रथम सोपान है। इसलिये बाह्य क्रिया कलाप को छोड़कर अतंरंग भाव से सम्यग्दर्शन की प्राप्त करो, अर्थात् तत्व का श्रद्धान करो।

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं ।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ।।२३९।।

अर्थ—प्रथम पुरुष (आत्मा) को ज्ञान ही सार है, क्योंकि ज्ञान से ही तत्व का निर्णय हो सकता है। तत्वज्ञान को प्राप्त करने से वह जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकता है। और सम्यग्दर्शन के कारण से ही उसी ज्ञान और चारित्र को सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र कहा जाता है। वही सम्यक् चारित्र साक्षात् मोक्षमार्ग है। उसी से निर्वाण की प्राप्ति करता है।

सम्यग्दर्शन रत्न है।

कल्लाण परंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं ।
सम्मद्दंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए ।।२४०।।

अर्थ—जीवों को सम्यग्दर्शन ही परम्परा सुख का कारण है। इसलिये सम्यग्दर्शन रत्न है सम्यग्दृष्टि जीव ही इन्द्र सुरेन्द्र द्वारा लोक पूज्यवन जाता है।

सम्यक्त्व की महिमा

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ॥२४१॥

अर्थ—जो आत्मा सम्यक्त्व को स्वप्न में भी अतिचार नहीं लगाता है, अर्थात् जिसको तत्व में शंका ही नहीं है, वही सम्यक्त्व की श्रद्धा करने वाला जो मनुष्य है, वही कृतार्थ है, वही पंडित है, क्योंकि वही सम्यक्त्व सिद्धि का कारण है ।

सम्यग्दृष्टि भी तप अवश्य करे ।

धुव सिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेई तवयरणं ।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥२४२॥

अर्थ—जो जीव नियम से मोक्ष जाने वाला है, ऐसे चार ज्ञान के धारी तीर्थंकर भी तपश्चरण करते हैं । इसलिये सब जीवों को तपश्चरण जरूर करना चाहिये ।

भावार्थ—जो जीव अपने को ज्ञानी मानता है और तपश्चरण करने में रूचि नहीं है, इतना ही नहीं परन्तु जो जीव उपवासादि तपश्चरण करते हैं एसे जीव को कहते हैं कि तपश्चरण में क्या पड़ा है । ऐसे प्राणियों के लिये आचार्य ने सावधान किया है, कि तप ही शान्ति का कारण है, क्योंकि इच्छाओं का बढ़ाना तो पाप भाव है और उनका आजीवन त्याग करना तप है इसलिये पाप वृत्ति हटाने के लिये तपः करना आवश्यक है ।

सम्यग्दर्शन चारित्र में से दोष दूर करता है ।

सम्मद्दसंण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया ।
सम्मेण य सद्दहदि परिहरदि चरित्तजे दोसे ॥२४३॥

अर्थ—दर्शन से आत्मा सत्ता मात्र वस्तु देखता है। सम्यक्-ज्ञान से द्रव्य पर्याय सहित वस्तु को जानता है। और सम्यक् दर्शन से त्रिकाल स्वाभाव का श्रद्धान करता है। और सम्यक् चारित्र से पुण्य पाप रूपी राग को छोड़ता है।

सम्यग्दृष्टि जीव ही मोक्ष पाते हैं।

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स ।
नियगुणमाराहंतो अचिरेण वि कम्म परिहरइ ॥२४४॥

अर्थ–जिस जीव ने मिथ्यात्व रूपी भाव का वमन किया है, वही जीव अपना वीतराग भाव प्रकटकरके अर्थात् स्वस्वरूप की आराधना करके रागादिक मल, ज्ञानावणादि कर्ममलका नाश करके तीन ३ भाव रूप अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता रूप अपने स्वभाव में स्थिर हो जाता है।

भावार्थ—जिस जीव की श्रद्धा में गलती है. वह जीव कभी भी अपने स्वरूप की प्राप्ति नहीं कर सकता है। अज्ञानी जीव पुण्य तत्व को संवर तत्व मानता है वहीं है तत्व की अप्रतीति रूप मिथ्यात्व भाव का वमन करना यही प्रथम कर्त्तव्य है।

सम्यक्त्व ही संसार नाशक है।

संखिज्जमसंखिज्जगुणं च संसारिमेरूमत्ता णं ।
सम्मत्तमणुचरंता करंति दुक्खक्खयं धीरा ॥२४५॥

अर्थ—सम्यक् चरण करने वाला पुरुष ही धीर वीर है जो कर्म की संख्यात गुणी असंख्यात गुणी निर्जरा करता है। जो कर्म संसारी जोवो को मेरू समान था, दुःख का कारण था। उसी का सम्यग्दृष्टि आत्मा नाश करता है।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव यम रूप जो जो जो त्याग करता है। वह भाव निर्जरा का कारण न बन के पुण्य बन जाता है। वही त्याग सम्यग्दृष्टि को भाव निर्जरा अर्थात् आत्म शान्ति का कारण बनता है। यही सम्यग्दर्शन की विचित्रता है।

सर्व प्रथम जीव का कर्तव्य

जं सक्कई तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥२४६॥

अर्थ—दान, तप, संयम करने की शक्ति हो तो कीजिये। यदि शक्ति नहीं तो तत्व का श्रद्धान अवश्य करें क्योंकि तत्व श्रद्धानी को ही भगवान ने सम्यग्दृष्टि कहा है।

भावार्थ—प्रत्येक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव में पदार्थ का निर्णय करने का ज्ञान प्राप्त हुआ है, किन्तु सब जीवों में त्याग करने की शक्ति हो या न भी हो अनेकान्त है। इसलिये आचार्य कहते हैं, कि ज्ञान का दुरुपयोग न करके तत्व ज्ञान की प्राप्ति करले। ऐसे तत्व ज्ञानी जीव को भगवान ने सम्यग्दृष्टि कहा है।

आचरण न होवे तो श्रद्धान कर लेना

जदि सक्कदि कादुं जे पडिक्कमणादिं करेज्ज झाणमयं।
सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं ॥२४७॥

अर्थ—यदि किया जा सके तो अहो ? ध्यानमय प्रतिक्रमणादि कर, यदि तू शक्ति विहीन हो तो तब तक श्रद्धान ही कर्त्तव्य है।

वचन वर्गणा में फंस नहीं जाना

णाणा जीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥२४८॥

अर्थ—नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म, नाना प्रकार की लब्धि (क्षयोपशम) इसलिये स्वसमयो तथा परसमयो के साथ वचन विवाद वर्जन योग्य है।

भावार्थ—केवल नय विवक्षा की चर्चा में ही दिन व्यतीत नहीं कर अपना हित करने की भावना रखना चाहिये।

सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है और आगम ज्ञान है वह भी भ्रष्ट है

सम्मत्तरयणभट्टा जाणंता वहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणाविरहिया भमंत्ति तत्थेव तत्थेव ॥२४९॥

अर्थ—जो पुरुष सम्यक्त्व रत्न से भ्रष्ट है और बहुत प्रकार शास्त्र को जानते हैं तो भी वे जीव आराधना से रहित होने से संसार में ही भ्रमण (लम्बे काल तक) करते हैं।

सम्यक्त्व रहित तप भी कार्यकारी नहीं है

सम्मत विरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंत्ता णं।
ण लहंति वोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥२५०॥

अर्थ—जो पुरुष सम्यक्त्व से रहित है और भले प्रकार उग्र तप को आचरते हैं तो भी वे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप अपने आत्मा का लाभ नहीं पाते। ऐसे जीव हजार कोटि वर्ष तक तप करे तो भी स्वरूप की प्राप्ति नहीं कर सकते।

भावार्थ—तप करने से सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है, सम्यक्त्व की प्राप्ति ज्ञान से ही हो सकती है।

अज्ञानी जो कर्म लाखों भावों में खपाता है वह ज्ञानी क्षणमात्र में खपाता है

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥२५१॥

अर्थ—जो कर्म अज्ञानी लक्ष कोटि भवों में खपाता है वह ज्ञानी तीन प्रकार (मन, वचन, काय) से गुप्त होने से उच्छ्वास मात्र में खपाता है।

टीका—जो कर्म (अज्ञानी को) क्रमपरिपाटी से तथा अनेक प्रकार के बालतपादि रूप उद्यम से पकते हुए, रागद्वेष को ग्रहण किया होने से सुख दुःखादि विकारभाव रूप परिणमित होने से पुनः संतान को आरोपित करता जाय, इस प्रकार लक्षकोटि भवों में ज्यों ज्यों करके (महा कष्ट से) अज्ञानी पार कर जाता है वही कर्म ज्ञानी को स्यात्कार केतन आगम ज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान और संयतत्व की युगपत्ता के अतिशय प्रसाद से प्राप्त शुद्ध आत्म-तत्त्व की अनुभूति जिसका लक्षण है ऐसे ज्ञानीपन के सद्भाव के कारण काय-वचन-मन के कर्मों के उपरम से त्रिगुप्तिता प्रवर्त-मान होने से प्रचंड उद्यम से पकता हुआ रागद्वेप के छोड़ने से समस्त सुख दुःखादि विकार अत्यन्त निरस्त हुआ होने से पुनः संतान को आरोपित न करता जाय इस प्रकार उच्छ्वास मात्र में ही लीलामात्र से ही ज्ञानी नष्ट कर देता है।

इससे आगम ज्ञान-तत्वार्थ श्रद्धान और संयमत्व की युगपता होने से आत्म ज्ञान को ही मोक्ष मार्ग का साधकतम संमत करना।

भावार्थ—यहाँ कर्म की निर्जरा दो प्रकार से दिखाई है (१) क्रमपरिपाटी से अर्थात् सविपाक निर्जरा और अनेक प्रकार के उद्यम से अविपाक निर्जरा। जिस जीव ने मात्र क्रमवद्ध ही पर्याय मानी है उसने अपना पुरुषार्थ का नाश कर दिया। सवि-पाक निर्जरा क्रमवद्ध ही होती है और अविपाक निर्जरा अक्रम ही होती है। संस्कृत टीका में आचार्य देव ने "अक्रमेण" शब्द का प्रयोग कर अज्ञानी एकान्त मिथ्यादृष्टि जीव को सावधान किया

है। वीतराग वाणी में कोई भी कथन एकान्त नहीं है, अज्ञान को पक्ष छोड़कर विवेक से सब बात यथार्थ ठीक ठीक ज्ञान में भाषित हो जावेगी।

उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ अन्तोमुहुत्तेण ॥२५२॥

अर्थ—अज्ञानी उग्र तप करके बहुत भवों में जो कर्म क्षय करता है उस कर्म को ज्ञानी तीन गुप्ति से युक्त होता हुआ अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर डालता है।

सम्यग्दर्शन बिना केवल चारित्र से निर्वाण नहीं हो सकता

दंसण भट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरिय भट्टा दंसण भट्टा ण सिज्झंति ॥२५३॥

अर्थ—जो पुरुष दर्शन से भ्रष्ट है वे भ्रष्ट है, और जो दर्शन से भ्रष्ट है उसका निर्वाण नहीं होता है। जो चारित्र से भ्रष्ट है उसका निर्वाण हो सकता है। किंतु दर्शन से भ्रष्ट है उसका निर्वाण नहीं हो सकता है।

जो जीव दर्शन से भ्रष्ट है और ज्ञानी को अपपेर पड़ाने को चाहता है वह निगोद में जाते हैं

जे दंसणेसु भट्टा पाए पांडत्ति दंसणधराणं।
ते होंति लल्लमुआ बोही पुण दुलहा तेसिं ॥२५४॥

अर्थ—जो पुरुष दर्शन से भ्रष्ट है और अन्य सम्यग्दृष्टि को अपने को नमस्कारादि कराने की भावना रखता है वहे पर भव में लुलामुका अर्थात् एकेन्द्रिय होता है, और उनके बोधिरूप रत्नत्रय की प्राप्ति दुर्लभ होती है।

मिथ्या आचरणी भ्रष्ट में भ्रष्ट है

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य।
एदे भट्ठ वि भट्ठा सेसं पि जणं विणासंति ।।२५५।।

अर्थ—जो पुरुष दर्शन से भ्रष्ट हैं, ज्ञान से भ्रष्ट है और चारित्र से भी भ्रष्ट है वे पुरुष भ्रष्टों में विशेष भ्रष्ट है, वे आप तो भ्रष्ट है ही परन्तु अन्य जीव को भी भ्रष्ट करते हैं।

भावार्थ—भ्रष्ट आत्मा स्वयं डूब रहा है और जो जीव उसकी संगती करते हैं उसी को भी डुबाते हैं। जिसकी नौका फूटी है वह नौका भी डूबती है और नौका के आश्रय लेने वाले भी डूबते हैं।

भक्ति मार्ग

जैन मत में लिंग तीन है

एगं जिणस्स रूवं वीयं उक्किट्ठसावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि।।२५६।।

अर्थ—जैन मत में लिंग तीन प्रकार कहे हैं। (१) जैसा जिनेन्द्र देव ने नग्न लिंग धारण किया है वह मुनि लिंग हैं। (२) दूसरा ग्यारहवीं प्रतिमा धारी श्रावक का लिंग है (३) तीसरा आर्यिका का लिंग हैं। चौथा लिंग जैन मत में नहीं है।

मुनिलिंग का स्वरूप

पंचविहचेलचायं खिदि सयणं दुविहसंजमं भिक्खू।
भावं भाविय पुव्वं जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं ।।२५७।।

अर्थ—जिन लिंग ऐसा है, जहाँ पाँच प्रकार के वस्त्र का त्याग है, जहाँ भूमि पर शयन हो, जहाँ दो प्रकार का संयम हो। (१)

प्राण संयम (२) इन्द्रिय संयम, जहाँ भिक्षा भोजन हो। भावित पूर्व अर्थात् पहले शुद्ध आत्मा का स्वरूप पर द्रव्य से भिन्न सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमयी होता हुआ बार बार भावना से अनुभव किया हो ऐसा जिसका भाव है वह ही निर्मल वाह्य मलरहित; शुद्ध अंतर्मल रहित, जिनलिंग है।

भावलिंगी का स्वरूप

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेस इं वोसरे ॥२५८॥

अर्थ--मैं परद्रव्य और पर भाव से ममत्व छोड़ता हूं, मेरा निज स्वरूप ममत्व रहित है उसी को ही अङ्गीकार करके (स्वरूप में) तिष्टता हूं अब मुझ को मेरा ही आत्मा का अवलंवन हो और सर्व भावों को छोड़ता हूँ।

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भाव लिंगी हवे साहू ॥२५९॥

अर्थ—देहादिक परिग्रह से रहित होकर, और मान कषाय से रहित होकर, आत्मा में लीन हो सो भावलिंगी है।

कैसे मुनिराज को नमोस्तु करना चाहिये

जो संजमेसु सहिआ आरम्भ परिग्गहेसु विरओ वि।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए ॥२६०॥

अर्थ—जो दिगंबर मुद्रा का धारक मुनि जिसने इन्द्रियाँ और मन को जीत लिया है, और छहकाय जीव की रक्षा करे, इस प्रकार दोनों संयम सहित हो, आरंभ रहित हो, और वाह्य और अभ्यंतर परिग्रह से विरक्त हो, ब्रह्मचर्य आदि मूल गुणों सहित

हां, ऐसे मुनिराज देव दानव और मनुष्य द्वारा पूजा-वंदन करने योग्य है।

जे बावीस परीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता।
ते होंदि वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरासाहू ॥२६१॥

अर्थ—जो साधु अपनी शक्ति को छुपावे नहीं, शक्ति सहित होकर बाईस परिषह को जोतते हैं ऐसा साधु वंदन करने योग्य है, तथा कर्म का क्षयरूप निर्जरा में प्रवीण है।

पंचमहव्वयजुत्तो तिहि गुत्तिहि जो स संजदो होइ।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जोय ॥२६२॥

अर्थ—जो मुनिराज पंचमहाव्रत से युक्त हैं, और तीन गुप्ति से संयुक्त हैं, वह संयत हैं, संयमवान हैं, निर्ग्रन्थ मोक्ष मार्गी हैं सो ही मुनिराज वंदन करने योग्य है।

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥२६३॥

अर्थ—श्रमणो के द्वारा सूत्रार्थ विशारद तथा संयम तप और आत्मज्ञान में समृद्ध श्रवण अभ्युत्थान उपासना और प्रणाम करने योग्य है।

टीका—जिनके सूत्रों में और पदार्थों में विशारदत्व के कारण संयम तप और स्वतत्व का ज्ञान प्रवर्तता है उन श्रमणों के प्रति अभ्युत्थानादि प्रवृतियाँ अनिषिद्ध है परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य श्रमणाभासो के प्रति वे प्रवृत्तियाँ निषेध ही है।

जो इंदिये जिणित्ताणाणसहावाधिअं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥२६४॥

प्राण संयम (२) इन्द्रिय संयम, जहाँ भिक्षा भोजन हो। भावित पूर्व अर्थात् पहले शुद्ध आत्मा का स्वरूप पर द्रव्य से भिन्न सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमयी होता हुआ बार बार भावना से अनुभव किया हो ऐसा जिसका भाव है वह ही निर्मल बाह्य मलरहित; शुद्ध अंतर्मल रहित, जिनलिंग है।

भावलिंगी का स्वरूप

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिसुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥२५८॥

अर्थ--मैं परद्रव्य और पर भाव से ममत्व छोड़ता हूं, मेरा निज स्वरूप ममत्व रहित है उसी को ही अङ्गीकार करके (स्वरूप में) तिष्टता हूं अब मुझ को मेरा ही आत्मा का अवलंबन हो और सर्व भावों को छोड़ता हूँ।

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भाव लिंगी हवे साहू ॥२५९॥

अर्थ—देहादिक परिग्रह से रहित होकर, और मान कषाय से रहित होकर, आत्मा में लीन हो सो भावलिंगी है।

कैसे मुनिराज को नमोस्तु करना चाहिये

जो संजमेसु सहिओ आरम्भ परिग्गहेसु विरओ वि।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए ॥२६०॥

अर्थ—जो दिगंबर मुद्रा का धारक मुनि जिसने इन्द्रियाँ और मन को जीत लिया है, और छहकाय जीव की रक्षा करे, इस प्रकार दोनों संयम सहित हो, आरंभ रहित हो; और बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह से विरक्त हो, ब्रह्मचर्य आदि मूल गुणों सहित

हां, ऐसे मुनिराज देव दानव और मनुष्य द्वारा पूजा-वंदन करने योग्य है।

जे बावीस परीसह सहंति सत्तीसएहि संजुत्ता।
ते होंदि वंदणीया कम्मकखयणिज्जरासाहू ॥२६१॥

अर्थ—जो साधु अपनी शक्ति को छुपावे नहीं, शक्ति सहित होकर बाईस परिषह को जोतते हैं ऐसा साधु वंदन करने योग्य है, तथा कर्म का क्षयरूप निर्जरा में प्रवीण है।

पंचमहव्वयजुत्तो तिहि गुत्तिहि जो स संजदो होइ।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जोय ॥२६२॥

अर्थ—जो मुनिराज पंचमहाव्रत से युक्त हैं, और तीन गुप्ति से संयुक्त हैं, वह संयत हैं, संयमवान हैं, निर्ग्रन्थ मोक्ष मार्गी हैं सो ही मुनिराज वंदन करने योग्य है।

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥२६३॥

अर्थ—श्रमणो के द्वारा सूत्रार्थ विशारद तथा संयम तप और आत्मज्ञान में समृद्ध श्रवण अभ्युत्यान उपासना और प्रणाम करने योग्य है।

टीक—जिनके सूत्रों में और पदार्थों में विशारदत्व के कारण संयम तप और स्वतत्व का ज्ञान प्रवर्तता है उन श्रमणों के प्रति अभ्युत्थानादि प्रवृत्तियाँ अनिषिद्ध है परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य श्रमणाभासो के प्रति वे प्रवृत्तियाँ निषेध ही है।

जो इंदिये जिणित्ताणाणसहावाधिअं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥२६४॥

अर्थ—जो इन्द्रियो को जीतकर ज्ञान स्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा को जानता है सो निश्चय में स्थित साधु है। वे वास्तव में जितेन्द्रिय जिन है।

जह जायरुवरुवं सुसंजयं सव्वसंगपरिचत्तं ।
लिंगं ण परावेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं ॥२६५॥

अर्थ—कैसा है गुरु ? तुरत के जन्मे हुये बालक की भांति नग्न एवं विकार रहित रूप, सुसंजम—पाँच इन्द्रियों के विषयों का विजेता और षट्काय जीवों की रक्षा करने वाला, सर्वसंग—सर्व परिग्रह तथा लौकिकजन की संगति से रहित, जिसमें इस लोक परलोक की अपेक्षा नहीं है ऐसे गुरु को जो गुरु मानता है उसी जीव को सम्यक्त्व है।

गुण हीन गुरु वंदन करने योग्य नहीं है

दंसण मूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं ।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥२६६॥

अर्थ—जिनवर देव ने अपने शिष्य गणधराधि को धर्म का उपदेश दिया है दर्शन मूल है जिसका ऐसा धर्म है। जिसमें सम्यग्दर्शन नहीं है उसमें धर्म नहीं है और जिसमें धर्म नहीं है ऐसे जीव धर्म मार्ग में वंदन करने योग्य नहीं है।

भावसंयमी नहीं है वह एवं असंयमी भी वंदन करने योग्य नहीं है

अस्संजदं ण वंदे वच्छविहीणोवि तो ण वंदिज्ज ।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो विण संजदो होदि ॥२६७॥

अर्थ—असंयमी नहीं वंदिये, एवं भाव संयम नहीं है और वाह्य वस्त्र रहित हो वह भी वंदन करने योग्य नहीं है, क्योंकि दोनों ही संयम रहित समान है एक भी संयमी नहीं है।

गुण बिना वंदन नहीं करना चाहिये

णवि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइ संजुत्तो ।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेयसावओ होइ ॥२६८॥

अर्थ—केवल शरीर भी वंदनीय नहीं है, कुल भी वंदन करने योग्य नहीं है, जाति युक्त भी नमष्कार करने योग्य नहीं है।

गुण हीन को कौन नमस्कार करेगा? गुण रहित होने पर मुनि भी नहीं है न श्रावक ही है।

भावार्थ—वेषधारी मुनि को वंदन करना तो दूर की बात है। किन्तु श्रावक का जितना आदर किया जाता है इतना आदर वेषधारी मुनि का किया नहीं जाता, क्योंकि श्रावक तो स्वर्ग मोक्ष का अधिकारी है किन्तु वेषधारी मुनि तो नरक निगोद का पात्र है।

नग्नता पूज्य नहीं है

दव्वेण सयल णग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया ।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥२६९॥

अर्थ—द्रव्य से अर्थात् वाह्य रूप से सम्पूर्ण प्राणी नंगे होते है। नारकी जीव, तिर्यंच जीव हमेशा नंगे रहते हैं। कारण वश मनुष्य भी नग्न हो जाता है परिणाम से अशुद्ध रहता है पूज्य नहीं है। जब तक भाव से श्रमणत्व (नग्नत्व) न हो तब तक पूज्य नहीं है।

जिन लिंग का विराधक है

मूल गुणं छित्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू ।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंगविराहगो णियदं ॥२७०॥

अर्थ—जो साधु निर्ग्रन्थ लिंग धारण कर मूल गुण में दोष लगाता है और केवल बाह्य क्रिया कर्म करता है तो भी वह मोक्ष सुख को नहीं पाते है। ऐसा साधु जिनलिंग का विराधक है।

लिंग धारण कर दोष लगाता है वह पाप मुनि है

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण ।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥२७१॥

अर्थ—जो निग्रेन्थ लिंगधारण करके परिग्रह का संग्रह रूप करते है, अथवा उसकी वांछा चिंतवन ममत्व करते हैं, एवं उस परिग्रह की रक्षा करते हैं, उसका बहुत यत्न करते हैं, उसके लिये आर्तध्यान निरंतर ध्याते हैं, पाप के द्वारा मोहित है, बुद्धि जिसकी ऐसा तिर्यंच योनि है, पशु है, अज्ञानी है, श्रमण तो नांही श्रमणपने को बिगाड़ते है, ऐसा जानना चाहिए।

जिन लिंगधारी आर्तध्यान ध्यावे सो अनंत संसारी है

दंसण णाण चरित्ते उवहाणे जइण लिंगरूवेण ।
अट्टं झायदि झाणं अणंत संसारिओ होदि ॥२७२॥

अर्थ—जिन लिंग रूप धारण करके दर्शन ज्ञान चारित्र को धारण नहीं करते है और आर्तध्यान को ध्याते है ऐसा मुनि अनंत संसारी होते हैं।

जिन लिंग धारण करि यथार्थ पालन न किया वह नरक में जावे

दंसणणाणचरित्ते तवसंजमणियमणिच्चकम्मम्मि ।
पीडयदि वट्टमाणो पावदि लिंगी णरयवासं ॥२७३॥

अर्थ—जिन लिंग धारण कर दर्शन ज्ञान चारित्र का निश्चय व्यवहार रूप धारण करना था, अनशन आदि तप करना था,

संयम, इन्द्रिय और मन का वश करना था, तथा जीव की रक्षा करनी थी, नित्य त्याग में वृद्धि करना थी, नित्य आवश्यक कर्म में उपयोग लगाना था यह तो किया नहीं और यह कार्य करने में दुःख मानता है सो मुनि नरक वास में जावेगा।

जिन लिंग धारण कर विषयों में रत मुनि तिर्यंच है

रागो करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेइ।
दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥२७०॥

अर्थ—जिनलिंग धारण कर स्त्री के समूह प्रति तो निरंतर राग प्रीति करता है। अन्य जो निर्दोष है, तिसको दूषण लगाते है, दर्शन ज्ञान रहित है ऐसा लिंगी तिर्यंच योनि है श्रवण नहीं है।

जिन लिंग धारण करके श्रावक एवं शिष्य प्रति राग करता है
वह मुनि तिर्यंच है

पव्वज्जहीणगहिणं णेहिं सीसम्मि वट्टदे बहुसो।
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥२७१॥

अर्थ—जिन लिंग धारण कर अव्रति श्रावक के प्रति और शिष्य प्रति बहुत स्नेह करे हैं और आवश्यकादि क्रिया और गुरु आदि का विनय नहीं करता है, वह मुनि तिर्यंच योनि है, वह श्रमण नहीं है।

मुनि को ही नमोस्तु कहा जाता है तो और को क्या कहना

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्म संजुत्ता।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय ॥२७२॥

अर्थ—दिगम्बर मुद्रा के सिवाय अवशेष के लिंग हैं भेष से युक्त है और सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन से संयुक्त है, और वस्त्र रखे है, वे इच्छाकार करने योग्य है।

श्रावक का लिंग

दुइयं च उत्त लिंगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च ।
भिक्खं भमेइ पत्ते समिदीभासेण मोणेण ।।२७३।।

अर्थ—दूसरा लिंग ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक का है, वह भ्रमण करि भिक्षा करे भोजन करे, पात्र में भोजन करे या हाथ में करे, भाषा समिति रूप बोले अथवा मौन (रख) कर चलें ।

भावार्थ—ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक भिक्षामें मौन से भी निकल सकता है और प्रसंग पड़े तो श्रावक के घर के समीप 'धर्म लाभ' ऐसा बोल भी सकता है ।

आर्यिका का लिंग

लिंगं इत्थीण हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि ।
अज्जिय वि एकवत्था-वत्थावरणेण भुंजेइ ।।२७४।।

अर्थ—स्त्री का लिंग ऐसा है कि एक समय भोजन करे, बारंवार भोजन नहीं करे, आर्यिका भी हो तो एक वस्त्र धारण करे, भोजन करते समय भी वस्त्र रखे नग्न न होवे ।

भावार्थ - श्राविका का धर्म है कि प्रत्येक दिन साड़ी धोकर अर्जिका को देवे और उनकी साड़ी ले जावे जिससे एक साड़ी से अर्जिका का निर्वाह हो सकता है। नमोस्तु केवल पाँच इन्द्रिय का विजेता मुनिराज को ही कहा जाता है, मुनिराज की नवधा भक्ति की जाती है। एलक अर्जिका की नवदा भक्ति में से पूजा नहीं होती है और उसको अर्घ भी नहीं चढ़ाया जाता है। मुनि-राज का छठा गुणस्थान है और अर्जिका ऐलक का पाँचवा गुण स्थान है। जैसा पद में अन्तर है उसी प्रकार भक्ति में भी अन्तर

है। तो भी जो दातार अर्जिका को अर्घ चढ़ाता है उसको विनय मिथ्यात्व का बन्ध पड़ता है। पद से विपरीत भक्ति करना विनय मिथ्यात्व है।

निश्चय भक्ति का स्वरूप

सम्मत्त णाण चरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो ।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं ॥२७५॥

अर्थ—जो श्रावक अथवा श्रमण सम्यक्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्चारित्र की भक्ति करता है उसे निर्वृत्ति भक्ति है ऐसा जिनेश्वरदेव ने कहा है।

ज्ञान चक्र अनुसरण को देव धर्म गुरु द्वार ।
देव धर्म गुरु जो लिखे सो पावे भव पार ॥
देव धर्म गुरु है निकट मूढ़ न जाने ठौर ।
बन्धी दृष्टि मिथ्यात्व से लखे और को और ॥
दर्शन चारित्र ज्ञानगुण देव धर्म गुरु शुद्ध ।
परखे आतम सम्पदा तजि स्नेह विरुद्ध ॥
सुमति धर्मते शिव सधै और उपाय न कोई ।
शिव स्वरूप प्रकाश से आवागमन न होई ॥

व्यवहार भक्ति

मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिउण ते सिंपि ।
जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं ॥२७६॥

अर्थ—जो जीव मोक्षगत पुरुषों का गुण भेद जानकर उनकी भी परम भक्ति करता है उस जीव को व्यवहारनय से निर्वाण भक्ति कही है।

निश्चय आयातन

मणवयण कायदव्वा आयत्ता जस्स इंदिया विसया ।
आयदंण जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजयं रुवं ।।२७७।।

अर्थ—जिन मार्ग में संयम सहित मुनि रूप है, उसी को आयातन कहा गया है। जिससे मन वचन और काय द्रव्य रूप है, पाँच इन्द्रियों का विषय रूप रस गंध स्पर्श और शब्द "आयत्ता" अर्थात् मुनिराज के आधीन हैं, वशोभूत हैं, ऐसा संयमी मुनिराज आयातन हैं।

मय राय दोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता ।
पंचमहव्वयधारा आयदणं महरिसी भणियं ।।२७८।।

अर्थ--जिस मुनिराज को मद, राग, द्वेष, मोह, क्रोध, लोभ और माया आदि ये सब "आयत्ता" अर्थात् निग्रह को प्राप्त हुए हैं, जो पंचमहाव्रत के धारी हैं ऐसा महामुनि ऋषीश्वर को आयातन कहा है।

निश्चय चैत्य गृह

बुद्धं जं वोहंतो अप्पाणं चेदयाइं अण्णं च ।
पंच महव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं ।।२७९।।

अर्थ—जो मुनिराज बुद्ध अर्थात् ज्ञानमयो ऐसा आत्मा को जानता हो, और अन्य जीव को भी चैत्य अर्थात् चेतना स्वरूप जानता हो, और आप ज्ञानमयी हो, और पाँच महाव्रत द्वारा शुद्ध होकर निर्मल अर्थात् मूल गुणो में दोष न लगाता हुआ राग द्वेष जिसका उपशान्त हुआ हो ऐसे मुनिराज को हे भव्य ! तू चैत्यगृह जान।

निश्चय प्रतिमा

जं चरदि शुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।
सो होई वंदणीया णिग्गंथा सजंदा पडिमा ॥२८०॥

अर्थ—जो मुनिराज शुद्ध आचरण को आचरते हैं, जो सम्यग्ज्ञान द्वारा यथार्थ वस्तु को जानते हैं, सम्यग्दर्शन द्वारा अपने स्वरूप को देखते हैं, ऐसा शुद्ध सम्यक्त्व जिसको है जिसके निर्ग्रंथ संयम स्वरूप प्रतिमा है सो वंदन करने योग्य है ।

भावार्थ—साक्षात् निर्ग्रन्थ मुनिराज गुरु ही जिन प्रतिमा है ऐसी प्रतिमा न मिले तब इसके स्थान में स्थापना निक्षेप से धातु पाषाण की वीतराग मुद्रा रूप प्रतिमा व्यवहार से वंदन पूजन करने योग्य है ।

दंसण अणंत णाणं अणंतवीरिय अणंउसुक्खा य ।
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठवंधेहिं ॥२८१॥
निरुवममचलमखोहा णिम्भिविया जंगमेण रुवेण ।
सिद्धट्ठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा ॥२८२॥

अर्थ—जो अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, अनंत सुख से सहित है, जो शाश्वत अविनाशी सुख स्वरूप है, जो अदेह है, अर्थात् शरीर रहित है, जो आठ कर्म बन्धन से छूट गये हैं, उपमा रहित है, अचल है, अक्षोभ है, जंगम द्वारा निर्मित्त है, लोक के अग्रभाग में अपने स्वरूप में स्थिर है, नित्य है ऐसी प्रतिमा सिद्ध है ।

जिनदर्शन

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संयमं सुधम्मं च ।
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं ॥२८३॥

अर्थ—तत्वार्थ श्रद्धान स्वरूप सम्यक्त्व, पंचमहाव्रत, पंच-समिति, तीन गुप्ति स्वरूप संयम, उत्तमक्षमादि रूप धर्म, बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ स्वरूप, ज्ञानमयी हैं ऐसे मुनि-राज को जिन मार्ग में दर्शन कहा गया है।

जिन बिम्ब

जिणविंब णाणमयं सांजमसुद्धं सुवीयरायं च।
जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खय कारणे सुद्धा ॥२८४॥

अर्थ—आचार्य परमेष्ठी जिन बिम्ब है! जो सम्यक् ज्ञान सहित हैं. संयम द्वारा शुद्ध हैं, अतिशय सहित वीतराग हैं, जो कर्म के क्षय का कारण है शुद्ध हैं. और जो दीक्षा और शिक्षा देने वाले हैं ऐसा आचार्य जिन बिम्ब है।

जिनमुद्रा

दढसंजमसुद्दाए ईदिंयमुद्दा कसायदढमुद्दा।
मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया ॥२८५॥

अर्थ—द्रढ़ संयम इन्द्रिय और मन को वश करना, षट काय जीव की रक्षा करने वाला कषाय की प्रवृत्ति जिसमें नहीं है ऐसी कषाय द्रढ़ मुद्रा सम्यक ज्ञान सहित है ऐसे निर्ग्रन्थ स्वरूप जिन कल्पी मुनिराज को जिन शासन में जिनमुद्रा कही है।

तीर्थ का स्वरूप

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं।
तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि संतिभावेण ॥२८६॥

अर्थ—जो मुनिराज! निर्मल-उत्तम क्षमादि धर्म रूप हैं, निश्चय सम्यग्दर्शन सहित है, जिसकी कषाय निवृत हो गई है, जो इच्छा निरोध तप सहित हो, सम्यक् ज्ञान सहित हो, ऐसे मुनिराज तीर्थ है जो शान्त भाव सहित होकर तप ही तीर्थ है।

नव पदार्थ का स्वरूप

नव पदार्थ

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं ।
संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ।।२८७।।

अर्थ— जीव, अजीव, दो भाव तथा उन के दो भेदपुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये सब (नव) पदार्थ हैं।

भावार्थ—यह पदार्थों के नाम और स्वरूप का कथन है।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इस प्रकार नव पदार्थों के नाम हैं।

जीव—चैतन्य जिसका लक्षण है ऐसा ज्ञायक स्वभाव का ही नाम जीव है।

अजीव—चैतन्य का अभाव जिसका लक्षण है वह अजीव है अर्थात् जीव द्रव्य के साथ में जो संयोगी पुद्गल रचना कर्म, नोकर्म रूप हैं वही अजीव है।

पुण्य—धर्मानुराग रूप भाव सो पुण्य है। अर्थात् चारित्र गुण का मन्द कषाय रूप परिणाम।

पाप—विषयानुराग रूप भाव सो पाप है। चारित्र गुण का तीव्र कषाय रूप परिणाम।

आस्रव—जिसमें योग नाम का गुण है उस गुण की कम्पन रूप अवस्था का नाम आस्रव है।

संवर—मिथ्यात्व भाव कषाय भाव और लेश्या रूप परिणित का अभाव का नाम संवर है।

निर्जरा—अनन्तानुवन्धी कषाय का संवर होने के बाद वर्तमान में जिस जाति की कषाय है उस कषाय में से जितनी इच्छा का यम रूप अभाव सो निर्जरा है।

बंध—श्रद्धा गुण चारित्र गुण और क्रिया गुण की विकारी पर्याय का नाम बन्ध है।

मोक्ष—सम्पूर्ण गुणों की शुद्धता एवं अजीव तत्व का आत्मा से अत्यन्त अभाव सो मोक्ष पदार्थ है।

जीव तत्व का स्वरूप

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।२८८।।

अर्थ—हे भइया ! जीव तत्व को रस रहित, रूप रहित, गन्ध रहित अव्यक्त अर्थात् इन्द्रिय गोचर नहीं ऐसा चैतन्य जिसका गुण है ऐसा, शब्द रहित किसी चिन्ह से ग्रहण न होने वाला और जिसका कोई आकार नहीं कहा जाता ऐसा जान।

टीका—अपने अनुभव में आने वाला चेतना गुण के द्वारा सदा अंतरंग में प्रकाशमान है, इसलिये जीव तत्व चेतना गुण वाला है, वह चेतना गुण समस्त विप्रति-पत्तियों को (जीव तत्व को अन्य प्रकार से मानने से रूप झगड़ों को) नाश करने वाला है। जिसने अपना सर्वस्व भेद ज्ञानो जीवों को सौंप दिया है जो समस्त लोकालोक को ग्रासीभूत करके मानो अत्यन्त तृप्ति से उपशान्त हो गया हो, इस प्रकार (अर्थात अत्यन्त स्वरूप सौख्य से तृप्त होने के कारण स्वरूप में से बाहर निकलने का अनुद्यमी हो इस प्रकार) सर्व काल में किंचित् मात्र भी चलायमान नहीं होता और इस तरह सदा लेशमात्र भी नहीं चलित, अन्य द्रव्य से असाधारणता होने से जो (असाधारण) स्वभावभूत है। ऐसा चैतन्य रूप पदार्थ स्वरूप जीव तत्व है। जिसका प्रकाश निर्मल है ऐसा यह भगवान् इस लोक में एक टंकोत्कीर्ण भिन्न ज्योति-रूप विराजमान है।

जीव तत्व का नास्ति से स्वरूप

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो ।
णवि रुवं ण शरीरं णावि संठाणं ण संहणणं ॥२८६॥

जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
जो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥२९०॥

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्या केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥२९१॥

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाण ण बंधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥२९२॥

णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्सं ण संकिलेशठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिट्ठाणा वा ॥२९३॥

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥२९४॥

अर्थ—जीव तत्व में वर्ण नहीं है, गंध भी नहीं है, और स्पर्श भी नहीं है, रूप भी नहीं है, शरीर भी नहीं है, संस्थान भी नहीं सहंनन भी नहीं, जीव के राग भी नहीं, द्वेष भी नहीं, मोह भी विद्यमान नहीं, प्रत्यय भी नहीं, कर्म भी नहीं, और नोकर्म भी उसके नहीं हैं, जीव के वर्ग नहीं, वर्गणा नहीं, कोई स्पर्द्धक भी नहीं अध्यात्मस्थान भी नहीं, और अनुभाग स्थान भी नहीं, जीव के कोई योग स्थान भी नहीं है, अथवा बन्ध स्थान भी नहीं, और उदय स्थान भी नहीं, कोई मार्गणा स्थान भी नहीं, जीव के स्थिति बन्ध स्थान भी नहीं, अथवा संक्लेश स्थान भी नहीं, विशुद्धि

स्थान भी नहीं, अथवा संयम लब्धि स्थान भी नहीं, और जीव के जीव स्थान भी नहीं, अथवा गुण स्थान भी नहीं है, क्योंकि सब पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं।

भावार्थ—जीव तत्व में ऊपर लिखा एक भी भाव नहीं है, किन्तु यह सब भाव जीव द्रव्य में है, जीव तत्व तो केवल एक ज्ञानादि अनंत गुण एवं अनन्तानंत पर्याय का पुंज रूप "ज्ञायक" है।

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा
भिन्नाभावाः सर्व एवास्य पुँसः ।
तेनैवांतस्तत्त्वतः पश्यतोऽमि
नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥२९५॥

अथ—जो वर्णादिक अथवा राग मोहादिक भाव कहे, वे सब ही इस पुरुष (आत्मा-जीवतत्व) से भिन्न है इसलिये अर्न्तदृष्टि से देखने वाले को यह दिखाई नहीं देते, मात्र एक सर्वोपरि तत्व ही दिखाई देता है, केवल चैतन्य मात्र स्वरूप अभेद रूप आत्मा (जीव तत्व) ही दिखाई देता है।

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥२९६॥

अर्थ—यह वर्ण से लेकर गुण स्थान पर्यंत जो भाव कहे गये वे व्यवहारनय से तो जीव द्रव्य के है किन्तु निश्चयनय के मत से उनमें से कोई भी जीव तत्व में नहीं है।

भावार्थ—जीव द्रव्य में तो सातो तत्व हैं किन्तु जीव तत्व में अन्य तत्व का अभाव है यह सब भावों अन्य तत्व अर्थात आस्रव बन्ध, संवर, निर्जरा एवं अजीव तत्व का है। एक तत्व में दूसरे

तत्व का अभाव है। किन्तु सब तत्व जीव द्रव्य में हैं। जीव तत्व तो अखण्ड अभेद अविनाशी, अनादि, अनन्त ज्ञायक स्वभाव का नाम है, कैसा है वह ज्ञायक स्वभाव ? अनन्त गुण एवं अनंतानन्त पर्याय का पुंज रूप है जब देखो तब वैसा का हीं वैसा है उसो का कभी नाश नहीं होता है। उत्पाद व्यय तो पर्याय में होता है यह तो केवल टङ्कोत्कीर्ण है, ध्रौव्य है। जिसमें गुणगुणी एवं गुण पर्याय भेद नहीं है। भेद तो केवल कल्पना से हो किया जाता है वस्तु अभेद हैं ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिये।

अजीव तत्व

एवमभिगम्म जीवं अण्णेहिं वि पज्जएहिं बहुगेहिं।
अभिगच्छदु अज्जीवं णाणंतरिदेहिं लिंगेहिं ॥२९७॥

अर्थ – इस प्रकार अन्य भी बहुत सी पर्यायों द्वारा जोव द्रव्य को जानकर ज्ञान से अन्य ऐसे लिंगों द्वारा अज़ीव तत्व को जानो

भावार्थ—जीव द्रव्य के साथ में जो संयोगी पुद्गल की द्रव्य कर्म एवं शरीर रूपी नोकर्म यह अजीव तत्व रूप जीव की पर्यायें है। जीव तत्व का वर्णन करते समय जितनी पुद्गल द्रव्य से जीव तत्व को अलग दिखाया यह सब अजीव तत्व है अर्थात शरीर, संस्थान, सहंनन, शरीर का वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, शरीर का आकार, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अनुभाग स्थान, स्थान, योग स्थान, बन्ध स्थान, उदय स्थान, स्थितिबन्ध आदिसब अजीव तत्त्व हैं। चौदहवें गुण स्थान के अन्त में जिस कर्म का अभाव होने से मोक्ष तत्त्व की प्राप्ति होती है, उन कर्म नोकर्म का नाम अजीव तत्त्व है।

शरीर-मन वचन पर्याप्ति अजीव तत्त्व है

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पगत्ति णिद्दिट्ठा।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥२९८॥

अर्थ—देह-वाणी और मन पुद्गल द्रव्यात्मक है ऐसा (वीतराग देव ने) कहा है, और वे पुद्गल द्रव्य परमाणु का पिण्ड है।

टीका—शरीर, वाणी, मन, तीनों ही परद्रव्य हैं, वे पुद्गल द्रव्यात्मक हैं कि वे पुद्गल द्रव्य के स्व लक्षण भूत स्वरूपास्तित्व में निश्चित है। उस प्रकार का पुद्गल द्रव्य अनेक परमाणु द्रव्यों का एक पिण्ड पर्याय रूप से परिणाम है, क्योंकि अनेक परमाणु द्रव्यों के स्वलक्षण भूत स्वरूप अस्तित्व अनेक होने पर भी कथंचित् एकत्त्व रूप अवभासित होते हैं।

औदारिक आदि शरीर भी अजीव तत्त्व है

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजइओ।
आहारय कम्मइओ पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥२९९॥

अर्थ—औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, तैजश शरीर, आहारक शरीर और कार्माण शरीर सब पुद्गल द्रव्यात्मक हैं।

आस्रव तत्त्व

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पुग्गला काया।
पविसंति जहा जोग्गं चिट्ठंति य जंति वज्झंति ॥३००॥

अर्थ—वह आत्मा स प्रदेश है उन प्रदेशों में पुद्गल समूह प्रवेश करते हैं यथा योग्य रहते हैं जाते हैं और बंधते हैं।

टीका—यह आत्मा लोकाकाश तुल्य असंख्य प्रदेशी होने से सप्रदेशी है। उसके उन प्रदेशों में काय वर्गणा, वचन वर्गणा और मनो वर्गणा का आलम्बन वाला परिस्पन्द (कंपन) जिस प्रकार से होता है उसी प्रकार से कर्म पुद्गल के समूह स्वयमेव परिस्पन्द वाले होते हुए प्रवेश भी करते हैं, रहते भी हैं, और जाते

भी हैं और यदि जीव के मोह राग द्वेष भाव हो तो बधते भी हैं। इसलिए निश्चित होता है कि द्रव्य वंध का हेतु भाव बंध है।

भावार्थ—आत्मा में एक योग नाम का गुण स्वतंत्र है। शरीर वचन और मनो वर्गणा के आलम्बन से वह योग गुण की कंपन रूप अवस्था होती है उसी कंपन अवस्था का नाम भाव आश्रव हैं और उस कंपन से कर्म पुद्गल के समूह प्रवेश करते हैं वह द्रव्य आस्रव है। यदि आत्मा में मोहराग द्वेष या लेश्या रूप परिणाम होने से वह द्रव्य बंध कहा जाता है। लेश्या से प्रदेश और प्रकृति बन्ध होता है और मोह राग द्वेष से स्थिति अनुभाग बन्ध होता है।

जोग णिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो ।
भाव णिमित्तो बंधो भावो रदिराग दोस मोह जुदो ॥२००॥

अर्थ—ग्रहण का (कर्म ग्रहण का) निमित्त योग है योग मन वचन काय जनित (आत्म प्रदेश परिस्पंद) है। बंध का निमित्त भाव है। भाव रति राग द्वेष मोह से युक्त (आत्म परिणाम) है।

टीका—यहाँ बंध के वहिरंग कारण और अंतरंग कारण का कथन है।

ग्रहण अर्थात् कर्म पुद्गलों का जीव प्रदेश वर्त्ती (जीव के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्र में स्थित) कर्म स्कन्धों में प्रवेश उसका निमित्त योग है। योग अर्थात वचन वर्गणा; मनोवर्गणा, कायवर्गणा और कर्मवर्गणा का जिसमें आलम्बन हो ऐसा आत्म प्रदेशों का परिस्पंद (अर्थात जीव के प्रदेशों का कंपन।

भावार्थ—यहाँ पर केवल आस्रव का ही स्वरूप दिखाया है वध का स्वरूप बंध तत्त्व में देखना। आत्म प्रदेश में अनन्त गुण

हैं जिस गुण का कम्पन रूप परिणाम है वह परमार्थ में भावास्रव रूप है। वस्तु विचार करते हुए आत्मा में एक योग गुण स्वतंत्र है जिसकी विकारी पर्याय का नाम कंपन है उसकी शुद्ध पर्याय चौदहवां गुण स्थान के प्रथम समय में स्थिर अयोगी क्षायिक भाव होती है वही कंपन अवस्था भावास्रव है।

पुण्य तत्त्व

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।
चित्तम्हि णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्स आसवदि ।।३०२।।

अर्थ—जिस जीव को प्रसस्त राग है, अनुकम्पा युक्त परिणाम है और चित्त में कलुषता का अभाव है उस जीव को पुण्य आस्रवित होता है।

प्रसस्त राग

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जाय खलु चट्ठो ।
अणुगमणं पि गुरुणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ।।३०३।।

अर्थ—अरहंत सिद्ध साधुओं के प्रति भक्ति, धर्म में यथार्थ तया चेष्टा और गुरुओं का अनुगमन, वह प्रशस्त राग कहलाता है।

टीका—यह प्रसस्त राग के स्वरूप का कथन है। अरहंत सिद्ध साधुओं के प्रति भक्ति धर्म में व्यवहार चारित्र के अनुष्ठान में भावना प्रधान चेष्ठा और गुरुओं का आचार्यादिका रसिक रूप से अनुगमन वह प्रशस्त राग है क्योंकि उसका विषय प्रशस्त है।

यह प्रशस्त राग वास्तव में जो स्थूल लक्षण वाला होने से मात्र भक्ति प्रधान है, ऐसे अज्ञानी को होता है। उच्च भूमिका में (आगे के गुणस्थान में) स्थिति प्राप्त न हो तब अस्थान का राग

रोकने के हेतु (पाप भाव से वचन के हेतु) अथवा तीव्र राग ज्वर मिटाने के हेतु कदाचित ज्ञानी को भी होता है।

अनुकम्पा का स्वरूप

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिद मणो।
पडिवज्जदि तं किवयातस्सेसा होदि अणुकंपा ॥३०४॥

अर्थ—तृषातुर, क्षुधातुर, अथवा दुःखी को देखकर जो जीव मन में दुःख पाता हुआ। उसके प्रति करुणा से वर्तता है, उसका यह भाव अनुकम्पा है।

टीका—किसी तृषादि दुःख से पीड़ित प्राणी को देखकर करुणा के कारण उसका प्रतिकार करने की इच्छा से चित्त में आकुलता होना वह अज्ञानी की अनुकम्पा है। ज्ञानी की अनुकम्पा तो निचली भूमिका में विहरते हुए (स्वयं निचले गुणस्थान में वर्तता हो तब) जन्मार्णव में निमग्न जगत् के अवलोकन से मन में किंचित खेद होना वह है।

चित्त प्रसन्नता का नाश

कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज।
जीवस्स कुणादि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा वेंति ॥३०५॥

अर्थ—जब क्रोध, मान, माया, लोभ चित्त का आश्रय पाकर जीव को क्षोभ करते हैं तब उसे ज्ञानी कलुषता कहते हैं।

टीका—यह चित्त की कलुषता के स्वरूप का कथन है।

क्रोध, मान, माया और लोभ से के उदय चित्त का क्षोभ होना सो कलुषता हैं, नहीं के मन्द भाव से चित्त की प्रसन्नता सो अकलुषता है। वह अकलुषता कदाचित कषाय का विशिष्ट क्षयोपशम होने पर अज्ञानी को होती है। कषाय के उदय का

अनुसरण करने वाली परिणति में से उपयोग को असमग्र रूप से विमुख किया हो तब मध्यम भूमिकाओं में कदाचित् ज्ञानी को भी होती है।

भावार्थ—लोकोपकारी भावना चित्त प्रसन्नता है। इस भावना में लोभ कषाय की मन्दता होती है।

शुभोपयोग का स्वरूप।

जो जाणदि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणागारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥३०६॥

अर्थ—जो जिनेन्द्र को जानता है, सिद्धों तथा अनगारों की श्रद्धा करता है, और जीवों के प्रति अनुकम्पा युक्त है, उसके वह शुभोपयोग है।

शुभोपयोग का स्वरूप

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसुरत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥३०७॥

अर्थ—देव, गुरु, यति की पूजा में, तथा दान में, एवं सुशीलों में और उपवास आदिक् में लीन आत्मा शुभोपयोगात्मक है।

टीका—जब यह आत्मा दुःख के साधनभूत द्वेष रूप तथा इन्द्रिय विषय की अनुराग रूप अशुभोपयोग भूमिका को उलंघन करके देव, गुरु, यति की पूजा, दान शील उपवासादिक के प्रति स्वरूप धर्मानुराग को अङ्गीकार करता है तब वह इन्द्रिय सुख की साधनभूत शुभोपयोग भूमिका में आरूढ कहलाता है।

पाप तत्व

चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु।
परपरितापवादो पावस्स य आसवं कुणदि ॥३०८॥

अर्थ—बहु प्रमाद वाली चर्या, कलुषता, विषयों के प्रति लोलुपता, परको परिताप करना, तथा पर के अपवाद बोलना वह पाप का आस्रव करता है।

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ॥३०९॥

अर्थ—चार संज्ञायें, तीन लेश्याए, इन्द्रिय वशता, आर्त रौद्र ध्यान, दुःप्रयुक्त ज्ञान, और मोह यह भाव पापास्रव है।

टीका—तीव्र मोह के विपाक से उत्पन्न होने वाली आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञाए, तीव्र कषाय के उदय से अनुरंजित योग प्रवृति रूप कृष्ण नील कापोत नाम की तीन लेश्याएँ राग द्वेष के उदय के प्रकर्ष के कारण वर्तता हुआ इन्द्रियाधीनपना, राग द्वेष के उद्रेक के कारण प्रिय के संयोग की, अप्रिय के वियोग की, वेदना से छुटकारे की तथा निदान की इच्छा रूप आर्तध्यान, कषाय द्वारा क्रूर ऐसे परिणाम के कारण होने वाला हिंसानन्द, असत्यानन्द, स्तेयानन्द एवं विषयसंरक्षणानन्द रूप रौद्रध्यान निष्प्रयोजन शुभ कर्म से अन्यत्र (अशुभ कार्य में) दुष्ट रूप से लगा हुआ ज्ञान और सामान्य रूप से दर्शन, चारित्र मोहनीय के उदय से उत्पन्न अविवेक रूप मोह यह भाव पापास्रव का विस्तार द्रव्यपापास्रव के विस्तार को प्रदान करने वाला है।

पापास्रव

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥३१०॥

अर्थ—जिसका उपयोग विषय कषाय में अवगाढ़ है, कुश्रुति कुविचार और कुसंगति में लगा हुआ है, उग्र है, तथा उन्मार्ग में लगा हुआ है उसका वह अशुभोपयोग है।

असत्यादि पाप सत्यादि पुण्य है

एवमलिये अदत्ते अवंभचेरे परिग्गहे चेव ।
कीरई अरणज्झवसाणं जं तेण दु वज्झए पावं
तह वि य सच्चे बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु वज्झए पुण्णं ॥३११॥

अर्थ—इसी प्रकार असत्य में चोरी में, अब्रह्मचर्य में और परिग्रह में जो अध्यवसान किया जाता है उसे पाप का बन्ध होता है।

और उसी प्रकार सत्य में, अचौर्य में, ब्रह्मचर्य में और अपरिग्रह में जो अध्यवसान किया जाता है वह पुण्य भाव है उससे पुण्य का बन्ध होता है।

धर्मानुराग पुण्य बन्ध है

अरहंतसिद्धचेदियपवयणगणणाणभत्तिसंपण्णो ।
बंधदि पुण्णं वहुसो ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि ॥३१२॥

अर्थ—अरहंत, सिद्ध, चैत्य-प्रवचन, मुनिगण और ज्ञान के प्रति भक्ति सम्पन्न जीव वहुत पुण्य बाँधता है, परन्तु वास्तव में वह कर्मक्षय नहीं करता है।

टीका—यहाँ पूर्वोक्त शुद्धसंप्रयोग को कथंचित् (निश्चयनय की अपेक्षा) बन्धहेतुपना होने से मोक्ष मार्गपना निरस्त किया है।

अर्हंतादि के प्रति भक्ति सम्पन्न जीव कथंचित् शुद्ध संप्रयोग वाला होने पर भी राग लव जीवित होने से शुभोपयोगीपने को न छोड़ता हुआ, वहुत पुण्य बाँधता है, परन्तु वास्तव में सकल

कर्म का क्षय नहीं करता। इसलिये सर्वत्र राग की कणिका भी परिहरने योग्य है क्योंकि वह परसमयप्रवृत्ति का कारण है।

भावार्थ—अर्हंत, सिद्ध, प्रतिमा, जिनवाणी आदि की भक्ति राग बिना नहीं हो सकती, राग बन्ध का साधक है, परन्तु मोक्ष का साधक नहीं है इसलिये, मोक्षार्थी जीवों को भक्ति का राग भी शनैः शनैः छोड़ने योग्य है। राग करते करते मोक्ष हो जाय ऐसी मान्यता मिथ्यात्व भाव है। किन्तु राग मोक्ष मार्ग में बाधक ही है ऐसी मान्यता होते सन्ते राग छोड़े नहीं तो भी मोक्ष होवे नहीं, इसलिये भक्ति का राग भी छोड़ने योग्य है।

राग की कणिका मोक्ष मार्ग में बाधक है

जस्स हिदयेणुमेत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।
सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरो वि ॥३१३॥

अर्थ—जिस परद्रव्य के प्रति अणुमात्र भी रागहृदय में वर्तता है, वह भले सर्व आगम धर हो तथापि स्वीकीय समय को नहीं जानता।

टीका—यहाँ स्वसमय की उपलब्धि के अभाव का राग एक हेतु है ऐसा प्रकाशित किया है।

जिसके राग हेतु की कणिका भी हृदय में जीवित है वह भले ही समस्त सिद्धान्त सागर का पारंगत हो तथापि निरूपराग शुद्ध स्वरूप स्वसमय को वास्तव में नहीं चेतता। इसलिये "धुनकी से चिपकी हुई रुई" का न्याय लागू होने से जीव को स्व समय की प्रसिद्ध के हेतु अर्हंतादि विषयक भी राग रेणु क्रमशः दूर करने योग्य है।

भावार्थ—जिस जीव की ऐसी मान्यता है कि भक्ति का राग मोक्ष मार्ग में करने योग्य है इससे मेरा मोक्ष हो जावेगा, ऐसी

मान्यता वाला जीव भले ही सिद्धान्त का पारंगत हो तथापि आत्मा को पहचानता ही नहीं है, जिससे मिथ्यादृष्टि है। मिथ्या-दृष्टि की ऐसी मान्यता है, कि अर्हंत परमेष्टी की भक्ति कैसे छोड़ूं ? वह तो उपादेय है, ऐसी मान्यता के कारण वह खेद खिन्न है, जैसे धुनिया पिंजर के तार में चिपकी हुई रुई निकालने में भयभीत है कि पिंजर का तार टूट न जावे तैसे अज्ञानी जीव भी भक्ति का राग छोड़ने में भयभीत हैं। वीतराग बनने के लिये अर्हंत भक्ति का राग भी क्रमशः छोड़ने योग्य है। यह राग छोड़े बिना वीतराग बन नहीं सकता है।

भक्ति का राग परम्परा मोक्ष का कारण है

सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्ससुत्तरोइस्स ।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपओत्तस्स ॥३१४॥

अर्थ—संयम तप संयुक्त होने पर भी नव पदार्थों तथा तीर्थंकर के प्रति जिसकी बुद्धि का झुकाव वर्तता है और सूत्रों के प्रति जिसे रुचि वर्तती है उस जीव को निर्वाण दूरतर है।

टीका—जो जीव वास्तव में मोक्ष के हेतु से उद्यमी चितवाला वर्तता हुआ, अचिन्त्य संयम तप भार संप्राप्त किया होने पर भी परम वैराग्य भूमिका का आरोहण करने में समर्थ ऐसी प्रभुभक्ति उत्पन्न न की होने से, धुनकी को चिपकी हुई रुई के न्याय से नव पदार्थों तथा अर्हंतादि की रुचि रूप पर समय प्रवृति का परित्याग नहीं कर सकता वह जीव वास्तव में साक्षात मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता किन्तु देवलोकादि के क्लेश की प्राप्ति रूप परम्परा द्वारा उसे प्राप्त करता है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि आत्मा अर्हत भक्ति, नौ पदार्थों का चिन्तवन आदि करता है उस भाव से उनको पुण्य का बन्ध

है और पुण्य बन्ध के कारण देवलोक की सम्पदा को प्राप्त करता है, किन्तु भक्ति का राग साक्षात मोक्ष का कारण नहीं है। देव की पर्याय का त्याग कर मनुष्य पर्याय में जब आवेगा तब भक्ति का राग छोड़ स्वरूप में लीन हो जावे तो वह पुण्य भाव परम्परा मोक्ष का कारण कहा जावे। पुण्य भाव का छोड़ना मोक्ष का कारण है किन्तु पुण्यभाव करना मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु बन्ध का ही कारण है, निवृति मार्ग मोक्ष का कारण है प्रवृति मार्ग बन्ध का साधक है।

अरहंतसिद्धचेदियपवयवभत्तो परेण णियमेण ।
जो कुणदि तवो कम्मं सो सुरलोगं समादियदि ॥३१५॥

अर्थ—जो (जीव) अर्हंत, सिद्ध. चैत्य और प्रवचन (शास्त्र) के प्रति भक्ति युक्त वर्तता हुआ, परम संयम सहित तपकर्म करता है वह देवलोक को सम्प्राप्त करता है।

टीका—यह मात्र अर्हंतादि की भक्ति जितने राग से उत्पन्न होने वाला जो साक्षात मोक्ष का अंतराय उसका प्रकाशन है।

जो (जीव वास्तव में अर्हंतादिकी भक्ति के आधीन बुद्धि-वाला वर्तता हुआ परम संयम प्रधान अतितीव्र तप करता है, वह जीव मात्र उतने राग रूप क्लेश से जिसका निज अन्तःकरण कलङ्कित (मलीन) है ऐसा वर्तता हुआ विषय विष वृक्ष के आमोद से जहाँ अंतरंग (अंतःकरण) मोहित होता है ऐसे स्वर्ग लोक को--जो कि साक्षात् मोक्ष को अन्तराय भूत है उसे संप्राप्त करके सुच्चिरकाल पर्यंत राग रूपी अंगारों से दह्यमान हुआ अंतर में संतप्त (दुःखी) होता है।

पुण्य पाप भाव छोड़ने से ही आत्म शान्ति

चत्ता पावारम्भं समुट्ठिदो वासुहम्मि चरियम्हि ।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥३१६॥

अर्थ—पापारंभ को छोड़कर शुभ चारित्र में उद्यत होने पर भी यदि जीव मोहादि को नहीं छोड़ता तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं होता।

टीका—जो समस्त सावद्य योग के प्रत्याख्यान स्वरूप परम सामायिक नाम की चारित्र की प्रतिज्ञा करके भी धूर्त अभिसारिका (नायिका) की भाँति शुभोपयोग परिणति से अभिसार (मिलन) को प्राप्त होता हुआ (शुभोपयोग परिणति के प्रेम में फंसता हुआ) मोह की सेना की वश वर्तिता को दूर नहीं कर डालता-जिसके महा दुःख संकट निकट है—वह शुद्ध आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकता है? इसलिये मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने को कमर कसी है।

भावार्थ—दुश्मन का दुनिया में कोई विश्वास नहीं करता उससे सावधान ही रहता है, किन्तु मित्र का विश्वास करता है। विश्वासघात मित्र ही करता है उसी प्रकार पाप से संसारी जीव सावधान है किन्तु पुण्य में प्रीति करता है, परन्तु पुण्य ऐसा ठग है कि जहाँ मोक्ष मार्ग नहीं है, वहाँ मोक्ष मार्ग मना देता है इसलिये मोक्षार्थी, पुरुष को पुण्य भाव से ही सावधान रहना चाहिये कि वह आपको ठग न सके।

पुण्य भाव में जो रत है वह कर्म क्षय नही कर सक्ता

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि च तहपुणो वि फासेदि।
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥३१७॥

अर्थ—जौ पुरुष पुण्य को धर्म मानकर श्रद्धान करते हैं, प्रतीति करते हैं रुचि रखते है स्पर्शे है, किन्तु पुण्य भोग का निमित्त है, स्वर्गादिक भोग पाते है सो पुण्य कर्म क्षय का कारण निमित्त) नहीं होता, सो प्रकट रूप से जानो।

ज्ञानी पुण्य की चाह नहीं करता है

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं ।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥३१६॥

अर्थ—अन इच्छक को अपरिग्रही कहा है, और ज्ञानी धर्म (पुण्य भाव) को नहीं चाहता इसलिये वह धर्म का परिग्रह नहीं है धर्म का ज्ञायक ही है।

पुण्य संसार का कारण

धरिंदु जस्स ण सक्कं चित्तुब्भामं विणा दु अप्पाणं ।
रोधो तस्स ण विज्जदि सुहासुहकदस्स कम्मस्स ॥३१७॥

अर्थ—जो (राग के सद्भाव के कारण) चित् के भ्रमण रहिततया अपने को नहीं रख सकता है उसे शुभाशुभ कर्म का निरोध नहीं है।

टीका—यह रागलवमूलक दोष परंपरा का निरूपण है।

यहाँ (इस लोक में) वास्तव में अर्हंतादि के और की शक्ति भी रागपरिणति के बिना नहीं होती। रागादि परिणति होने से आत्मा बुद्धिप्रसार रहित (चित् के भ्रमण से रहित) अपने को किसी प्रकार नहीं रख सकता और बुद्धि प्रसार होने से शुभ तथा अशुभ कर्म का निरोध नहीं होता। इसलिये यह अनर्थ संतति का मूल राग रूप क्लेश को विलास ही है।

आत्मज्ञान विना केवल पुण्य संसार का ही कारण हैं

अह पुणु अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं ।
तह वि ण पावदि सिद्धि संसारत्थो पुणो भणिदो ॥३१८॥

अर्थ—जो पुरुष आत्मा को नहीं जानते हैं, तथा उसका स्वरूप नहीं जानते हैं, एवं अङ्गीकार नहीं करते हैं, और सर्व प्रकार

समस्त पुण्य को करते हैं वे सिद्धि एवं मोक्ष को नहीं पाते हैं। वे पुरुष संसार ही में रहते हैं।

पुण्य के उदय से बाह्य सामग्री मिलती है

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं ।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥३१९॥

अर्थ—वज्रधर और चक्रधर (इन्द्र और चक्रवर्त्ती) शुभोपयोग मूलक (पुण्य के फल रूप) भोगों के द्वारा देहादि की पुष्टि करते हैं और इस प्रकार भोगों में रत वर्तते हुए सुखी जैसे भासित होते हैं। (इसलिये पुण्य विद्यमान अवश्य है)।

टीका—शक्रेन्द्र और चक्रवर्ती अपनी इच्छानुसार प्राप्त भोगों के द्वारा शरीरादि को पुष्ट करते हुए जैसे गोंच (जोंक) दूषित रक्त में अत्यन्त आसक्त वर्तती हुई सुखी जैसी भासित होती है उसी प्रकार उन भोगों में अत्यन्त आशक्त हुए सुखी जैसे भासित होते हैं इसलिये शुभोपयोग जन्य फल वाले पुण्य दिखाई देते हैं।

भावार्थ—पुण्य से ही इष्ट सामग्री मिलती है जीवों की ऐसी धारणा है कि इष्ट सामग्री अपने वर्तमान पुरुषार्थ से ही मिलती है पुण्य के उदय से नहीं। इसको यहाँ निषेध किया है। बुद्धि से विचारिये अलग अलग स्थान में दो बालक एक ही समय में जन्म लेते हैं। एक को इष्ट सामग्री तुरन्त ही मिलती है दूसरे के पीने के लिये दूध भी नहीं मिलता, उसका क्या कारण है ? तव कहना होगा कि पुण्य पाप कर्म का उदय ही कारण है। दुकान में बढ़िया स्टोक है छः बजे दुकान खोल कर बैठ जावे, इतना तो आप का पुरुषार्थ है अब कहो ग्राहक कब आवेगा ? क्या आपके आधीन है ? नहीं पुण्य के उदय के ही आधीन है।

इष्टा निष्ट सामग्री सुख दुःख का कारण नहीं है

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि वि विहाणी ।
जणयंति विसय तण्हं जीवाणं देव दंताणं ॥३२०॥

अर्थ—(पूर्वोक्त प्रकार से) यदि (शुभोपयोग रूप) परिणाम से उत्पन्न होने वाले विविध पुण्य विद्यमान है तो वे देवों तक के जीवों को विषय तृष्णा उत्पन्न करती हैं ।

भावार्थ—पुण्य के उदय में विविध इष्ट सामग्री मिलती है। वह इष्ट सामग्री सुख दुःख का कारण नहीं है किन्तु वह सामग्री भोगने के भाव से जीव दुःखी है और पाप का उदय वाले जीव को संतोष है तो सुखी है तब पुण्य अच्छा है और पाप खराब हैं यह बात नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि पुण्य पाप के फल में सुख-दुःख नहीं है।

इन्द्रियाँ सुख दुःख ही है

मणुआसुरामरिंदा अहिद्दुदा इन्दियेहिं सहजेहिं ।
असहंता तं दुक्ख रमंति विसएसु रम्मेसु ॥३२१॥

अर्थ—मनुष्येन्द्र (चक्रवर्ती) असुरेन्द्र और सुरेन्द्र स्वभाविक इन्द्रियों से पीड़ित वर्तते हुए उस दुःख को सहन न कर सकने से रम्य विषयों में रमण करते हैं।

भावार्थ—इच्छा ही दुख की जननी है। विषय से विषयों में जाना ही दुःख है। एक विषय में यदि सुख मिलता तो दूसरा विषय भोग ने की इच्छा ही क्यों उठती ? इच्छा उठती है वह दुःख की निशानी है। इच्छा नहीं है वही सुखी है। इन्द्रियों को दुःख का कारण कहना उपचार मात्र है।

शरीर भी सुख दुःख कारण नहीं है

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणादि सग्गे वा ।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥३२२॥

अर्थ—एकान्त से अर्थात् नियम से स्वर्ग में भी शरीर शरीरी (आत्मा को) सुख नहीं देता परन्तु विषयों वश से सुख अथवा दुःख रूप स्वयं ही होता है।

टीका—यह सिद्धान्त है कि भले ही दिव्य वैक्रियिकता प्राप्त हो तथापि "शरीर सुख नहीं दे सकता" इसलिये आत्मा ही इष्ट अथवा अनिष्ट विषयों के वस से सुख अथवा दुःख रूप स्वयं ही होता है।

पुण्य भाव इन्द्रिय सुख का साधन है

जुत्तो सुहेण आदा तिरियो वा माणुसो व देवो वा ।
भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इन्दियं विविहं ॥३२३॥

अर्थ—शुभापयोग युक्त आत्मा तिर्यंच मनुष्य अथवा देव होकर उतने समय तक विविध इन्द्रिय सुख प्राप्त करता है।

टीका—यह आत्मा इन्द्रिय सुख के साधन भूत शुभोपयोग की सामर्थ्य से उसके अधिष्ठान भूत तिर्यंच मनुष्य और देवत्व की भूमिकाओं में से किसी एक भूमिका को प्राप्त करके जितने समय तक उसमें रहता है उतने समय तक अनेक प्रकार का इन्द्रिय सुख प्राप्त करता है।

इन्द्रियों के विषय भी सुख देता नहीं है

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे ।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु ॥३२४॥

अर्थ—(जिनेन्द्र देव के) उपदेश से सिद्ध है कि देवों के भी स्वभाव सिद्ध सुख नहीं है, वे (पंचेन्द्रियमय) देह की वेदना से पीड़ित होने से रम्य विषयों में रमते हैं।

टीका—इन्द्रिय सुख के भाजनों में देव है, उनके भी वास्तव में स्वाभाविक सुख नहीं है प्रत्युत उनके स्वाभाविक दुःख ही देखा जाता है, क्योंकि वे पंचेन्द्रियात्मक शरीर रूपी पिशाच की पीड़ा से पर वश होने से भृगुप्रपात के समान मनोज्ञ विषयों की और दौड़ते हैं।

भावार्थ—जीव ने अपनी कल्पना से ही इन्द्रिय जन्य विषयों में सुखमान रखा है परमार्थ से विषयों में सुख होता तो एक विषय को छोड़ दूसरे विषय भोगने की भावना नहीं होनी चाहिये, किन्तु इच्छाएँ उठती हैं जिससे मालूम होता है कि इन्द्रिय विषयों में सुख नहीं है।

पुण्य और पाप में निशेषता नहीं है

णरणारयतिरियसुरा भजन्ति जदि देहसंभवंदुक्खं।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ॥३२५॥

अर्थ—मनुष्य नारकी तिर्यंच और देव (सभी) यदि देह से उत्पन्न दुःख को अनुभव करते हैं तो जीवों को वह (अशुद्ध) उपयोग शुभ और अशुभ यह दो प्रकार का कैसे है? (अर्थात् नहीं है)।

टीका—यदि शुभोपयोग जन्य उदयगत पुण्य की सम्पति वाले देवादिक और अशुभोपयोग जन्य उदयगत पाप की आपदा वाले नारकादि दोनों स्वभाविक सुख के अभाव के कारण अविशेष रूप से पंचेन्द्रियात्मक शरीर सम्बन्धी दुःख का ही अनुभव करते है तब फिर परमार्थ से शुभ और अशुभ उपयोग की पृथक्त्व व्यवस्था नहीं रहती है।

भावार्थ—पुण्य का उदय वाले जीव दुःखी है और पाप का उदय वाले भी दुःखी हैं तो हे भाई ? पुण्य और पाप में अन्तर कहाँ रहा ? पुण्य अच्छा है और पाप खराब है वह तेरी मान्यता गलत है या नहीं शान्ति से विचार करो ।

पुण्य और पाप दोनों कुशील हैं

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥३२८॥
सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जए पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवे सुहम सुहं वा कदं कम्मं ॥३२७॥

अर्थ—अशुभ कर्म कुशील है और शुभ कर्म सुशील है ऐसा तुम जानते हो ? किन्तु वह सुशील कैसे हो सकता है जो जीव को संसार में प्रवेश कराता है ?

जैसे सोने की बेड़ी भी पुरुष को बाँधती है और लोहे की भी बाँधती है इसी प्रकार शुभ तथा अशुभ किया हुआ कर्म जीव को बांधता है ।

भावार्थ—पुण्य भाव और पाप भाव दोनों जीव को जन्म मरण कराता है ऐसा जिसका स्वभाव है तब पुण्य अच्छा और पाप बुरा है यह कल्पना मिथ्यात्व की है ।

पुण्य पाप भावों में अच्छे बुरे की कल्पना नहीं करना चाहिये

तह्मा दु कुसीलेहि य रायं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ॥३२९॥

अर्थ—इसलिये इन दोनों (पुण्य पाप भाव) कुशीलो के साथ राग मत करो अथवा संसर्ग भी मत करो, क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से स्वाधीनता का नाश होता है अर्थात अपने द्वारा ही अपना घात होता है ।

समस्त कर्म छोड़ने योग्य है

कर्म सर्वमपि सर्वविदोयद् बंधसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥३२९॥

अर्थ—क्योंकि सर्वज्ञ देव समस्त कर्मों को अविशेष तया बंध का साधन (कारण) कहते हैं इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि उन्होंने) समस्त कर्म का निषेध किया है, और ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है।

भावार्थ—जिस भाव से तीर्थंकर कर्म की प्रकृति बंधती है वह भाव भी मोक्षार्थि जीवों को छोड़ने योग्य है क्योंकि वह भी एक जन्म विशेष कराती है।

पुण्य और पाप में जो अन्तर मानते है वह अनंत संसारी है

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं ।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥३३०॥

अर्थ – इस प्रकार पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है इस प्रकार जो नहीं मानता वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है।

भावार्थ – मन्द कषाय पुण्य है तीव्र कषाय पाप है। दोनों भाव कषाय में गर्भित हैं। कषाय कोई अच्छी नहीं है ऐसा न मानकर जो जीव पुण्य भाव को अच्छा मानता है और पाप भाव को बुरा मानता है उस जीव ने कषाय में सुख माना है, यह मान्यता अज्ञान की है। दोनों भाव जन्म मरण का ही कारण है जिससे ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिये कि केवल वीतराग भाव ही सुख का कारण है और पुण्य पाप भाव छोड़ने योग्य है, ऐसी जिस जीव की मान्यता नहीं है वही जीव अनन्त संसारी है।

पुण्य पाप दोनों त्यागने योग्य हैं

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै—
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखलोऽप्यन्याश्रयत्याजितः ।
सम्यङ् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं—
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नंति संतो धृतिम् ॥३३१॥

अर्थ—आचार्य देव कहते हैं कि सर्व वस्तुओं में जो अध्यवसान होते हैं वे सब अध्यवसान जिनेन्द्र भगवान ने पूर्वोक्त रीति से त्यागने योग्य कहे हैं, इसलिये यह हम मानते हैं कि पर जिसका आश्रय है ऐसा व्यवहार (धर्म) ही सम्पूर्ण छुड़ाया है' तब फिर यह सत्पुरुष एक सम्यक् निश्चय को ही निश्चलतया अंगीकार करके शुद्ध ज्ञानघन स्वरूप निज महिमा में (आत्म स्वरूप में) स्थिरता क्यों धारण नहीं करते ।

भावार्थ—यह सब भाव आत्मा बुद्धि पूर्वक करता है ये भाव करना या नहीं करना यह आत्मा के आधीन है यही आत्मा का पुरुषार्थ है । यह भाव आत्मा स्वयं करे तो ही हो न करे तो न होवे यह निश्चित है ।

व्यवहार धर्म का निषेध

मोत्तुण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥३३२॥

अर्थ—निश्चयनय के विषय को छोड़कर विद्वान व्यवहार के द्वारा प्रवर्तते हैं, परन्तु परमार्थ के (आत्म स्वरूप के) आश्रित यतिस्वरों के ही कर्मों का नाश (आगम में) कहा गया है (केवल व्यवहार में प्रवर्तन करने वाले पण्डितों के कर्म क्षय नहीं होता) ।

पुण्य पाप में सोवे स्वरूप में जागे

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥३३३॥

अर्थ—जो ध्यानि मुनि, व्यवहार में (पुण्य पाप में) सोता है वह अपने स्वरूप में जागता है, और जो व्यवहार (पुण्य पाप) में जागते है वह अपना आत्म कार्य में सोते हैं।

भावार्थ—पुण्य पाप भाव का त्याग कर स्वरूप में स्थिर होना वही मोक्ष मार्ग हैं।

पुण्य भाव का पालन तो अभव्य भी करते है

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं ।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥३३४॥

अर्थ—जिनेन्द्र देव के द्वारा कथित, व्रत समिति, गुप्ति, शील और तप करता हुआ भो अभव्य जीव अज्ञानी और मिथ्या-दृष्टि है।

टीका—शील और तप से परिपूर्ण, तीन गुप्ति और पाँच समितियों के प्रति सावधानो से युक्त. अहिंसादि पाँच महाव्रत रूप व्यवहार चारित्र (का पालन) अभव्य भी करता है, तथापि अभव्य निश्चारित्र (चारित्र रहित) अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है क्योंकि वह निश्चय चारित्र के कारण रूप ज्ञान श्रद्धान से शून्य है।

सर्व व्यवहार धर्म छोड़ने योग्य हैं

इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं ।
झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिं देहिं ॥३३५॥

अर्थ—ऐसे पूर्वोक्त कथन को जानकर योगी ध्यानी मुनि (धर्म) सर्व प्रकार छोड़ते हैं और परम आत्मा को ध्यावते हैं ऐसा जिनेन्द्र वीतराग सर्वज्ञ देव ने कहा है।

पुण्य पाप में कथंचित् भेद भी है

वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होऊ णिरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥३३६॥

अर्थ—व्रत और तप में स्वर्ग होता है सो श्रेष्ठ है, जो इतर अव्रत और अतप से प्राणी को नरक गति में दुःख होता है ऐसी बुद्धि श्रेष्ठ नहीं है। छाया और आताप में तिष्ठ ने वाले के जो प्रति पालक कारण है उनमें बड़ा भेद है।

भावार्थ—पुण्य भाव और पाप भाव दोनों बंधन होते हुए भी उनमें अन्तर है। पुण्य में मन्द कषाय है पाप में तीव्र कषाय है। पुण्य स्वर्ग का कारण है, पाप नरक का कारण है। पुण्य के उदय से सत् समागम मिलता है पाप के उदय से सत् समागम नहीं मिलता है। जिससे निश्चयाभासी नहीं बनना, यही आचार्य का अभिप्राय है। पाप छोड़ने का पुरुषार्थ जरूर करना तो भी श्रद्धा तो ऐसी रखना चाहिए, यह पुण्य और पाप-भाव बंध का ही साधक है मोक्ष में बाधक ही हैं।

पुण्य भाव साधक भी है और बाधक भी है

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमें ट्ठिदा भावे ॥३३७॥

अर्थ—जो शुद्धनय तक पहुँच कर श्रद्धावान हुए तथा पूर्णज्ञान चारित्रवान हो गये उन्हें तो शुद्ध आत्मा का उपदेश करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो जीव अपर भाव अर्थात श्रद्धा

चारित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुँच सके हैं साधक अवस्था में ही स्थित है वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य है।

भावार्थ—जब तक वीतराग भाव की संपूर्ण प्राप्ति न हो तब तक अपने अपने पदों के अनुसार पुण्य भावरूप व्यवहार मोक्ष मार्ग का अवलम्बन जरूर लेना चाहिये। यदि पुण्य भाव का अवलम्बन न लेवे तो नियम से अपने पद से गिर जावेगा इतना ही नहीं परन्तु पाप में ही पड़ा रहेगा, किन्तु पुण्य भाव में अटक जावे तो अपने पद से आगे के पद में अर्थात् आगे के गुण स्थान में नहीं जा सकता है इसलिये वही पुण्य भाव आगे के गुण स्थान में जाने के लिये वाधक ही है छोड़ने योग्य है। यदि पद के अनुसार पुण्य भाव करने से रखने से अपने गुण स्थान से गिरने नहीं देता इस अपेक्षा से उसको अवलम्बन रूप कहा है। अर्थात् अहेय है। पुण्य भाव करने का निवेध नहीं है। किंतु पुण्य भाव को मोक्ष मार्ग मानने का निषेध है। यदि पुण्य भाव को मोक्ष मार्ग माने तो मिथ्यादृष्टि है।

पुण्य भाव हस्तावलम्बन रूप कहा है उसका खेद

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हंत हस्तावलंबः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित् ॥२३८॥

अर्थ—जो व्यवहारनय (व्यवहार धर्म) है वह यद्यपि इस पहली पदवी में (जब तक शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक) जिन्होंने अपना पैर रखा है ऐसे पुरुषों को अरे रे ! हस्तावलंवन तुल्य कहा है, तथापि जो पुरुष चैतन्य चमत्कार मात्र पर द्रव्य भावों से रहित (शुद्धनय के विषय भूत) परम अर्थ को

अन्तरङ्ग में अवलोकन करते हैं तथा उस रूप लीन होकर चारित्र भाव को प्राप्त होते हैं, उन्हें यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है।

भावार्थ—ज्ञानी जीव भक्ति-मार्ग में खड़े रहने पर भी वह भक्ति-मार्ग को मोक्ष का कारण नहीं मानते हैं। भक्ति-मार्ग में खड़े रहने का भी उसको दुःख है कि यह भक्ति का भाव छोड़कर स्वरूप गुप्त कब हो जाये ऐसी भावना निरंतर ज्ञानी जीवों में रहती है। ज्ञानी जीव पाप से बचने के लिये अर्हंत भक्ति गुरु उपासना, शास्त्र स्वाध्याय, तप शील, समय के भाव जरूर करे तो भी उसको मोक्ष मार्ग मानते नहीं हैं। क्योंकि यह सब राग की ही पर्याय हैं।

पुण्य भाव से पाप का सवर

इदिंयकषायसण्णा णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठु मग्गम्मि।
जावत्तावत्तहिं पिहियं णावासवच्छिदं ॥२३९॥

अर्थ—जो भली भाँति मार्ग में रहकर इन्द्रियाँ कषाय और संज्ञाओं को जितना निग्रह करते हैं उतना पापास्रव का छिद्र उनको बन्द होता है।

टीका—पाप के अनन्तर होने से पाप के ही संवर का यह कथन है:—

मार्ग वास्तव में संवर है, उसके निमित्त से इन्द्रियों, कषायों तथा संज्ञाओं का जितने अंश में अथवा जितने काल निग्रह किया जाता है, उसने अंश में अथवा उतने काल पापास्रव द्वार बन्द होता है।

संवर तत्त्व

मिथ्यात्व का संवर करने की रित

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो ।
कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥३४२॥
अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।
उवओगम्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥३४३॥
एयं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स ।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओग सुद्धप्पा ॥३४४॥

अर्थ — उपयोग-उपयोग में है, क्रोधादि में कोई भी उपयोग नहीं है, और क्रोध क्रोध में ही है, उपयोग में निश्चय से क्रोध नहीं है ।

आठ प्रकार के कर्मों में और नोकर्म में उपयोग नहीं है, और उपयोग में कर्म तथा नोकर्म नहीं हैं ।

ऐसा अविपरीत ज्ञान जब जीव के होता है जब वह उपयोग स्वरूप शुद्धात्मा उपयोग के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव को नहीं करता ।

कषाय का संवर

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुण्णपावजोएसु ।
दंसणणाणह्मि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि ॥३४५॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाण मप्पणो अप्पा ।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ॥३४६॥
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥६४७॥

अर्थ -आत्मा को आत्मा के द्वारा जो पुण्य-पाप रूपी शुभाशुभयोगों से रोककर दर्शन ज्ञान में स्थित होता हुआ और अन्य वस्तु की इच्छा से विरत होता हुआ, जो आत्मा सर्व संग से रहित होता हुआ अपने आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याता है और कर्म और नोकर्म को नहीं ध्याता एवं स्वयं चेतयिता (होने से) एकत्व को ही चिन्तवन करता है, अनुभव करता है, वह आत्मा को ध्याता हुआ दर्शन ज्ञानमय और अनन्यमय होता हुआ अल्प काल में ही कर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रथम अनन्तानुबंधी कषाय का संवर होता है, दूसरा अप्रत्याख्यान कषाय का संवर होता है तीसरा प्रत्याख्यान कषाय का संवर होता है, चौथा प्रमाद का संवर होता है और पाँचवां संज्वलन कषाय का संवर होने से आत्मा बारहवाँ गुण स्थान में पहुँच जाता है।

पुण्य पाप का संवर

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ।।३४८।।

अर्थ—जिसे सर्व द्रव्यों के प्रति राग द्वेष या मोह नहीं है उस समसुख दुःख भिक्षु को शुभ और अशुभ कर्मों का आस्रव नहीं होते।

टीका—यह सामान्य रूप से संवर के स्वरूप का कथन है। जिस समय पर द्रव्यों के प्रति राग रूप द्वेष रूप या मोह रूप भाव नहीं है उस भिक्षु को जो कि निर्विकार चैतन्यपने के कारण समसुख दुःख है, उसे शुभ अशुभ कर्मों का आस्रव नहीं होता परन्तु संवर ही होता है। इसलिये यहाँ (ऐसा समझना कि) मोह राग द्वेष परिणाम का निरोध सो भाव संवर है और

वह (मोह राग द्वेष परिणाम का निरोध) जिसका निमित्त है ऐसा जो योग द्वारा प्रविष्ट होने वाले पुद्गलों के शुभाशुभ कर्म परिणाम का निरोध द्रव्य संवर है।

भावर्थ—वंध का कारण मिथ्यात्व कषाय और लेश्या है। मिथ्यात्व का अभाव होने से सम्यग्दर्शन रूप संवर चौथे गुण स्थान में होते हैं साथ ही साथ अनन्तानु वंधी कषाय का भी संवर होता है। अप्रत्याख्यान कषाय का संवर होने से पाँचवा गुण स्थान होता हैं। प्रत्याख्यान कषाय का संवर होने से छठवाँ गुणस्थान होता है। प्रमाद का संवर होने से सातवाँ गुणस्थान होता है और अन्तमुहुंत में संज्वलन कषाय का संवर कर बारहवें गुणस्थान में जाते हैं वहाँ ज्ञानावरण कर्म दर्शनाबरण कर्म और अन्तराय कर्म का अभाव (नाश) होने से तेरहवाँ गुणस्थान में वीतराग सर्वज्ञ हो जाते है। वहाँ भी लेश्या से केवल साता वेदनीय कर्म का एक समय को वंध होता है। १४वाँ गुणस्थानक के प्रथम समय में लेश्या का संवर होते ही आश्रव रहित होता है और आश्रव का कारण जो शरीर वचन और मनकारण था उसका अत्यन्त अभाव हो जाता है अर्थात् आत्मा औदारिकादि शरीर रहित होते है तब चायक अनाहारक भाव होता है अर्थात् प्रदेशत्व गुण भी शुद्ध हो जाता है। वहाँ ७२ कर्म प्रकृतियों का नाश हो जाता है। और१४वा गुणस्थानक अन्त के समय में १३ कर्म प्रकृतियों का नाश होते ही मोक्ष तत्व की प्राप्ति होती है।

संवर का क्रम

तेसिं हेऊ भणिआ अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ।।३४९।।
हेउअभावेणियमा जायइ णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसवभावेण विणा जायइकम्मस्स वि णिरोहो ।।३५०।।

कम्मस्स अभावेण य णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो ।
णो कम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होइ ॥३५१॥

अर्थ—उनके (पूर्व कथित राग द्वेष मोह रूप आस्रवों के) हेतु सर्व दर्शियों ने मिथ्यात्व अज्ञान (कषाय) अविरत भाव तथा योग (लेश्या) यह चार अध्यवसान कहे हैं। ज्ञानियों के हेतुओं के अभाव में नियम से आस्रवों का निरोध होता है। आस्रव भाव के बिना कर्म का भी निरोध होता है और कर्म के अभाव से नोकर्म (शरीर) का भी निरोध होता है और नोकर्म का (शरीर) निरोध से संसार का निरोध होता है।

ज्ञानसे ही भेद ज्ञान की प्राप्ति होती है

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं बहू वि ण लहंते ।
तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥३५२॥

अर्थ—ज्ञान गुण से रहित वहुत से लोग (अनेक प्रकार के कर्म करते हुये) इस ज्ञान स्वरूप पद को प्राप्त नहीं करते इसलिये हे भव्य जीव ! यदि तु कर्मों से सर्वथा मुक्ति चाहता हो तो नियत इस ज्ञान को ग्रहण कर।

भेद विज्ञान से ही संवर की प्राप्ति

संपद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात ।
स भदेविज्ञानत एव तस्मात् तद् भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥

अर्थ—यह साक्षात् संवर वास्तव में शुद्ध आत्म तत्व की उपलब्धि से होता है और वह शुद्ध आत्म तत्व की उपलब्धि भेद विज्ञान से ही होती है। इसलिये वह भेद विज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है।

भेद विज्ञान से सिद्धि

भेद विज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥३५४॥

अर्थ—जो कोई सिद्ध हुए है, वह भेद विज्ञान से सिद्ध हुए है, और जो कोई बंधे है, वह उसी के (भेद विज्ञान के) ही अभाव से बंधे हैं ।

स्वरूप में लीन होना ही संवर है

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलंभः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥३५५॥

अर्थ जो भेद विज्ञान की शक्ति के द्वारा अपनी (स्वरूप की) महिमा में लीन रहते हैं उन्हें नियम से शुद्ध तत्व की उपलब्धि होती है, शुद्धतत्व की उपलब्धि होने पर अचलित रूप से समस्त अन्य द्रव्यों से दूर वर्तते हुवे ऐसे उनके अक्षय कर्म मोक्ष होता है ।

संवर ही ध्यान है

जो खविदमोहकलुसो विसयविरतो मणोणिरु मित्ता ।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥३५६॥

अर्थ—जो मोह मल्ल का क्षय करके विषय से विरक्त होकर मन का निरोध करके स्वभाव में समवस्थित है वह आत्मा ध्यान करने वाला है ।

टीका—जिसने मोहमल्ल का क्षय किया है ऐसे आत्मा के मोहमल्ल जिसका मूल है ऐसी परद्रव्य प्रवृति का अभाव होने से

विषय विरक्तता होती है उससे समुद्र के मध्यगत जहाज के पक्षी की भाँति अधिकरण भूत द्रव्यान्तरों का अभाव होने से जिसे अन्य कोई कारण नहीं रहा है ऐसे मन का निरोध होता है। और इसलिये मन जिसका मूल है ऐसी चंचलता का विलय होने के कारण अनन्त सहज चैतन्यात्मक स्वभाव में समवस्थान (दृढतया रहना) होता है। वह स्वभाव समवस्थान तो स्वरूप में प्रवर्तमान अनाकुल एकाग्र सचेतन होने से ध्यान कहा जाता है।

निर्जरातत्त्व

निर्जरा का स्वरूप

संवर-जोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहे हिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ॥२५७॥

अर्थ—संवर और योग से संयुक्त जो जीव बहुविधि तपो सहित वर्तता है वह नियम से अनेक कर्मों की निर्जरा करता है।

टीका—संवर अर्थात् शुभाशुभ परिणाम का निरोध, और योग अर्थात् शुद्धोपयोग, उनसे संवर और योग से) युक्त ऐसा जीव अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन, तथा काय केलशादि, भेदोंवाला बहिरंग तपों, सहित और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान ऐसे भेदों वाले अंतरंग तपों सहित, इस प्रकार बहुविध तपों सहित वर्तता है वह (पुरुष) वास्तव में अनेक कर्मों की निर्जरा करता है। इसलिय यहाँ (इस गाथा में ऐसा कहा है कि) कर्म के वीर्य का (कर्म की शक्ति) शातन करने में समर्थ ऐसा जो वहिरंग और अंतरंग तपों द्वारा वृद्धि का प्राप्त शुद्धोपयोग सो भाव निर्जरा है और उसके प्रभाव से (वद्धि को प्राप्त शुद्धोपयोग के

निमित्त से) नीरस हुए ऐसे उपार्जित कर्म पुद्गलों का एक देश संक्षय सो द्रव्य निर्जरा है।

भावार्थ—अनन्तानु बंधी कषाय का संवर होने के बाद-जिस जिस गुण स्थान में जो जो कषाथ का उदय है उस कषाय में से जितनी बुद्धि पूर्वक इच्छा का यम रूप त्याग वह यम त्याग भाव का नाम भाव निर्जरा है। अविपाक निर्जरा तो मन्द कषाय से होती है उनकी मोक्ष मार्ग में कीमत नहीं है।

जो संवरेण जुत्तो अप्पाट्ठपसाधगो हि अप्पाणं।
मुणिऊण झादि णियंद णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं ॥३५८॥

अर्थ—संवर से युक्त ऐसा जो जीव वास्तव में आत्मार्थ का प्रसाधक वर्तता हुआ आत्मा को जानकर ज्ञान की निश्चल रूप से ध्याता है, वह कर्मरज को खिरा देता है।

टीका—यहाँ निर्जरा के मुख्य कारण का कथन है।
संवर से अर्थात् शुभाशुभ परिणाम के परम निराध से युक्त ऐसा जो जीव वस्तु स्वरूप को बराबर जानता हुआ पर प्रयोजन से जिनकी बुद्धिव्यावृत्त हुई और मात्र स्वप्रयोजन साधन में जिसका सत उद्यत हुआ है, ऐसा वर्तता हुआ आत्मा को स्वोपलब्धि से उपलब्ध करके (अपना स्वानुभव द्वारा अनुभव करके) गुण गुणी का वस्तु रूप से अमेद होने के कारण वही ज्ञान को स्व को, स्वद्वारा अविचल परिणति वाला होकर संचेतता है वही जीव वास्तव में अत्यन्त निःस्नेह वर्तता हुआ जिसको स्नेह के लेप का संग प्रक्षीय हुआ है ऐसा शुद्ध स्फटिक के स्तम्भ की भांति पूर्वोपार्जित कर्म रज को खिरा देता है।

भावार्थ—तेरएवें गुण स्थान में अरहंत परमात्मा शुद्ध स्फटिक के स्थंभरूप हो गये हैं। और उस गुण स्थान का उत्कृष्ट

काल आठ वर्ष कम एक कोटि पूर्व का है तो भी अर्थात् कर्म रूपी रज को खिरा नहीं शकेत वह तो अपने क्रम पूर्वक सविपाक होकर खिर रहा है, आयु पूर्ण होते ही सब कर्म आप से आप खिर जाता है खिराना पड़ता नहीं है। उपचार को उपचार समझकर परमार्थ वस्तु स्वरूप को ज्ञान में ले लेना। केवली समुद्घात भी कर्म कराता है आत्मा करता नहीं है।

बंध तत्त्व

बंध पदार्थ

जं सुहम सुहसुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा।
सो तेण हवदि बद्धो पोग्गल कम्मेण विविहेण ॥३५९॥

अर्थ—यदि आत्मा रक्त (विकारी) वर्तता हुआ उदित शुभ या अशुभ भाव को करता है तो वह आत्मा उस भाव द्वारा (उस भाव के निमित्त से) विविध पुद्गल कर्मों से बद्ध होता है।

टीका - यह बंध के स्वरूप का कथन है।

यदि वास्तव में यह आत्मा अन्य के (पुद्गल कर्म के) आश्रय द्वारा अनादि काल से रक्त रहकर कर्मोदय के प्रभाव युक्त रूप वर्तन से उदित (प्रगट होने वाले) शुभ या अशुभ भाव को करता है तो वह आत्मा उस निमित्त भूत भाव द्वारा विविध पुद्गल कर्मों से बद्ध होता है। इसलिए यहाँ (ऐसा कहा है कि) मोह राग द्वेष द्वारा स्निग्ध ऐसे जो जीव के शुभ या अशुभ परिणाम वह भाव बन्ध है, और उनके (शुभाशुभ परिणामों के) निमित्त से शुभ अशुभ कर्म रूप परिणत पुद्गलों का जीव के साथ अन्योन्य अवगाहन वह द्रव्य बन्ध है।

जोग णिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो।
भाव णिमित्तो बंधो भावो रदि राग दोस मोह जुदो॥३०६॥

अर्थ—ग्रहण का (कर्म ग्रहण का) निमित्त योग है, योग मन वचन काय जनित (आत्मा प्रदेश परिस्पंद हैं)। बंध का निमित्त भाव है, भाव रति राग द्वेष मोह से युक्त (आत्म परिणाम) है।

टीका—यहाँ बंध के बहिरंग कारण और अंतरंग कारण का कथन है।

ग्रहण अर्थात् कर्म पुद्गलों का जीव प्रदेश वर्ती (जीव के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्र में स्थित) कर्म स्कन्धों में प्रवेश उसका निमित्त योग है। योग अर्थात् वचन वर्गणा, मनो वर्गणा और काय वर्गणा का जिसमें आलम्बन हो ऐसा आत्म प्रदेशों का परिस्पंद (अर्थात् जीव के प्रदेशों का कंपन)।

बंध अर्थात् कर्म पुद्गलों का विशिष्ट शक्ति रूप परिणाम सहित स्थित रहना (अर्थात् कर्म पुद्गलों का अमुक अनुभाग रूप शक्ति सहित अमुक काल तक ही रहना) उसका निमित्त जीव भाव है। जीव भाव रति राग द्वेष मोह युक्त (परिणाम) है अर्थात् मोहनीय के विपाक से उत्पन्न होने वाला विकार है। इसलिये यहाँ (बंध में) बहिरंग कारण (निमित्त) योग है, क्योंकि वह पुद्गलों के ग्रहण का हेतु है और अंतरंग कारण (निमित्त) जीव भाव ही है क्योंकि वह (कर्म पुद्गलों की) विशिष्ट शक्ति तथा स्थिति का हेतु है।

भावार्थ—कर्मास्त्रव का कारण आत्मा में योग नाम का गुण है उसकी कंपन रूप अवस्था है। और कर्म बन्ध का कारण आत्मा में श्रद्धा चारित्र और क्रिया गुण का विकारी परिणाम है। श्रद्धा गुण का विकारी परिणाम मिथ्यात्व है। चारित्र गुण का विकारी परिणाम आकुलता है और क्रिया गुण की विकारी पर्याय का नाम लेश्या अर्थात् गमन रूप अवस्था है। आश्रव तत्व में

बंध तत्व का अभाव है और बन्ध तत्व में आस्रव तत्व का अभाव है। लेश्या से प्रदेश बन्ध और प्रकृति बन्ध होता होता है और मिथ्यात्व राग द्वेष से स्थिति और अनुभाग बन्ध होता है। योग से कर्म का ग्रहण मात्र होता है।

भाव बन्ध

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि ।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं संवधो ॥३६१॥

अर्थ—जो उपयोगमय जीव विविध विषयों को प्राप्त करके मोह करता है राग करता है, अथवा द्वेष करता है, (वह जीव) उनके द्वारा (मोह राग द्वेष रूप भाव) बंध रूप है।

भाव बन्ध की युक्ति और द्रव्य बन्ध का स्वरूप

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये ।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो ॥३६२॥

अर्थ—जोव जिस भाव से विषयागत पदार्थ को देखता है और जानता है उसी से उपरक्त होता है और (उसी से) कर्म बंधता है ऐसा उपदेश है।

टीका—यह आत्मा साकार और निराकार प्रतिभास स्वरूप होने से प्रतिभास्य पदार्थ समूह को जिस मोह रूप, राग रूप और द्वेष रूप भाव से देखता है, और जानता है उसी से उपरक्त होता है। जो यह उपराग (विकार) है वह वास्तव में स्निग्ध, रूक्षत्व, स्थानीय भाव बंध है। और उसी से अवश्य पौद्गलिक कर्म बंधता है। इस प्रकार यह द्रव्य बंध का निमित्त भाव बन्ध है।

पुद्गल बन्ध भाव बन्ध उभय बन्ध

फासेहिं पुग्गलाणं वंधो जीवस्स राग मादीहिं ।
अण्णोण्णामवगाहो पुग्गल जीवप्पगो भणिदो ॥३६३॥

अर्थ—स्पर्श के साथ पुद्गलों का बन्ध, रागादिक के साथ जीव का बन्ध और अन्योन्य अवगाह पुद्गल जीवात्मक बन्ध कहा गया है ।

टीका--प्रथम तो यहाँ कर्मों का जो स्निग्धता रूक्षता रूप स्पर्श विशेषों के साथ एकत्व परिणाम है सो केवल पुद्गल बन्ध है, और जीव का औपाधिक मोह, राग द्वेष रूप पर्यायों के साथ जो एकत्व परिणाम है सो केवल जीव बन्ध है, और जीव तथा कर्म पुद्गल के एक दूसरे के परिणाम के निमित्त मात्र से जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह है. सो उभय बन्ध है ।

कर्म बन्ध का कारण

भावोरागादि जुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो ।
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि ॥३६४॥

अर्थ—जीवकृत रागादि युक्त भाव बंधक (नवीन कर्मों का बन्ध करने वाला) कहा गया है । रागादिक से रहित भाव बंधक नहीं है वह मात्र ज्ञायक ही है ।

ज्ञान का हीन परिणमन बंध का कारण है

जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥३६५॥

अर्थ—क्योंकि ज्ञान गुण जघन्य ज्ञान गुण के कारण फिर से भी अन्य रूप से परिणमन करता है इसलिये वह (ज्ञानगुण) कर्मों का बंधक कहा गया है ।

टीका—जब तक ज्ञान गुण का जघन्य भाव है तब तक वह (ज्ञानगुण) अन्तमुहूर्त में विपरिणाम को प्राप्त होता है इसलिये पुनः पुन. उसका अन्य रूप परिणमन होता है (वह ज्ञान गुण का जघन्य भाव से परिणमन) यथाख्यात चारित्र अवस्था के नीचे अवश्यम्भावी राग का सद्भाव होने से बन्धा का कारण ही है।

भावार्थ—ज्ञान गुण का हीन परिणमन को बन्ध का कारण कहना उपचार कथन है। ज्ञान गुण के हीन परिणमन से बन्ध कभी भी नहीं होता है। बन्ध का कारण मिथ्यात्व अविरत कषाय और लेश्या (योग) है।

चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से नियम से बन्ध होगा

यावत्पाकमुपैतिं कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय त
न्मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥२६६॥

अर्थ—जब तक ज्ञान की कर्म विरति भली भाँति परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होती तब तक कर्म और ज्ञान का एकत्रितपना शास्त्र में कहा है, उनके एकत्रित होने में कोई भी क्षति या विरोध नहीं है किन्तु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि आत्मा में अवशपने जो कर्म प्रगट होता है, वह तो बंध का ही कारण हैं, और जो एक परम ज्ञान है वह एक मोक्ष का कारण है जो कि स्वतः विमुक्त है।

भावार्थ—चारित्र मोहनीय कर्म का उदय में आत्मा राग न करे यह मान्यता गलत है क्योंकि एक समय की पर्याय छद्मस्थ के ज्ञान गम्य ही नहीं है जो परिणाम ज्ञान गम्य नही है वह परिणाम में करूँ या न करूँ यह कहना कहाँ तक सत्य हैं वह

बिचार करना चाहिये। आत्मा की हीनता है तब ही कर्म उदय में आता है। दशमें गुण स्थान में सूक्ष्म लोभ का उदय है और उदय के अनुसार भाव भी होता है किन्तु वह सूक्ष्मभाव स्वजातीय अर्थात् मोहनीय कर्म का वन्ध नहीं करा सकती है जिससे आत्मा वहाँ बन्ध से छुट जाता है। नौवमां गुण स्थान तक एक भी ऐसा समय नहीं जाता है जिसमें मोहनीय कर्म का बन्ध न पड़ता हो। राग दो प्रकार का है। (१) बुद्धि पूर्वक (२) अबुद्धि पूर्वक—बुद्धि पूर्वक राग में आत्मा स्वाधीन है अर्थात् राग करना या नहीं करना यह आत्मा के ऊपर निर्भर है। अबुद्धि पूर्वक राग में आत्मा पराधीन है, वह अबुद्धिराग नैमित्तिक पर्याय है किन्तु बुद्धि पूर्वक राग नैमित्तिक पर्याय नहीं है, किन्तु वह बुद्धि पूर्वक राग से जो सत्ता में कर्म पड़ा है उसमें अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण और अविपाक निर्जरा करता है वही तो आत्मा का पुरुषार्थ है।

सम्यग्यदृष्टि को दो धारा चलती है (१) ज्ञान धारा (वीतराग धारा) (२) कर्म धारा अर्थात् रागधारा, रागधारा नैमित्तिक पर्याय है वह पर्याय प्रगट करने में आत्मापराधीन है।

बुद्धि पूर्वक राग अबुद्धि पूर्वक राग

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं राग समग्रं स्वयं
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्।
उच्छिंदन्परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णोभव—
न्नात्मानित्यनिरास्रवो भवंति हि ज्ञानीयदास्यात्तदा ॥३६७॥

अर्थ—आत्मा जब ज्ञानी होता है तब स्वयं अपने समस्त बुद्धि पूर्वक राग को निरंतर छोड़ता हुआ अर्थात् न करता हुआ और जो अबुद्धि पूर्वक राग है उसे भी जितने के लिये बारम्बार स्वशक्ति को स्पर्श करता हुआ और (इसी प्रकार) समस्त पर वृति

को पर परणति को उखाड़ता हुआ ज्ञान के पूर्ण भाव रूप होता हुआ वास्तव में सदा निरास्रव है।

भावार्थ -जो रागादिक परिणाम मन के द्वारा वाह्य विषयों का आलम्बन लेकर प्रवर्तते हैं और जो प्रवर्तते हुए जीव को निज को ज्ञात होते हैं तथा दूसरे को भी अनुमान से ज्ञात होते है वे परिणाम बुद्धि पूर्वक है, और जो रागादिक परिणाम इन्द्रिय मन के व्यापार के अतिरिक्त मात्र मोहादेय के निमित्त से होते हैं तथा जीव को ज्ञात नहीं होते हैं वे अबुद्धि पूर्वक है। (यह पंडित राजमल जी का अभिप्राय है) बुद्धि तूर्वक राग से अविपाक निर्जरा होती है और बुद्धि पूर्वक राग का यमरूप त्याग सम्यक् प्रकार से करना वही भाव निर्जरा है। अबुद्धि पूर्वक राग से सविपाक निजरा होती है अबुद्धि पूर्वक राग की जाति के अभाव में भाव निर्जरा नहीं होतो परन्तु भाव संवर होता है।

रागादिक होने में जो परद्रव्य को ही निमित्त मानते
हैं वह अज्ञानी है।

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्य मेव कलयंति ये तु ते।
उत्तरंति न हि मोहवाहिनी शुद्धबोधविधुरांधबुद्धयः ।।३६८।।

अर्थ—जो राग की उत्पत्ति में परद्रव्य का ही निमित्त रूप (कारणत्व) मानते हैं (अपना चुछ भी कारणत्व नहीं मानते) वे जिनको वुद्धि शुद्ध ज्ञान से रहित अंध हैं वह मोह नदी को पार नहीं कर सकते।

भावार्थ- जो एकान्त से रागादिक में मोहनीय कर्म ही निमित्त मानते हैं और अपना अपराध मानते ही नहीं हैं वह जीव रागद्वेष से छुट भी नहीं सकता है। बुद्धि पूर्वक राग आत्मा स्वयं अपना ही अपराध से करता है वाह्य निमित्त राग कराता

नहीं है। बाह्य पदार्थ के आश्रित आत्मा स्वयं राग कर जाता है पदार्थ राग कराता नहीं है। परन्तु अबुद्धि पूर्वक राग चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से ही होता है उनका उदय न होवे और आत्मा राग कर जावे ऐसा वस्तु स्वभाव नहीं है।

राग में परद्रव्य ही निमित्त नहीं है

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां।
कर्तात्मैष कथंचिदित्यचलिता चैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेषामुद्धत मोह मुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये-
स्याद्वाद प्रतिबंधलब्ध विजया वस्तु स्थितिः स्तूयते ॥३६९॥

अर्थ—जो कोई आत्मा के घातक (सर्वथा एकान्त वादी) कर्म को ही राग का कर्त्ता विचार कर आत्मा के कर्तृव्य को उड़ाकर 'यह आत्मा कथंचित् कर्त्ता है" ऐसा कहने वाली अचलित श्रुति को कोपित करते हैं (निर्बाध जिन वाणी की विराधना करते हैं) जिनकी बुद्धि तीव्र मोह से मुद्रित हो गई है ऐसे उन आत्मघातकों के ज्ञान की संशुद्धि के लिये निम्नलिखित गाथाओं द्वारा) वस्तु स्थिति कही जाती है, जिस वस्तु स्थिति ने स्वादवाद के प्रतिबन्ध से विजय प्राप्त की है (अर्थात् जो वस्तु स्थिति स्याद्वाद रूप नियम से निर्बाधतया सिद्ध होती है।

भावार्थ—कथंचित् बुद्धि पूर्वक राग का आत्मा कर्त्ता है और अबुद्धि पूर्वक राग का मोहनीय कर्म कर्त्ता है अर्थात् बुद्धि पूर्वक राग आत्मा कर्म का निमित्त बिना स्वयं करता है और अबुद्धि पूर्वक राग कर्म के निमित्त से होता है ऐसा मानना स्याद्वाद है।

बाह्य पर पदार्थ बंध का कारण नहीं है

वत्थु पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होई जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥३७०॥

अर्थ—जीव के जो (बुद्धि पूर्णक) अध्यवसान होता है वह वस्तु को अवलम्बन कर होता है तथापि वस्तु से बन्ध नहीं होता अध्यवसान से ही बन्ध होता है।

भावार्थ—यहाँ पर निमित्त उपादान सम्बन्ध दिखाया है। आत्मा स्वयं पर पदार्थ के आश्रित राग कर जाता है, राग करना या नहीं करना आत्मा के आधीन है, पर पदार्थ राग करता नहीं है तो भी पर पदार्थ लोकमें न होवे और राग हो जावे ऐसा भी नहीं है। यह बुद्धि पूर्णक राग का कथन है जो आत्मा के आधीन है, पर पदार्थ के आश्रित राग हो जाता है इसलिये परपदार्थ का त्याग का उपदेश दिया जाता है। परमाथ से पर पदार्थ का त्याग नहीं कराना है किन्तु राग का ही त्याग कराना। जो आत्मा के आधीन है।

बुद्धि पूर्वक राग और राग का कारण का भी त्याग

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यंसमग्रंबलात् ।
तन्मूलां बहुभाव संततिमिमामुद्धर्तु कामः समम् ।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णै कसंविद्युत्तं—
येनोन्मूलितबंध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥३७१॥

अर्थ—इस प्रकार (पर द्रव्य और अपने भाव की निमित्त नैमितकता को) विचार करके परद्रव्य मूलक बहु भावों की संतति को एक सी साथ उखाड़ फेंकने का इच्छुक पुरुष उस समस्त परद्रव्य को बल पूर्वक (उद्यम पूर्णक-पराक्रम पूर्णक) भिन्न करके त्याग करके) अतिशयता से बहते हुए (धारावाही) पूर्ण एक संवेदन से युक्त अपने आत्मा को प्राप्त करता है, कि जिससे जिसने कर्म बन्धन को मूल से ही उखाड़ फेंका है ऐसा वह भगवान आत्मा अपने में ही (आत्मा में ही) स्फुरायमान होता है।

भावार्थ -- जिसको आत्म शान्ति लेनी है वह पुरुष पुरुषार्थ कर बुद्धि पूर्वक राग और राग का कारण परद्रव्य दोनों का त्याग कर स्वभाव में गुप्त अर्थात् अप्रमत्त गुण स्थान में पहुँचे। बाद में अन्त मुहूर्त में अबुद्धि पूर्वक राग को मारकर वीतराग बन जाता है। बुद्धि पूर्वक राग छोड़ने में टाइम लगता है अबुद्धि पूर्वक राग तो अन्त मुहूर्त में ही नाश को प्राप्त हो जाता है। यही आत्मा का पुरुषार्थ है इसी का नाम अक्रम पर्याय हैं।

परजीवों को मरना बंध का कारण नहीं है

अज्झवसिदेण बंधो सत्तो मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्चयणयस्स ॥२७२॥

अर्थ—जीव को मारो अथवा न मारो कर्म बन्ध अध्यवसाय से ही होता है। यह निश्चयनय से (परमार्थ से) जीवों के बंध का संक्षेप है।

टीका—पर जीवों को अपने कर्मोदय की विचित्रतावश प्राण का व्यप रोप (उच्छेद वियोग) कदाचित् हो कदाचित् न हो किन्तु "मैं मारता हूँ" ऐमा अहंकार से भरा हुआ हिंसा का अध्यवसाय ही निश्चय से उसके (हिंसा का भाव करने वाले जीव को) बंध का कारण है, क्योंकि निश्चय से पर का भाव जो प्राणों का व्यपरोप वह दूसरे से किया जाना अशक्य है।

भावार्थ—पर जीव का मरने से बंध होवे या न भी होवे अनेकान्त है। बन्ध का कारण अपना ही मारने का भाव है। पर जीवों का मरण उसके ही आयु कर्म के क्षय से ही होता है। पर जीवों का अकाल मरण होता ही नहीं है। इच्छा प्रवृत्ति मरण अर्थात् अपनी इच्छा से मरण करना वह हो अकाल मरण है और अनइच्छा प्रवृत्ति मरण अर्थात् मरने की इच्छा नहीं है और

मरण हो जावे वह कालमरण है। अपनी आयु कर्म के साथ में अपने ही भाव का सम्बन्ध है, पर, आत्मा भाव करे और पर का आयु कर्म नाश हो जावे ऐसा आयु कर्म के साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है।

जीव को बन्ध होने का कारण

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि ।
अण्णाणी ताव दु सो कोहाइसु वट्टदे जीवो ।।३७३।।
कोहाइसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदी ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ।।३७४।।

अर्थ—जीव जब तक आत्मा और आस्रव इन दोनों के अन्तर और भेद को नहीं जानता तब तक वह अज्ञानी रहता हुआ क्रोधादिक आस्रवों में प्रवर्तता है, क्रोधादि में प्रवर्तमान उसके कर्म का संचय होता है, वास्तव में इस प्रकार जीव के कर्मों का बंध सर्वज्ञ देवों ने कहा है।

बंध से छुटने का कारण

णादूण आसवाणं असुचित्तं च ववरीय भावं च ।
दुक्खस्स कारणं त्ति य तदो णियत्तिं कुण दि जीवो ।।३७५।।

अर्थ—आस्रवों की अशुचिता और विपरीतता तथा वे दुःख का कारण है ऐसा जानकर जीव उसे निवृत्ति करता है।

भावार्थ—कषाय की निवृत्ति ही शान्ति का कारण है कषाय में प्रवृत्ति बंध का ही कारण है। धर्मानुराग की प्रवृत्ति भी बन्ध ही कराती है।

मोक्षतत्त्व

मोक्ष पदार्थ

हेदुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो ।
आसव भावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो ।।३७६।।

कम्मस्स। भावेण य सव्वण्हू सव्व लोग दरिसी य ।
पावदि इंदिय रहिदं अव्वाबाहं सुहमणंतं ।।३७७।।

अर्थ—(मोह राग द्वेष रूप) हेतु का अभाव होने से ज्ञानी को नियम से आस्रव का निरोध होता है, और आस्रव भाव के अभाव में कर्म का निरोध होता है और कर्मों का अभाव होने से वह सर्वज्ञ और सर्व लोक दर्शी होता हुआ इन्द्रिय रहित अव्याबाध अनंत सुख को प्राप्त करता है ।

टीका—यह द्रव्य कर्म मोक्ष के हेतु भूत परम संवर रूप से भाव मोक्ष के स्वभाव का कथन है ।

यहाँ जो 'भाव' विवक्षित है वह कर्मावृत (कर्म से आवृत हुए) चैतन्य की क्रमानुसार प्रवर्तती ज्ञप्ति क्रिया रूप है । वह (क्रमानुसार प्रवर्तता ज्ञप्ति क्रिया रूप भाव) वास्तव में संसारी को अनादि काल से मोहनीय कर्म के उदय का अनुसरण करती हुई परिणति के कारण अशुद्ध है, द्रव्य कर्मास्रव का हेतु है । परन्तु वह (क्रमानुसार प्रवर्तती ज्ञप्ति क्रिया रूप भाव) ज्ञानी को मोह राग द्वेष वाली परिणति रूप से हानि को प्राप्त होता है, इसलिये उसे आस्रव भाव का निरोध होता है । इसलिये जिसे आस्रव भाव का निरोध हुआ है ऐसे उस ज्ञानी को मोह क्षय द्वारा अत्यंत निर्विकार पना होने से जिसे अनादि काल से अनंत चैतन्य और वीर्य मुंद गया है, ऐसा वह ज्ञानी (क्षीण मोह गुण स्थान में)

शुद्ध ज्ञप्ति क्रिया रूप से अंतर्मुहूर्त्त व्यतीत करके युगपद ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का क्षय होने से कथंचित् कूटस्थ ज्ञान को प्राप्त करता है और इस प्रकार उसे ज्ञप्ति क्रिया के रूप में क्रम प्रवृत्ति का अभाव होने से भाव कर्म का विनाश होता है। इसलिये कर्म का अभाव होने पर वह वास्तव में भगवान सर्वज्ञ सर्वदर्शी तथा इन्द्रिय व्यापारातीत अव्याबाध अनंत सुख वाला सदैव रहता है।

इस प्रकार यह (जो यहाँ कहा है) भाव कर्म मोक्ष का प्रकार तथा द्रव्य कर्म मोक्ष का हेतुभूत परम संवर का प्रकार है।

भावार्थ—वीतरागी पुरुषों का ज्ञान स्थिर हो जाता है, घूमता नहीं है, घूमने का कारण रागादिक भाव था वह भाव ही निकल गया, घूमने का कारण ही नहीं रहा। यही वीतराग दशा है, स्वरूप गुप्त है।

द्रव्य मोक्ष का स्वरूप

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि।
ववगद वेदा उस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो ॥३७८॥

अर्थ जो संवर से युक्त है ऐसा (केवल ज्ञान प्राप्त) जीव सर्व कर्मों की निर्जरा करता हुआ वेदनीय और आयु रहित होकर भव को छोड़ता है इसलिये (सर्व कर्म पुद्गलों का वियोग होने का कारण) वह मोक्ष है।

टीका—यह द्रव्य मोक्ष के स्वरूप का कथन है।

वास्तव में केवली भगवान को भाव मोक्ष होने पर परम संवर सिद्ध होने के कारण उत्तर कर्म संतति निरोध को प्राप्त होकर और परम निर्जरा के कारण भूत ध्यान सिद्ध होने के कारण पूर्व कर्म संतति की जिसकी स्थिति कदाचित् स्वभाव से ही

आयु कर्म के जितनी होती है और कदाचित् समुद्घातविधान से आयुकर्म के जितनी होती है, वह आयु कर्म के अनुसार ही निर्जरित होती हुई अपुनर्भव के लिये वह भव छुटने के समय होने वाला वेदनीय आयु नाम गोत्र रूप कर्म पुद्गलों का जीव केसाथ अत्यन्त विश्लेष (वियोग) वह द्रव्य मोक्ष है।

भावार्थ— आत्मा के संपूर्ण गुणों की शुद्धता हो जाना भाव मोक्ष है और आत्मा से अजीव तत्त्व रूप कर्म का अत्यन्त अभाव हो जाना द्रव्य मोक्ष है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध का छुट जाना उभय मोक्ष है।

अष्ट कर्म आत्मा के बारह गुणों को घात करते हैं। उन गुणों की शुद्धि निम्न प्रकार होती है। चतुर्थ गुणस्थान में श्रद्धा गुण क्षायिक भाव से परिणमन कर सकता है। बारहवें गुणस्थान में चारित्र गुण क्षायिक भाव से परिणमन कर जाता है। तेरहवें गुणस्थान में ज्ञान गुण, दर्शन गुण और वीर्य गुण, क्षायिक भाव से परिणमन करता हैं। तेरहवें गुणस्थान में कर्म की ६३ प्रकृति का नाश हो जाता है। चौदहवें गुणस्थान के प्रथम समय में क्रिया गुण, योग गुण, औरप्रदेशत्व गुण क्षायिक भाव से परिणमन कर जाता है वहां ७२ प्रकृति का नाश हो जाता है। चौदहवें गुणस्थान के अन्त के समय में अव्याबाध गुण, अवगाहना गुण, अगुरुलघु गुण और सूक्ष्मत्व गुण, क्षायिक भाव से परिणमन करता है तब १३ प्रकृति का नाश होते ही मोक्षतत्व की प्राप्ति हो जाती हैं और सिद्ध परमात्मा का संपूर्ण गुण शुद्ध परिणमन करता है।

मोक्ष प्राप्त करने की रिति

जह बंधेछित्तूण य बंधण बद्धो उ पावइ विमोक्खं।
तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्खं॥

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पाणा सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणई ॥३७९॥

अर्थ—जैसे बंधयुक्त पुरुष बंधन को छेदकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार जीव बन्धों को छेदकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

बन्धा के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर बन्धों के प्रति जो विरक्त होता है वह कर्मों से मुक्त हो जाता है।

टीका—जो निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र आत्म स्वभाव को और उस (आत्मा) के विकार के करने वाले बंध के स्वभाव को जानकर बंधों से विरक्त होता है वही समस्त कर्मों से मुक्त होता है। इस (कथन) से ऐसा नियम किया जाता है कि आत्मा और बंध का द्विधा करण (पृथक्करण) ही मोक्ष का कारण है।

आत्मा और बंध का लक्षण किया है।

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥३८०॥

अर्थ—जीव तथा बंध नियत स्वलक्षणों से (अपने अपने निश्चय लक्षणों से) छेदे जाते हैं प्रज्ञा रूपी छेनी के द्वारा छेदे जाने पर वे नानापने को प्राप्त होते हैं अर्थात् अलग हो जाते हैं।

टीका—आत्मा और बंध के द्विधा करने रूप कार्य में कर्त्ता जो आत्मा उसके करण (साधन) संबंधी मीमांसा अर्थात् गहरी विचारणा करने पर निश्चयतः अपने से भिन्न करण का (साधन का) अभाव होने से भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक (छेदन के स्वभाव वाला, करण है। उस प्रज्ञा के द्वारा उनका छेद करने पर

वे अवश्य ही नानात्व को प्राप्त होते हैं इसलिये प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा और बंध का द्विधा किया जाता है।

(यहाँ प्रश्न होता है कि) आत्मा और बंध जो कि चैत्य चेतक भाव के द्वारा अत्यंत निकटता के कारण (एक जैसे) हो रहे हैं, और भेद विज्ञान के अभाव के कारण मानों वे एक चेतक ही है, ऐसा जिनका व्यवहार किया जाता है, (अर्थात् पुण्य भाव और संवर भाव को एक रुपमें व्यवहार में माना जाता है) उन्हें प्रज्ञा के द्वारा वास्तव में कैसे छेदा जा सकता है।

(इसका समाधान करते हुए आचार्य देव कहते हैं) आत्मा और बंध के नियत स्वलक्षणों की सूक्ष्म अंतः संधि में (अंतरंग की संधि में) प्रज्ञा छैनी को सावधान होकर पटकने से उनको छेदा जा सकता है, (अर्थात् हेय तत्व को हेय समझकर उपादेय तत्त्व को ग्रहण करना चाहिये) ऐसा हम जानते हैं। आत्मा का स्वलक्षण चैतन्य है क्योंकि वह समस्त शेष द्रव्यों से असाधारण है (वह अन्य द्रव्यों में नहीं है) वह (चैतन्य) प्रवर्तमान होता हुआ जिस जिस पर्याय को प्राप्त होकर प्रवर्तता है, और निवर्तमान होता हुआ जिस जिस पर्याय को ग्रहण करके निवर्तता है, वे समस्त सहवर्ती या क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा हैं इस प्रकार लक्षित करना (लक्षण से पहचानना) चाहिये, (अर्थात् जिन जिन गुण पर्यायों में चैतन्य लक्षण व्याप्त होता है वे सब आत्मा है ऐसा जानना चाहिये) क्योंकि आत्मा उसी एक लक्षण से लक्ष्य है (अर्थात् चैतन्य लक्षण से ही पहिचाना जाता है) और समस्त सहवर्ती तथा क्रमवर्ती अनंत पर्यायों के साथ चैतन्य का अविनाभावी भाव होने से चिन्मात्र ही आत्मा है ऐसा निश्चय करना चाहिये। इतना आत्मा के स्वलक्षण के सम्बन्ध में है। (अर्थात संवर निर्जरा भाव ही आत्मा हैं)।

(अब बंध के स्वलक्षण के संबंध में कहते हैं) बंध का स्व लक्षण तो आत्म द्रव्य से असाधारण ऐसे रागादिक है। यह रागादिक आत्म द्रव्य के साथ साधारणतया धारण करते हुए प्रतिभासित नहीं होते क्योंकि वे सदा चैतन्य चमत्कार से भिन्न रूप प्रति भासित होते हैं और जितना चैतन्य आत्मा की समस्त पर्यायों में प्राप्त होता हुआ प्रति भासित होते हैं उतने ही रागादिक प्रति भासित नहीं होते हैं, क्योंकि रागादिक के बिना भी चैतन्य आत्म लाभ संभव है (अर्थात् जहाँ रागादिक न हो वहाँ भी चैतन्य होता है) और जो रागादिक की चैतन्य के साथ ही उत्पत्ति होती है वह चैत्यचेतक भाव (ज्ञेय ज्ञायक भाव) की अति निकटता के कारण ही है, एक द्रव्यत्व के कारण नहीं जैसे (दीपक के द्वारा) प्रकाशित किया जाने वाला घटादिक (पदार्थ) दीपक के प्रकाशत्व को ही प्रगट करते हैं, घटत्वादि को नहीं, इस प्रकार (आत्मा के द्वारा) चेतित होने वाला रागादिक (अर्थात् ज्ञान में ज्ञेय रूप से ज्ञात होने वाले रागादिक भाव) आत्मा के चेतकत्व को ही प्रगट करते हैं (रागादिकत्व को नहीं)।

ऐसा होने पर भी उन दोनों (आत्मा और बन्ध) की अत्यन्त निकटता के कारण भेद संभावना का अभाव होने से अर्थात् भेद दिखाई न देने से (अज्ञानी को) अनादि काल से एकत्व का व्यामोह (भ्रम) है वह व्यामोह प्रज्ञा द्वारा ही अवश्य छेदा जाताहै।

भावार्थ—जिस जीव को तत्व का ज्ञान नहीं है, ऐसा अज्ञानी जीव पुण्य भाव रूप बंध भाव को ही संवरा निर्जरा तत्व मान लेता है वही मान्यता ज्ञान से ही छेदी अर्थात् अलग की जाती है। यद्यपि राग का और संवर तत्व का प्रदेश भेद नहीं है तो भी लक्षण भेद है, रागादिक कर्म चेतना है और संवर ज्ञान चेतना है ऐसा लक्षण भेद जानने से ही अलग हो सकती है अन्यथा नहीं।

रागादिक की साथ में ही अर्थात् ज्ञानगुण छोड़कर अनंत गुण और अनंतानंत पर्यायों की साथ में हो चैतन्य का ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है वह निश्चयनय का कथन है परन्तु प्रदेश भिन्न द्रव्यों के साथ में ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है वह कहना व्यवहारनय का कथन है। आत्मा अपनी अनंत पर्यायों का पुञ्ज अभेद अखण्ड अनादि निधन नित्य वस्तु है ऐसा पदार्थ में वर्तमान भूत भविष्य का भेद कल्पना करना केवल व्यामोह है ऐसा जानना चाहिये। अखण्ड वस्तुमें भेद करना व्यवहारनय का विषय है जो अभूतार्थ है।

आत्मा और बंध का द्विधा करके क्या करना चाहिये

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणहिं णियएहिं।
बंधो छेएयव्वो सुद्धो आपा य धित्तव्वो ॥३८१॥

अर्थ—इस प्रकार जीव और बन्ध अपने निश्चित् स्वलक्षणों से छेदे जाते हैं। वहाँ बंध को छेदना चाहिये अर्थात् छोड़ना चाहिये और शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना चाहिये।

टीका—आत्मा और बन्ध को प्रथम तो उनके नियत स्वलक्षणों के ज्ञान से सर्वथा ही छेद अर्थात् भिन्न करना चाहिये, तत्पश्चात् रागादिक जिसका लक्षण है, ऐसे समस्त बन्ध को तो छोड़ना चाहिये तथा उपयोग जिसका लक्षण है ऐसे शुद्ध आत्मा को ही ग्रहण करना चाहिये। वास्तव में यही आत्मा और बन्ध के द्विधा करने का प्रयोजन है कि बन्ध के त्याग से शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना।

भावार्थ—प्रथम सात तत्त्व का यथार्थ ज्ञान श्रद्धान करना चाहिये। बाद में आस्रव और बंध तत्त्व अर्थात् इन भावों को हेय-अर्थात् छोड़ने योग्य जाने और संवर निर्जरा और मोक्ष तत्त्व रूप भावों को उपादेय रूप जाने और जीव तथा अजीव तत्त्व को ज्ञेय

रूप जाने, तत्पश्चात् रागादिक भावों को अपने पुरुषार्थ द्वारा त्याग करे, और अनादि काल से संवर निर्जरा भाव का त्याग किया है उसको ग्रहण करे यही द्विधा करने का प्रयोजन है। एक ज्ञान चेतना का ही भाव ग्रहण करने योग्य है और कर्म चेतना तथा कर्मफल चेतना का भाव सर्व छोड़ने योग्य है।

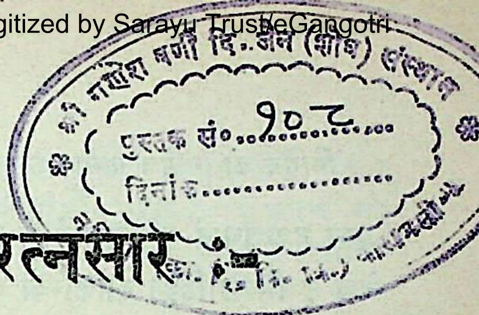
एकश्चित्श्चिन्मय एवभावो भावाः परे ये किल ते परेषांम् ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावः परे सर्वत एक हेयाः ॥३८२॥

अर्थ—चैतन्य का (आत्मा का) तो एक चैतन्य (चिन्मय) ही भाव है और जो अन्य भाव हैं वे वास्तव में दूसरों के भाव हैं इसलिये (एक) चिन्मय भाव ही ग्रहण करने योग्य है, अन्य भाव सर्वथा त्याज्य है।

भावार्थ—रागादिक भाव आत्मा में ही होता है आत्मा की ही विभाव पर्याय है तो भी उस भाव को पर (दूसरों) के भाव कहा है वह इस कारण से कहा है कि वह रागादिक भाव नैमित्तिक पर्याय है और वह द्रव्य कर्म (मोहनीय) के निमित्त से ही होती है, उसके बिना नहीं हो सकती है इसलिये पर को दूसरे का कहा गया है परमार्थ से द्रव्य कर्म का वह भाव नहीं है उस भाव का उपादान कर्त्ता आत्मा ही है और उस भाव का निमित्त कर्त्ता द्रव्य मोहनीय कर्म है, ऐसा जानना चाहिये।







: पंचरत्नसार :

उत्तरार्ध

कर्ता - कर्म अधिकार

पुद्गल के साथ में आत्मा का कर्ता सम्बन्ध नहीं हैं।

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणत्तिं पुद्गलश्चाप्यजानन्
व्याप्तृव्याप्यत्वमंतः कलयितुमसहौ नित्यमत्यंतभेदात् ।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्
विज्ञानार्चिश्चकाति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्यसद्यः ॥३८३॥

अर्थ—ज्ञानी तो अपनी और पर की परिणति को जानता हुआ प्रवर्तता है और पुद्गल द्रव्य अपनी तथा पर की परिणति को न जानता प्रवर्तता है। इस प्रकार उनमें सदा अत्यन्त भेद होने से (दोनों भिन्न द्रव्य होने से) वे दोनों परस्पर अंतरंग में व्याप्य व्यापक भाव को प्राप्त होने में असमर्थ हैं। जीव पुद्गल के कर्ता कर्म भाव है ऐसी भ्रम बुद्धि अज्ञान के कारण वहां तक भासित होती है कि जहां तक (भेद ज्ञान करने वाली) विज्ञान ज्योति करवत की भांति निर्दयता से (उग्रता से) जीव पुद्गल का तत्काल भेद उत्पन्न करके प्रकाशित नहीं होती।

निमित्त को निमित्त न मान कर कर्ता मानना मिथ्यात्व है।

जह्मा दुअत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरिया वादिणो हुँति ॥३८४॥ स.

अर्थ—क्योंकि आत्मा के भाव को और पुद्गल के भाव को दोनों को आत्मा कर्ता है ऐसा जीव मानता है इसलिये एक द्रव्य के दो क्रियाओं का होना मानने वाले मिथ्या दृष्टि है।

भावार्थ—जीव अपनी परिणतिका कर्ता है। और पुद्गल अपनी परिणति का कर्ता है। ऐसा नहीं मानना मिथ्या दृष्टि हैं किन्तु पुद्गल की परिणति में मैं निमित्त मात्र हूँ और जीव की परिणति में पुद्गल निमित्त मात्र है ऐसा माननार जाननार मिथ्या दृष्टि नहीं परन्तु सम्यग्दिष्ट है क्योंकि जैसा का सा जानना मानना यथार्थ दृष्टि है।

द्रव्य गुण पर्याय अभेद है।

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
यापरिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥३८५॥क.

अर्थ—जो परिणमित होता है सो कर्ता है जो (परिणमित होने वाले का) जो परिणाम है सो कर्म है और जो परिणति है सो क्रिया है यह तीनों वस्तु रूप से भिन्न नहीं है।

भावार्थ—द्रव्य शुद्ध है तथा गुण भी शुद्ध हैं और पर्याय भी शुद्ध है यदि द्रव्य अशुद्ध है तो गुण भी अशुद्ध है और पर्याय भी अशुद्ध है। द्रव्य, गुण शुद्ध रहे और पर्याय अशुद्ध होवे यह बन.

नहीं सकता है क्योंकि पर्याय कारण बिना नहीं होती है अर्थात् आधार बिना नहीं होती है। पर्याय अशुद्ध है तो कारण भी अशुद्ध है और कारण का आधार द्रव्य भी अशुद्ध है क्योंकि तीनों अभेद है।

एक द्रव्य का दो कर्ता नहीं दो क्रिया नहीं।

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥३८६॥क.

अर्थ—एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते, और एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते तथा एक द्रव्य की दो क्रियाएँ नहीं होती क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्य रूप नहीं होता।

भावार्थ—कर्ता कर्म में प्रदेश भेद नहीं। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अत्यन्त अभाव है। अर्थात् प्रदेश भेद नहीं है जिससे कर्ता कर्म क्रिया एक ही द्रव्य में होते हैं और वह तीनों अभेद अखण्ड हैं।

मिथ्यात्व जीव एवं अजीव दोनों में होते हैं।

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ॥३८७॥ स.

अर्थ—और जो मिथ्यात्व कहा है वह दो प्रकार का है। एक जीवमिथ्यात्व और दूसरा अजीवमिथ्यात्व और इसी प्रकार अज्ञान अविरति योग, मोह तथा कषाय यह सब भाव जीव और अजीव के भेद से दो दो प्रकार के हैं।

टीका—मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरतिं इत्यादि जो भाव है वे प्रत्येक मयूर और दर्पण की भाँति अजीव और जीव के द्वारा भाये जाते हैं इसलिये वे अजीव भी हैं और जीव भी हैं।

भावार्थ—आत्मा के परिणाम जीव भाव हैं और पौद्गलिक द्रव्य कर्म रूप अवस्था अजीव के परिणाम हैं। जैसे मिथ्यात्व कर्म पुद्गल के परिणाम हैं और मिथ्यात्व भाव जीव के परिणाम हैं इसी प्रकार अविरत कर्म, अज्ञान कर्म, योगकर्म, मोहकर्म तथा कषाय कर्म अजीव के परिणाम है और अविरत भाव, अज्ञान भाव, योग भाव (परिणति) मोहभाव कषाय भाव जीव के परिणाम है। कहा भी है कि—

पुग्गल कम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीयं।
उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छ चं जीवो दु ॥३८८॥स.

अर्थ—जो मिथ्यात्व योग अविरति और अज्ञान अजीव है सो तो पुद्गल कर्म है और जो अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व जीव है वह उपयोग है।

टीका—निश्चय से जो मिथ्या दर्शन अज्ञान अविरति इत्यादि अजीव हैं वह तो अमूर्तिक चैतन्य परिणाम से अन्य मूर्तिक पुद्गल कर्म हैं और जो मिथ्या दर्शन अज्ञान अविरति आदि जीव हैं वह मूर्तिक पुद्गल कर्म से अन्य चैतन्य परिणाम के विकार हैं।

आत्मा अपने ही भाव का कर्ता तथा भोक्ता है।

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥३८९॥

अर्थ—आत्मा जिस शुभ या अशुभ (अपने) भाव को करता है उस भाव का वह वास्तव में कर्ता होता है वह (भाव) उसका कर्म होता है और वह आत्मा उसका (भाव रूप कर्म का) भोक्ता होता है।

टीका—जब आत्मा शुभ या अशुभ भाव को करता है तब वह आत्मा उस समय तन्मयता से उस भावक व्यापक होने से उसका कर्ता है, और वह भाव भी उस समय तन्मयता से आत्मा का व्याप्त होने से उसका कर्म होता है और वही आत्मा उस समय तन्मयता से उस भाव का भावक होने से उसका अनुभव करने वाला (भोक्ता) होता है और वह भाव भी उस समय तन्मयता से उस आत्मा का भाव्य होने से उसका अनुभाव्य है अर्थात् भोग्य होता है।

भावार्थ—आत्मा का अपने गुण के साथ में नित्य तादात्म सम्बन्ध है और पर्याय के साथ में अनित्य तादात्म सम्बन्ध है। इससे सिद्ध हुआ कि पर्याय अशुद्ध है तो गुण भी अशुद्ध है और गुण का आधार द्रव्य भी उस समय में अशुद्ध है। यदि पर्याय शुद्ध है तो गुण भी शुद्ध हैं गुण का आधार द्रव्य भी उस समय में शुद्ध है। केवल पर्याय ही अशुद्ध है और गुण द्रव्य को शुद्ध मानना अज्ञान भाव्य है क्योंकि पर्याय से गुण एवं द्रव्य अभिन्न पदार्थ है।-

प्रत्येक द्रव्य में अचिंत्य शक्ति या गुण पर्याय है।

जो जह्मि गुणे दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥३६०॥ स.

अर्थ—जो वस्तु अथवा द्रव्य जिस द्रव्य में और गुण में

(और पर्याय में) वर्तती है वह अन्य द्रव्य में तथा गुण में (तथा पर्याय में) संक्रमण को प्राप्त नहीं होती (बदल कर अन्य में नही मिल जाती) अन्य रूप से संक्रमण को प्राप्त न होती हुई वह बस्तु अन्य वस्तु को कैसे परिणमन करा सकती है।

भावार्थ—ज्ञान दर्शनादि जीव द्रव्य में ही होता है कभी भी पुद्गल द्रव्य में नहीं हो सकता है उसी प्रकार वर्णादिक पुद्गल में ही होता है जीव द्रव्य में कभी नहीं हो सकता है। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण और अनन्तानन्त पर्याय रहती वे। विकार रूप परिणमन करने की शक्ति द्रव्य में होते हुये भी वह विभाव शक्ति पराश्रित भाव है अर्थात् वह विभाव रूप परिणमन करने की शक्ति पर द्रव्य के आश्रित ही प्रगट हो सकती है। रागादिक करने की शक्ति सिद्ध आत्मा में है किन्तु वह शक्ति चारित्र मोहनीय कर्म के सद्भाव विना प्रगट नही हो सकती है। जीव में केवल ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति है तो भी वह शक्ति ज्ञानावरण कर्म के नाश के विना नहीं हो सकती है। विभाव में निमित्त पर द्रव्य ही होता है स्वद्रव्य नहीं।

जीव अपनी पर्याय से तन्मय हैं।

कोहु वजुतो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥३६१॥

अर्थ—क्रोध में उपयुक्त (अर्थात् जिसका उपयोग क्रोधाकार परिणमित हुआ है ऐसा) आत्मा क्रोध ही है मान से उपयुक्त आत्मा मान ही है। माया से उपयुक्त आतमा माया ही है और लोभ से उपयुक्त आत्मा लोभ ही है।

कर्ता कर्म सम्बन्ध

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत् ।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥२१२॥

अर्थ—वास्तव में परिणाम ही निश्चय से कर्म है और परिणाम अपने आश्रय भूत परिणामी का ही होता है अन्य का नहीं (क्योंकि परिणाम अपने अपने द्रव्य के अश्रित है अन्य के परिणाम का अन्य आश्रय नहीं होता) और कर्म कर्ता के बिना नही होता तथा वस्तु की एकरूप (कूटस्थ) स्थिति नहीं होती (क्योकि वस्तु द्रव्य पर्याय स्वरूप होने से सर्वथा नित्यत्व बाधा सहित हैं) इसलिये वस्तु स्वयं ही अपने परिण.म रूप कर्म का कर्ता है (यह निश्चय सिद्धांत है)।

भावार्थ—द्रव्य की पर्याय द्रव्य से भिन्न नहीं होती क्योंकि द्रव्य का अपनी पर्याय के साथ में तादात्म सम्बन्ध है। द्रव्य कर्ता है और पर्याय उसी द्रव्य का कर्म है। जिस समय पर्याय अशुद्ध हैं उसी समय द्रव्य गुण और पर्याय तीनों ही अशुद्ध हैं। क्योंकि पर्याय से गुण एवं द्रव्य भिन्न नहीं है। यदि ऐसा माना जाय कि पर्याय तो अशुद्ध है और द्रव्य गुण त्रिकाल शुद्ध है इस प्रकार की मान्यता से यह दोष आता है कि "पर्याय, द्रव्य, और गुण का आश्रय बिना हुई है? आश्रय बिना पर्याय का होना आकाश के पुष्प जैसी बात है। इससे सिद्ध हुआ कि पर्याय यदि अशुद्ध है तो जिसके आश्रय यह पर्याय प्रगट हुई है वह द्रव्य एवं गुण भी नियम से अशुद्ध है क्योंकि उत्पाद व्यय औरध्रौव्यय मिलकर ही सत् होता है इससे अलग सत् नहीं है।

अन्य वस्तु के साथ अन्य वस्तु का तादात्म सम्बन्ध नहीं है।

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्य वस्तु नः
किंचनापि परिणामिनः स्वयम् ।
व्यावहारिक दृशैव तन्मतं
नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ।।३६३।। क.

अर्थ—एक वस्तु स्वयं परिणमित होती हुई अन्य वस्तु का कुछ भी कर सकती है ऐसा व्यवहार दृष्टि से माना (बोला) जाता है। निश्चय से इस लोक में अन्य वस्तु का अन्य वस्तु के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

आत्मा द्रव्य कर्म का कर्ता नहीं है

परिणामो सयमादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया ।
किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता ।।३६४।।

अर्थ—परिणाम स्वयं आत्मा है और वह जीव मय क्रिया है क्रिया को कर्म माना गया है इसलिये आत्मा द्रव्य कर्म का कर्ता नहीं है।

टीका—आत्मा का परिणाम वास्तव में आत्मा ही है क्योंकि परिणामी परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से परिणाम से अनन्य है और जो उस (आत्मा) का तथा विध परिणाम है वह जीवमयी ही क्रिया है क्योंकि सर्व द्रव्यों की परिणाम लक्षण क्रिया आत्ममयता (निजमयता) से स्वीकार की गई है और फिर जो (जीवमयी) क्रिया है वह आत्मा के द्वारा स्वतन्त्र तया प्राप्य होने से कर्म है! इसलिए परमार्थतः आत्मा अपने

परिणामस्वरूप भाव कर्म का ही कर्ता है। किन्तु पुद्गल परिणाम स्वरूप द्रव्य कर्म का नहीं। द्रव्य कर्म का कर्ता पुद्गल द्रव्य है।

भावो जदि कम्मकदो अत्ता कम्मस्स होदि किध कत्ता।
ण कुणदि अत्ता किंचि वि मुत्ता अण्णं सगं भावं ॥३९५॥

अर्थ—यदि भाव कर्म कृत हों तो आत्मा कर्म का कर्ता होना चाहिये। वह तो कैसे हो सकता है? क्योंकि आत्मा तो अपने भावों को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता।

जीव अपने भाव का कर्ता है पुद्गल अपने भाव का कर्ता है।

भावो कम्मणिमित्तो कम्मं पुण भावकारणं हवदि।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं ॥३९६॥पं

अर्थ—जीव भाव का कर्म निमित्त है और कर्म का जीव भाव निमित्त है परन्तु वास्तव में एक दूसरे का कर्ता नहीं है कर्ता के विना होते हैं ऐसा भी नहीं है।

टीका—व्यवहारनय से निमित्त मात्र पने के कारण जीव भाव का कर्म कर्ता है (औदयिकादि जीव भाव का कर्ता द्रव्य कर्म है) कर्म का भी जीव भाव कर्ता है निश्चय से तो जीव भावों का न तो कर्म कर्ता है और न कर्म का जीव भाव कर्ता है। वे (जीव भाव और द्रव्य कर्म) कर्ता के बिना नहीं होते है ऐसा भी नहीं है क्योंकि निश्चय से जीव परिणामों का जीव कर्ता है और कर्म परिणामों का कर्म (पुद्गल) कर्ता है।

व्यवहार और निश्चय नय से जीव कर्ता भोक्ता

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गल कम्मस्स होदि ववहारो।
कम्मजभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो ॥३९७॥

अर्थ--आत्मा पुद्गल कर्म का कर्ता भोक्ता व्यवहार से है और आत्मा रागादिक (कर्म जनित) भावों का कर्ता भोक्ता निश्चय से है।

जीव अपने भाव का कर्ता है

कुव्वं संग सहावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स
ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेयव्वं ॥३१८॥

अर्थ—अपने स्वभाव को करता हुआ आत्मा वास्तव में अपने भाव का कर्ता है, पुद्गल कर्मों का नहीं, ऐसा जिन वचन जानना।

टीका—निश्चय से जीव को अपने भावों का कर्तृत्व और पुद्गल कर्मों का अकर्तृत्व है ऐसा यहां आगम द्वारा दर्शाया गया है।

जीव अपने भावों का और कर्म अपने भावों का कर्ता है

कम्मं पि सगं कुव्वदि सणे सहावेण सम्ममप्पाणं ।
जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण ॥३६६॥ पं.

अर्थ—कर्म भी अपने स्वभाव से अपने को करते हैं और वैसा जीव भी कर्म स्वभावभाव से (औदयिकादि भाव से) बराबर अपने को कर्ता है।

टीका—निश्चय नय से अभिन्न कारक होने से कर्म और जीव स्वयं स्वरूप के (अपने अपने रूप के) कर्ता हैं ऐसा यहाँ कहा गया है। —

कर्म आत्मा को फल क्यों देवे ?

कम्मं कम्मं कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाणं
किध तस्स फलं भुञ्जदि अप्पा कम्मं च देदि फलं ।।४००।।

अर्थ—यदि कर्म कर्म को करे और आत्मा आत्मा को करे तो कर्म आत्मा को फल क्यों देगा और आत्मा उसका फल क्यों भोगेगा ?

जीवा पुग्गलकाया अण्णोण्णागाढगहणपडिबद्धा
काले विजुज्जमाणा सुह दुक्खं दिंति भुञ्जन्ति ।४०१।।

अर्थ—जीव और पुद्गल काय (विशिष्ट प्रकार से) अन्योन्य अवगाह के ग्रहण द्वारा (परस्पर) बद्ध हैं काल से पृथक होने पर सुख दुख देते हैं और भोगते हैं (अर्थात् पुद्गल काय सुख दुख देते हैं और जीव भोगते हैं)।

टीका—निश्चय से जीव और कर्मों को एक का (निज-निज रूप का ही) कर्तृत्व होने पर भी व्यवहार से जीव को कर्म द्वारा दिये गये फल का उपभोग विरोध को प्राप्त नहीं होता ऐसा यहाँ कहा है।

फल का भोक्ता केवल जीव है।

तह्मा कम्मं कत्ता भावेण हि संजुदोध जीवस्स
भोत्ता हु हवदि जीवो चेदगभावेणकम्मफलं ।४०२।

अर्थ—इसलिए जीव के भाव से संयुक्त ऐसा कर्म (द्रव्यकर्म) कर्ता है (निश्चय से अपना कर्ता और व्यवहार से जीव भाव का कर्ता परन्तु वह भोक्ता नहीं है) भोक्ता तो (मात्र) जीव है चेतक भाव के कारण कर्मफल का।

टीका—ऐसा निश्चय हुआ कि कर्म निश्चय से अपना कर्ता है, व्यवहार से जीव भाव का कर्ता है, जीव भी निश्चय से अपने भाव का कर्ता है, व्यवहार से कर्म का कर्ता है।

जिस प्रकार यहाँ दोनों नयों से कर्म कर्ता है, उसी प्रकार एक भी नय से वह भोक्ता नहीं है। किसलिये ! क्योंकि उसे चैतन्य पूर्वक अनुभूति का सद्भाव नहीं है। इसलिये चेतनपने के कारण मात्र जीव ही कर्मफल का कथंचित् आत्मा के सुख दुख परिणामों का और कथंचित् इष्टानिष्ट विषयों का भोक्ता सिद्ध है।

भावार्थ—पुद्गल तो खाता ही नहीं एवं पुद्गल चर्चा में निकलता ही नहीं क्योंकि उसमें चेतनता नहीं है। निश्चय से आत्मा सुख दुख रूप अपने परिणाम का भोक्ता है और व्यवहार से इष्टानिष्ट विषयों (दाल, चावल, रोटी आदि) का भोक्ता है। यदि व्यवहार से भी आत्मा इष्टानिष्ट विषयों का भोक्ता नहीं है तो आत्मा केवल इच्छा कर लेवे और क्षुधा मिटा देवे ? परन्तु ऐसा होता ही नहीं है जिससे व्यवहार से आत्मा को इष्टानिष्ट पदार्थों का भोक्ता मानना न्याय संगत है।

निमित्त नैमित्तिक

निमित्त नैमित्तिक जीव जीव पुद्गलक सम्बन्ध

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥४०३॥
णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मंम तहेव जीव गुणे
अण्णोण्ण णिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि ४०४

अर्थ—पुदुगल जीव के परिणाम के निमित्त से कर्म रूप में परिणमित होते हैं तथा जीव भी पुद्गल कर्म के निमित्त से परिणमन करता है। जीव कर्म के गुणों को नहीं करता उसी तरह कर्म जीव के गुणों को नहीं करता परन्तु *परस्पर निमित्त* से दोनों के परिणाम जानो।

भावार्थ—बन्ध बन्धक भाव में ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होता है परन्तु अबद्ध पुद्गल के साथ में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं होता है। निमित्त नैमित्तिक में दोनों अर्थात् निमित्त और नैमित्तिक द्रव्य में समान ही अवस्था होती है। जहाँ दोनों द्रव्य में समान अवस्था नहीं होती है वहाँ निमित्त बोलना यह उदासीन बाह्य निमित्त का लक्षण है। जैसे जीव पुद्गल में गगन क्रिया होती है उसी प्रकार धर्मास्तिकाय में गगन क्रिया नहीं होती है ऐसा सम्बन्ध का नाम निमित्त उपादान सम्बन्ध है निमित्त उपादान सम्बन्ध में उपादान की ही मुख्यता है अर्थात् तथा प्रकार का भाव परिणमन करना या नही करना वह उपादान के ही आधीन है निमित्त के आधीन नहीं है।

निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध में जैसा निमित्त में परिणमन भाव होगा, वैसा ही नैमित्तिक को करना ही पड़ेगा क्योंकि दोनो द्रव्य में परस्पर बन्धन है । निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध में निमित्त की ही मुख्यता नैमित्तिक पराधीन है। जीव का निमित्त, जीव से दूर नहीं है, जिस पुद्गल के साथ में बंधन है, वही पुद्गल निमित्त है और नही ।

बद्ध नोकर्म का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध का दृष्टांत—

इन्द्रियाँ बिगड़ जावे तो ज्ञान उपयोग रूप नहीं हो सकता हैं । ज्ञान लब्धि रूप ही रह जायेगा ।

द्रव्य मन बिगड़ हो जावे तो संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य पागल हो जावे वह अपना कल्याण नही कर सकता।

काय, शरीर को लकवा लग जाये तो शक्तिवान आत्मा अर्थात् जिसमें गमन करने की योग्यता है वह गमन नहीं कर सकता है।

श्वासो श्वास रुंध जावे तो शरीर का वियोग अर्थात् प्राण का नाश हो जावेगा ।

कर्म निमित्त का दृष्टांट—

ज्ञानावरण कर्म—जितना अंश में ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होगा इतना ही ज्ञान का उघाड़ होगा। आत्मा में शक्ति तो केवल ज्ञान की है। ज्ञानावरण कर्म के सदभाव में केवल ज्ञान को प्रगट तो कर लेवे ? नहीं हो सकता। अवधि मनः पर्यय ज्ञान के क्षयोपशम बिना अवधि ज्ञान या मनः पर्यय ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान बढ़ाने में या घटाने में आत्मा का पुरुषार्थ अकार्य कारी है। उसी प्रकार दर्शनावरण कर्म के साथ में दर्शन सामान्य अवलोकन शक्ति का सम्बन्ध है।

दर्शन महिनीय कर्म—जब तक मिथ्यात्व कर्म का उपशम क्षयोपशम या क्षय न होवे तब तक सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता तो भी मिथ्यात्व कर्म की शक्ति हीन करने का आत्मा में शक्ति है। किन्तु उपशम करने की शक्ति नहीं है।

चारित्र मोहनीय—जितने अंश में चारित्र मोहनीय कर्म का अनुभाग उदय में होगा इतने ही अंश में आत्मा में राग रूप परिणमन जरूर होगा। चारित्र मोहनीय कर्म की शक्ति हीन करने की आत्मा में शक्ति है तथापि उनका उपशम या क्षय करने की शक्ति नहीं है। उसी का उपशम या क्षय स्वयं हो जाता है। श्रद्धा और चारित्र में ही आत्मा का पुरुषार्थ काम कर सकता है और गुणों में आत्मा का पुरुषार्थ अकार्य कारी है।

अन्तराय कर्म—जितने अंश में अन्तराय कर्म का क्षयोपशम होगा इतने ही अंश में वीर्य गुण की शक्ति प्रगट होगी कमती या बढ़ती नहीं।

वेदनीय—साता कर्म के उदय में ही इष्ट सामग्री मिलेगी और असाता कर्म के उदय में अनिष्ट सामग्री मिलेगी तोभी इष्ट अनिष्ट सामग्री राग कराने में असमर्थ है। चौदहवाँ गुण स्थान के प्रथम समय में यदि असाता कर्म रहा तो समवसरण विलय हो जायेगा यदि साता कर्म रहा तो चौदहवाँ गुणस्थान का अन्त समय तक समवशरण रहेगा।

आयु कर्म—आयु कर्म के सदभाव में ही जीवन रह सकता है आयु के अभाव में नियम से मरण होगा।

नाम कर्म—चार गुण को विकारी करता है। जब तक शरीर नामा नाम कर्म का उदय होगा तब तक योगगुण, क्रियागुण और प्रदेशत्व गुण नियम से विकारी होगा और शरीरादि नाम कर्म

के अभाव में योगगुण की अयोगी क्षायिक भाव, क्रिया गुण की अलेश्या क्षायिक भाव और प्रदेशत्व गुण की अनाहारक क्षायिक भाव प्रगट हो जायेगा यहअवस्था चोदहवाँ गुणस्थान के प्रथम समय में होती है, तब शरीर संहनन, संस्थान, अंगोपांग वर्ण आदि का अत्यन्त अभाव हो जाता है। जब तक जाति नामा नाम कर्म का उदय होगा तब तक सूक्ष्म गुण नियम से विकार रूप परिणाम करेगा। जाति नामा नाम कर्म के अत्यन्त अभाव में सूक्ष्म गुण क्षायिक भाव से चौदहवाँ गुण स्थान के अंत के समय में परिणमन करेगा। जब तक गति नामा नाम कर्म का उदय होगा जब तक जीव द्रव्य नियम से विकारी होगा और गति-नामा नाम कर्म के अभाव में सिद्ध पर्याय क्षायिक भाव से आत्म द्रव्य की प्रगट होगी। गतिनामा नाम कर्म गुण का बाधक नहीं है किन्तु द्रव्य को ही बाधक है। क्यों कि मनुष्य, देव तिर्यंच पर्याय हैं वे गुण पर्याय नहीं है।

गोत्र कर्म—जब तक गोत्र कर्म का सदभाव होगा तब तक उच्च नीच गोत्र में जन्म होगा और गोत्र कर्म का अभाव में अगुरूलघु गुणषट गुण हानि वृद्धि रूप शुद्ध पर्याय क्षायिक भाव से प्रगट होगी।

निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध

चेया उ पयडीअट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥४०५॥ स.
एवं वंधो उ दुण्हं वि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥४०६॥

अर्थ—चेतक अथवा आत्मा प्रकृति के निमित्त से उत्पन्न

होता है और नष्ट होता है तथा प्रकृति भी चेतक अथवा आत्मा के निमित्त से उत्पन्न होती है तथा नष्ट होती है। इस प्रकार *परस्पर निमित्त से दोनों ही* आत्मा और प्रकृति का बन्ध होता है और इससे संसार उत्पन्न होता है।

टीका—यह आत्मा (उसे) अनादि संसार से ही (अपने और पर के भिन्न भिन्न) निश्चित स्व लक्षणों का ज्ञान (भेद ज्ञान) न होने से दूसरे का और अपना एकत्व का अध्यास करने से कर्ता होता हुआ, प्रकृति के निमित्त से उत्पत्ति विनाश को प्राप्त होता है। प्रकृति भी आत्मा के निमित्त से उत्पत्ति विनाश को प्राप्त होती है, (अर्थात् आत्मा के परिणामानुसार परिणमित होती है) इस प्रकार यद्यपि व आत्मा और प्रकृति के कर्ता कर्म भाव का अभाव हैं तथापि परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव से दोनों के बन्ध देखा जाता है इससे संसार है और उनके (आत्मा और प्रकृति के) कर्ता कर्म का व्यवहार है।

भावार्थ—आत्मा को द्रव्य कर्म का कर्ता कहना व्यवहार नय का कथन है परन्तु आत्मा का परिणाम द्रव्य कर्म होने में निमित्त है यह कथन निश्चय नयका कथन है। निमित्त को निमित्त कहना निश्चय नयका कथन है और निमित्त को कर्ता कहना व्यवहार नयका कथन है।

रागादिक पर द्रव्य के निमित्त से ही होता है।

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥४०७॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥४०८॥

अर्थ--जैसे स्फटिक मणि शुद्ध होने से रागादि रूप से (ललाई आदि रूप से) अपने आप परिणमता नहीं है परन्तु अन्य रक्तादि द्रव्यों से वह रक्त (लाल आदि) आदि किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी अर्थात् आत्मा शुद्ध होने से रागादि रूप अपने आप परिणमता नहीं है, परन्तु अन्य रागादि दोषों से वह रागी आदि किया जाता है।

टीका—जैसे वास्तव में केवल (अकेला) स्फटिक मणि स्वयं परिणमन स्वभाव वाला होने पर भी, अपने को शुद्ध स्वभावत्व के कारण रागादि का निमित्तत्व न होने से (स्वयं अपने में ललाई आदि रूप परिणमन का निमित्त न होने से) अपने आप रागादि रूप नहीं परिणमता, किन्तु जो अपने आप रागादि भाव को प्राप्त होने से स्फटिक मणि के रागादिक का निमित्त होता है ऐसे पर द्रव्य के द्वारा ही शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ, रागादिक रूप परिणमित किया जाता हैं, उसी प्रकार वास्तव में केवल (अकेला) आत्मा स्वयं परिणमन स्वभाव वाला होने पर भी, अपने शुद्ध स्वभावत्व के कारण रागादिक का निमित्तत्व न होने से (स्वयं अपने को रागादि रूप परिणमन का निमित्त न होने से) अपने आप ही रागादि रूप नहीं परिणमता, परन्तु जो अपने आप रागादि भाव को प्राप्त होने से आत्मा को रागादिक का निमित्त होता है ऐसे पर द्रव्य के द्वारा ही शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ ही, रागादि रूप परिणमित किया जाता है। ऐसा वस्तु स्वभाव है।

भावार्थ--जीव पुद्गल में अनेक प्रकार की विकारी परिणमन की योग्यता (शक्ति) होते हुये भी वह अपने आप विकार रूप परिणमन नहीं कर सकता है। पर द्रव्य जैसा निमित्त होगा वैसा ही वह उनके (निमित्त) के अनुसार ही परिणमन कर जावेगा।

ऐसा वस्तु का स्वभाव है। जैसे आटा में रोटी, परांठा, पूरी, लड्डू, पकौड़ी आदि परिणमन करने की योग्यता (शक्ति) है तो भी जैसा स्त्री का योग उपयोग निमित्त बनेगा ऐसा ही आटा परिणमन जावेगा उनसे अर्थात् स्त्री का योग उपयोग से विपरीत नही परिणमन कर सकता है ऐसा वस्तु का स्वभाव है। सिद्ध परमात्मा में रागादि रूप परिणमन करने की योग्यता है। योग्यता शक्ति होते हुये भी वह चारित्र मोहिनीय कर्म का निमित्त विना परिणमन नहीं कर सकता है ऐसा वस्तु का स्वभाव है।

रागादयो बंध निदान मुक्तास्ते शुद्ध चिन्मात्र महोऽति रिक्ताः
आत्मा परो वा किमुतन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेव माहुः ॥

अर्थ—रागादिक को बंध का कारण कहा और उन्हें शुद्ध चैतन्यमात्र ज्योति से (आत्मा का औदयादिक भाव से) भिन्न कहा तव फिर उस रागादिक का निमित्त आत्मा है या कोई अन्य ? उक्त प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि—

न जातु रागादि निमित्त भावमात्मात्मनोयाति यथार्ककांतः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तु स्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥

अर्थ—सूर्य कान्त मणि की भांति (जैसे सूर्य कान्त मणि स्वतः से ही अग्नि रूप परिणमित नहीं होती, उसके अग्नि रूप परिणमन में सूर्य बिम्ब निमित्त है उसी प्रकार) आत्मा अपने को रागादिक का निमित्त कभी भी नहीं होता उसमें निमित्त पर संग ही है। ऐसा वस्तु भाव प्रकाशमान है। (सदा वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है इसे किसी ने वनाया नहीं है)।

भावार्थ—सूर्य कान्त मणि में अग्नि रूप परिणन की योग्यता शक्ति होते हुये भी वह स्वयं अग्नि रूप परिणमन नहीं कर सकती

किन्तु सूर्य का विम्ब का निमित्त मिलने से ही निमित्त के अनुसार सूर्य कान्त मणि अग्नि रूप नैमित्तिक परिणमन कर जावेगी। जब तक सूर्य का विम्ब का निमित्त न मिले तब तक सूर्य कान्त मणि में अग्नि रूप परिणामन की योग्यता शक्ति होते भी परिणमन नहीं कर सकती ऐसा वस्तु का स्वभाव है।

कर्म और आत्मा में निमित्त नैमित्तिक पना कैसे है।

संमत्त पडिणिवद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ॥४११॥स.
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥४१२॥स.
चारित्त पडिणि वद्धं कसायं णिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरितो होदि णायव्वो ॥४१३॥

अर्थ—सम्यक्त्व को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है ऐसा जिन वरों ने कहा है, उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है ऐसा जानना चाहिये।

ज्ञान को रोकने वाला अज्ञान है ऐसा जिन वरों ने कहा है, उसके उदय से जीव अज्ञानी होता है, ऐसा जानना चाहिए।

चारित्र को रोकने वाला कषाय (चारित्र मोहनीय कर्म) है ऐसा जिन वरों ने कहा है, उसके उदय से जीव अचारित्रवान होता है ऐसा जानना चाहिये।

टीका—सम्यक्त्व जो कि मोक्ष के कारण रूप स्वभाव है उसे रोकने वाला मिथ्यात्व है वह (मिथ्यात्व) तो स्वयं कर्म ही है उसके उदय से ही ज्ञान के मिथ्या दृष्टि पना आता है। ज्ञान

जो कि मोक्ष का कारण रूप स्वभाव है उसे रोकने वाला अज्ञान है वह तो कर्म ही है उसके उदय से ही ज्ञान के अज्ञानीपना होता है। चारित्र जो कि मोक्ष का कारण रूप स्वभाव है उसे रोकने वाली कषाय है वह तो स्वयं कर्म ही है उसके उदय से ही ज्ञान के अचारित्रपना होता है। इसलियेस्वयं मोक्ष के कारण का तिरोधाय भाव स्वरूप होने से कर्म का निषेध किया गया है।

घटादिक का निमित्त कर्ता जीव का योग उपयोग ही है

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥४१४॥

अर्थ—जीव घट को नहीं करता, पट को नहीं करता शेष कोई द्रव्यों को नहीं करता, परन्तु जीव के योग उपयोग घटादिक को उत्पन्न करने वाले निमित्त है उनका कर्ता जीव होता है।

भावार्थ—निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध समय कर्ता पर्याय में ही होता है। आत्मा अनादि अनन्त पदार्थ वह निमित्त कर्ता नहीं होता है, किन्तु आत्मा की समय वर्ती पर्याय ही पर द्रव्य की परिणति का निमित्त कर्ता बनती है। मट्टी में अनेक अवस्था बनने की योग्यता शक्ति है कुम्भकार जैसा भाव और योग करेगा वैसी अवस्था मट्टी धारण कर जावेगी वह मट्टी की नैमित्तिक अवस्था है। रेल में बैठे हुये पेसेन्जर में एक समय में चौदा राजु गमन करने की शक्ति है तोभी जितनी स्पीड से तेजी से रेल गाड़ी चलेगी इतनी ही तेजी से स्पीड से पेसेन्जर का गमन होगा। रेलगाड़ी की स्पीड़ से तेजी से कमती बढ़ती पेसेन्जर का गमन कभी नहीं हो सकता। ऐसा ही प्रत्यक्ष ज्ञान कहता है, तो भी

जो जीव स्वीकार नहीं करता ऐसा जीवों को जिनागम में अभव्य आत्मा कहा गया है।

कर्म दो प्रकार के हैं और उसमें निमित्त नैमित्तिक

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
वहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥४१५॥ स.

णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥४१६॥

अर्थ—मिथ्यात्व अविरमण कसाय और योग यह आस्रव संज्ञ (चैतन्य के विकार) भी है और असंज्ञ (पुद्‍गले के विकार) भी है।

विविध भेद वाले संज्ञ आस्रव जो कि जीव में उत्पन्न होते हैं वे जीव के ही अनन्य परिणाम है और असंज्ञ आस्रव ज्ञानावरणादि कर्म के कारण (निमित्त) होते हैं और उनका भी (असंज्ञ आस्रवों के भी कर्म बन्धन का निमित्त होने में) रागद्वेषादि भाव करने वाला जीव कारण (निमित्त) होते हैं।

भावार्थ—चारित्र मोहनीय कर्म का उदय निमित्त है और आत्मा में रागादिक भाव आत्मा की नैमित्तिक पर्याय है। वही आत्मा की रागादि रूप भाव निमित्त है और कार्माण वर्गणा में से अष्ट प्रकार का कर्म होना नैमित्तिक पर्याय है। ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। अर्थात् एक ही समय में आत्मा निमित्त भी है और नैमित्तिक भी है। इसमें निमित्त उपादान सम्बन्ध होता ही नहीं। निमित्त उपादान सम्बन्ध उदीरणा भाव में ही होता है।

निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं ॥४१७॥स.

अर्थ—आत्मा जिस भाव को करता है उस भाव का वह कर्ता होता है उसके कर्ता होने पर पुद्गल द्रव्य अपने आप कर्म रूप परिणमित होता है।

टीका—आत्मा स्वयं ही उस रूप परिणमित होने से जिस भाव को वास्तव में करता है उसका वह साधक की (मंत्र साधने वाला) भाँति कर्ता होता है। वह आत्मा का भाव निमित्तभूत होने पर पुद्गल द्रव्य कर्म रूप स्वयं मेव परिणमित होता है। उसी बात को स्पष्ट तया समझाते हैं जैसे मंत्र साधक उस प्रकार के ध्यान भाव से स्वयं ही परिणमित होता हुआ ध्यान का कर्ता होता है और वही ध्यान भाव समस्त साध्य भावों को अनुकूल होने से निमित्त मात्र होने पर साधक के कर्ता हुए बिना (सर्पादिक का) व्याप्त विष स्वयं मेव उत्तर जाता है स्त्रियाँ स्वयं-मेव विडम्बना को प्राप्त होती है और बंधन स्वयंमेव टूट जाता है उसी प्रकार यह आत्मा, अज्ञान के कारण मिथ्यादर्शनादि भाव रूप स्वयं ही परिणमित होता हुआ मिथ्यादि भाव का कर्ता है और वह मिथ्यादर्शनादि भाव पुद्गल द्रव्य को (कर्म रूप परिणमित होने में) अनुकूल होने से निमित्त मात्र होने पर आत्मा के कर्ता हुए बिना पुद्गल द्रव्य मोहनीय आदि कर्म रूप स्वयमेव परिणमित होते हैं।

भावार्थ—यह दोनों बद्ध द्रव्यों में अन्योन्य निमित्त नैमित्तक बन्ध हो जाता है। अर्थात् जितनी डिग्री में चारित्र मोहनीय द्रव्य कर्म का उदय होगा उतन ही डिग्री में आत्मा में रागादिक

भाव होगा और जितनी डिग्री में रागादिक भाव होगा उतनी डिग्री में (अनुभाग रूप) कार्माण वर्गणा चारित्र मोहनीय रूप परिणमन कर जावेगी। जैसे ड्राइवर जितनी तेजी से रेलगाड़ी चलायेगा उतनी ही तेजी से रेलगाड़ी चलेगी और जितनी तेजी से रेलगाड़ी चलेगी इतनी ही तेजी से पेसेन्जर का गमन होगा कमती बढ़ती नहीं। यहाँ पर ड्राइवर निमित्त है और रेलगाड़ी का चलना नैमित्तिक अवस्था है, उसी प्रकार रेलगाड़ी का चलना निमित्त है और पेसेन्जर का गमन होगा नैमित्तिक पर्याय है। नैमित्तिक पर्याय निमित्त के आधीन है। रेलगाड़ी एक समय में निमित्त भी है और नैमित्तिक भी है। उसी प्रकार आत्मा एक समय में निमित्त भी है और नैमित्तिक भी है। बंध की अपेक्षा में आत्मा निमित्त है और कर्म के उदय की अपेक्षा से आत्मा नैमित्तिक भी है।

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा ।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥४१८॥

अर्थ—कर्मत्व के योग्य स्कन्ध जीव की परिणती को प्राप्त करके कर्म भाव को प्राप्त होता है जीव उनको परिणमाता नहीं है।

टीका—कर्म रूप परिणमित होने की शक्ति वाले पुद्गल स्कन्ध, तुल्य (समान) क्षेत्रावगाह जीव के परिणाम मात्र का जो कि बहिरंग साधन है उसका आश्रय लेकर जीव उनको परिणमने वाला नहीं होने पर भी स्वयं मेव कर्म भाव से परिणमित होते हैं। इससे निश्चित होता है कि पुद्गल पिन्डों को कर्म रूप करने वाले आत्मा नहीं हैं।

भावार्थ—कर्म रूप पुद्गल पीण्ड का आत्मा उपादान कर्ता नहीं है केवल निमित्त कर्ता है।

पुण्य - पाप और धर्म का स्वरूप

वीत राग तथा सराग चारित्र का फल

संपज्जदि णिव्वाणं देवा सुरमणुयराय विहवेहिं।
जीवस्स चरितादो दंसणणाण प्पहाणादो ।।४१९।।प्र.

अर्थ—जीव को दर्शन ज्ञान प्रधान चारित्र से देवेन्द्र असुरेन्द्र और नरेन्द्र के वैभवों के साथ निर्वाण प्राप्त होता है।

टीका—दशन ज्ञान चारित्र से, यदि वह (चारित्र) वीतराग हो तो मोक्ष प्राप्त होता है, और उससे ही, यदि वह सराग हो, तो देवेन्द्र-अशुरेन्द्र-नरेन्द्र के वैभव क्लेश रूप बन्ध ही प्राप्ति होती है। इसलिये मुमुक्ष को इष्ट फल वाला होने से वीतराग चारित्र ग्रहण करने योग्य (उपादेय) है और अनिष्ट फल वाला होने से सराग चारित्र त्यागने योग्य (हेय) है।

धर्म का स्वरूप

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।।४२०।।

अर्थ—चारित्र वास्तव में धर्म है। जो धर्म है सो साम्य है ऐसा (शास्त्रों में) कहा है। साम्य मोह क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम है।

टीका—स्वरूप में चरण करना सो चारित्र है। स्वसमय में प्रवृति करना इसका अर्थ है। यही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है। शुद्ध चैतन्य का प्रकाश करना यह उसी का अर्थ है। वही यथावस्थित आत्मगुण होने से साम्य है। और साम्य दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय के उदय से उत्पन्न होने वाले समस्त मोह और क्षोभ के अभाव के कारण अत्यन्त निर्विकार ऐसा जीव का परिणाम है।

धर्म आत्मा की ही पर्याय है।

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥४२१॥ प्र.

अर्थ—द्रव्य जिस समय जिस भाव रूप से परिणमन करता है उस समय उस मय है ऐसा (जिनेन्द्र देव ने) कहा है। इसलिये धर्म परिणत आत्मा को धर्म समझना चाहिए।

टीका—वास्तव में जो द्रव्य जिस समय जिस भाव रूप से परिणमन करता है वह द्रव्य उस समय उष्णता से रूप परिणमित लोहे के गोले के भाँति उस समय है, इसलिये यह आत्मा धर्म रूप परिणमित होने से धर्म ही है। इस प्रकार आत्मा की चारित्रता सिद्ध हुई।

धर्म का स्वरूप

पूयादिं सु वयं सहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं ।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥४२२॥

अर्थ—जिन शासन में जिनेन्द देव ने व्रत सहित पूजादि के भाव को पुण्य कहा है। मोह और क्षोभ (राग द्वेष) से रहित जो आत्मा का परिणाम है, सो धर्म है।

चरित्र ही आत्म धर्म है

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो ।
सो राग रोस रहिओ जीवस्स अणण्ण परिणामो ॥४१३॥अ

अर्थ—चारित्र ही आत्म धर्म है वह धर्म साम्यभाव स्वरूप है वह साम्यभाव रागद्वेष रहित आत्मा का अनन्य परिणाम है ।

चारित्र का स्वरूप

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्ण पावाणं ।
तं चारितं भणियं अवियप्पं कम्म रहिएहिं ॥४२४॥अ.

अर्थ—सम्यग् ज्ञानी, पुण्य तथा पाप भाव इन दोनों का त्याग करे सो चारित्र है, वह निर्विकल्प प्रवृति रूप क्रिया के विकल्प रहित है ।

चारित्र ही रत्नत्रय है ।

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेय ।
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्ण पावाणं ॥४२५॥अ.

अर्थ—जो जाने सो ज्ञान जो देखे सो दर्शन और पुण्य पाप भाव का त्याग सो चारित्र (इसी का नाम रत्नत्रय) कहा गया है ।

णिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य ।
सत्तूणं चेव बंधूणं चारित्तं समभावदो ॥४२६॥अ.

अर्थ—निंदा, प्रशंसा, सुख, दुख (इष्ट, वियोग, अनिष्ट संयोग) में तथा शत्रु मित्र में जो साम्य भाव है । वही साम्य भाव चारित्र कहा गया है ।

शुभ अशुभ भाव का भेद

परिणामादो वंधो परिणामो रागदोस मोहजुदो ।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥४२७॥प्र०

अर्थ—परिणाम से बंध है (जो) परिणाम राग द्वेष मोह युक्त है। उनमें से मोह और द्वेष अशुभ है और राग शुभ अथवा अशुभ है।

भावार्थ—धर्मानुराग शुभ है और विषयानुराग अशुभ है।

सुह परिणामो पुण्णं असुहो पाव त्ति भणियमण्णेसु ।
परिणामो ण्ण ण्णगदो दुक्खक्खय कारणं समये ॥४२८॥

अर्थ—परके प्रति शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है ऐसा कहा है जो दूसरे के प्रति प्रवर्तमान नहीं है ऐसा परिणाम समय पर दुख क्षय का कारण है।

भाव तीन प्रकार हैं।

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेवणायव्वं ।
असुहं च अट्टरूद्दं सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं ॥४२९॥

अर्थ—जिन वर देव ने भाव तीव प्रकार के कहे हैं शुभ अशुभ और शुद्ध। वहां अशुभ तो आर्त ध्यान रौद्र ध्यान है और शुभ धर्म ध्यान (व्यवहार) है।

सुद्धं सुद्ध सहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं ।
इदि जिणवरे हिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥४३०॥

अर्थ—आत्मा में आत्मा के शुद्ध स्वभाव को जानना सो

शुद्ध भाव है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। उसमें जो भाव कल्याणकारी हो उसको स्वीकार करो।

जीव का शुभ अशुभ और शुद्धत्व परिणाम

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणाम सब्भावो ।।४३१।।प्र.

अर्थ—जीव परिणाम स्वभावी होने से जब शुभ या अशुभ भाव रूप परिणमन करता है तब वह शुभ या अशुभ (स्वयं ही) होता है। और जब शुद्ध भाव रूप परिणमन करता है तब शुद्ध होता है।

टीका—जब यह आत्मा शुभ या अशुभ राग भाव से परिणामित होता है तब जवा कुसुम या तमाल पुष्प के लाल या काले रंग रूप परिणमित स्फटिक की भाँति, परिणाम स्वभाव होने से शुभ या अशुभ होता है! और जब वह शुद्ध अराग भाव से परिणमित होता है तब शुद्ध अराग परिणत स्फटिक की भांति परिणाम स्वभाव होने से शुद्ध होता है। इस प्रकार जीव का शुभत्व अशुभत्व और शुद्धत्व सिद्ध हुआ।

परिणाम वस्तु का स्वभाव है।

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
दव्वगुण पज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वतो ।।४३२।।प्र.

अर्थ—इस लोक में परिणाम के बिना पदार्थ नहीं है पदार्थ के बिना परिणाम नहीं है पदार्थ द्रव्य गुण पर्याय में रहने वाला और (उत्पाद, व्यय ध्रौव्य मय) अस्तित्व से बना हुआ है।

टीका--परिणाम के बिना वस्तु अस्तित्व धारण नहीं करती, क्योंकि वस्तु द्रव्य आदि के द्वारा परिणाम से भिन्न अनुभव में नहीं आती, क्योंकि (१) परिणाम रहित वस्तु गधे के सींग समान है। (२) तथा उसका दिखाई देने वाले गोरस इत्यादि (दूध, दही इत्यादि) के परिणामों के साथ विरोध आता है। वस्तु के बिना परिणाम भी अस्तित्व को धारण नहीं करता क्योंकि स्वाश्रयभूत वस्तु के अभाव में निराश्रय परिणाम को शून्यता का प्रसंग आता है। और वस्तु तो उद्र्ध्वता सामान्य स्वरूप द्रव्य में, सहभावी विशेष स्वरूप गुणों में तथा क्रम भावी विशेष स्वरूप पर्यायों में रही हुई उत्पाद व्यय ध्रौव्य मय अस्तित्व से बनी हुई है, इसलिये वस्तु परिणाम स्वभाव वाली है।

शुद्ध और शुभ परिणाम का फल है।

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोग जुदो
पावदि णिव्वाण सुहं सुहो वजुत्तो व सग्ग सुहं ॥४३॥प्र.

अर्थ--धर्म से परिणमित स्वरूप वाला आत्मा यदि शुद्ध उपयोग में युक्त हो तो मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। और यदि शुभ उपयोग वाला हो तो स्वर्ग सुख को प्राप्त करता है।

टीका—जब यह आत्मा धर्म परिणत स्वभाव वाला होता हुआ शुद्धोपयोग परिणति को धारण करता है बनाये रखता है, तब जो विरोधी शक्ति से रहित होने के कारण अपना कार्य करने के लिये समर्थ है ऐसा चारित्रवान होने से साक्षात् मोक्ष को प्राप्त करता है, और जब वह धर्म परिणत स्वभाव वाला होने पर भी शुभोपयोग परिणति के साथ युक्त होता है, तब जो विरोधी शक्ति सहित होने से स्वकार्य करने में असमर्थ है क्योंकि कथंचित विरुद्ध कार्य करने वाला है ऐसे चारित्र से युक्त होने से, जैसे

अग्नि से गर्म किया हुआ घी किसी मनुष्य के ऊपर डाल दिया जावे तो वह उसकी जलने से दुखी होता है, उसी प्रकार यह स्वर्ग सुख के वन्ध को प्राप्त होता है इसलिये शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है।

अशुभ परिणाम का फल

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्ख सहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमदि अच्चंतं ॥४३४॥ प्र.

अर्थ—अशुभ उदय से आत्मा कुमनुष्य, तिर्यंच और नारकी होकर हजारों दुखों से सदा पीड़ित होता हुआ (संसार में) अत्यन्त भ्रमण करता है।

टीका—जब यह आत्मा किंचित मात्र भी धर्म परिणति को न प्राप्त करता हुआ अशुभोपयोग परिणति का अवलम्बन करता है तब वह कुमनुष्य तिर्यंच और नारकी के रूप में परिभ्रमण करता हुआ हजारों दुखों के बन्धन का अनुभव करता है इसलिये चारित्र के लेश मात्र का भी अभाव होने से यह अशुभोपयोग अत्यन्त हेय है।

शुद्धोपयोग का फल

अइसयमाद समुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्ध,वओगप्प सिद्धाणं ॥४३५॥प्र.

अर्थ—शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओं का सुख अतिशय आत्मोपन्न विषयातीत अनुपम अनन्त और अविच्छिन्न है।

टीका—(१) अनादि संसार से जो पहले कभी अनुभव में नहीं आया ऐसे अपूर्व परम अद्भुत आह्लाद रूप से "अतिशय"

(२) आत्मा का ही आश्रय लेकर प्रवर्तमान होने से "आत्मोत्पन्न" (३) पराश्रय से निरपेक्ष होने से "विषयातीत" (४) अत्यन्त विलक्षण होने से "अनुपम" (५) समस्त आगामी काल में कभी भी नाश को प्राप्त न होने से "अनन्त" और (६) बिना ही अन्तर के प्रवर्तमान होने से "अविच्छिन्न" सुख शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुये आत्माओं के होता है इसलिये वह सर्वथा प्रार्थनीय है।

शुद्धोपयोगी का लक्षण

सुविदिदपयत्थ सुत्तो संजमतव संजुदो विगदरागो
समणो समसुह दुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥४३६॥

अर्थ—जिन्होंने (निज शुद्धात्मादि) पदार्थों को और सूत्रो को भलि भाँति जान लिया है, जो संयम और तपयुक्त हैं, जो वीतराग अर्थात् राग रहित और जिन्हें सुख दुख समान हैं ऐसे श्रमण को शुद्धोपयोगी कहा गया है।

टीका—सूत्रों के अर्थ ज्ञान वल से स्वद्रव्य और पर द्रव्य के विभाग के परिज्ञान में श्रद्धान में और विधान में समर्थ होने से जो श्रमण पर पदार्थों को और सूत्रों को जिन्होंने भलिभाँति जान लिया है, ऐसे है समस्त छह जीव निकाय के हनन के विकल्प से और पंचेन्द्रिय सम्बन्धी अभिलाषा के विकल्प से आत्मा को व्यावृत (रोककर) करके आत्मा का शुद्ध स्वरूप में संयमान करने से, और स्वरूप विश्रान्त निस्तरंग चैतन्य प्रतपन होने से जो संयम और तपयुक्त है सकल मोहनीय के विपाक से भेद की भावना की उत्कृष्टता से निर्विकार आत्म स्वरूप को प्रगट किया होने से जो वीतराग है और परम कला के अवलोकन के कारण

साता वेदनीय और असाता वेदनीय के विपाक से उत्पन्न होने वाले जो सुख दुःख उन सुख दुःख जनित परिणामों की विषमता का अनुभव नहीं होने से जो सम सुख दुख है ऐसा श्रमण के शुद्धोपयोगी कहलाते हैं।

णिग्गंथ मोहमुक्का बावीस परिमहा जि य कसाया।
पापारंभ विमुक्का ते गहिया मोक्ख मग्गम्मि ॥४३७॥अ.

अर्थ—मुनिराज निग्रन्थ हैं बाह्य तथा अभ्यंतर परिग्रह से रहित है, मोहरूपी मिथ्यात्वभाव से रहित, बाईस परिसह को, क्रोधादि कषाय को जीत लिया है, जिनके समस्त पापरम्भ छूट गये हैं। ऐसे मुनि को मोक्षमार्गी कहा जाता है।

शुद्धोपयोगी मुनिराज

अजधाचार विजुत्तो जधत्थ पदणिच्छिदो पसंतप्पा।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्ण सामण्णो ॥४३८॥प्र

अर्थ—जो यथार्थ तया पदार्थों तथा अर्थों का निश्चय वाला होने से प्रशान्तात्मा है। और अयथाचार रहित है वह सम्पूर्ण श्रामण्य वाला जीव अफल (कर्मफल रहित हुए) इस संसार में चिरकाल तक नहीं रहता (अल्पकाल में ही मुक्त होता है)।

अर्थ—जो श्रमण त्रिलोक की चुलिका के समान निर्मल विवेक रूपी दीपिका के प्रकाश वाला होने से यथास्थित पदार्थ निश्चय से उत्सुकता को दूर करके स्वरूप मंथर रहने से संतत "उपशांतात्मा" वर्तता हुआ स्वरूप में एक में ही अभिमुख तया विचरित (क्रीडा करता) होने से अयथाचार रहित वर्तता हुआ

नित्य ज्ञानी हो, वास्तव में उस सम्पूर्ण श्रामण्य वाले साक्षात श्रमण को (मोक्षतत्व) शुद्धोपयोगी जानना क्योंकि पहले के सकल कर्मों के फल उसने लीलामात्र से नष्ट कर दिया है इसलिये वह नूतन कर्मफल को उत्पन्न नहीं करता इसलिये पुनः प्राण धारण रूप दीनता को प्राप्त न होता हुआ द्वितीय भावरूप परावर्तने के अभाव के कारण शुद्ध स्वभाव में अवस्थित वृत्ति वाला रहता है।

शुद्ध का लक्षण

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं वहित्थ मज्झत्थं ।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्ध त्ति णिदिट्ठा ॥४३१॥प्र

अर्थ—सम्यक पदार्थों के जानते हुए जो बहिरंग तथा अन्तरंग परिग्रह को छोड़कर विषयों में आशक्त नहीं हैं वे शुद्ध कहे गये हैं।

टीका—अनेकान्त के द्वारा सफल ज्ञातृतत्व और ज्ञेयतत्त्व के यथा स्थित स्वरूप में जो प्रवीण है, अन्तरंग में चकचकित होते हुए अनन्तशक्ति वाले चैतन्य से भास्वर आत्मतत्त्व के स्वरूप को जिनने समस्त बहिरंग तथा अन्तरंग संगति के परित्याग से विविक्त किया है, और (इसलिये) अन्तःतत्व की वृत्ति (आत्मा की परिणति) स्वरूप गुप्त तथा सुषुप्त समान (प्रशांत) रहने से जो विषयों में किंचित भी आशक्ति को प्राप्त नहीं होते ऐसे जो सकल महिमावान भगवन्त शुद्ध (शुद्धोपयोगी) हैं उन्हें ही मोक्षतत्व का साधन तत्व जानना क्योंकि वे अनादि संसार से रचित विकट कर्म कपाट को तोड़ने–खोलने के अति उग्र प्रयत्न से पराक्रम प्रगट कर रहे हैं।

केवल ज्ञान की प्राप्ति का कारण

उवओग विशुद्धो जो विगदावरणंतराय मोहरओ।
भूदो सयमेवादा जादि पारं णेण भूदाणं ॥४४०॥प्र.

अर्थ—जो (शुद्धोपयोगी) उपयोग विशुद्ध है वह आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोह रूप रज से रहित स्वयमेव होता हुआ ज्ञेय भूत पदार्थों के पार को प्राप्त होता है।

टीका—जो आत्मा चैतन्य परिणाम स्वरूप उपयोग के द्वारा यथाशक्ति विशुद्ध होकर वर्त्तता है, वह (आत्मा) जिसे पद-पद पर विशिष्ट विशुद्धि शक्ति प्रगट हो जाती है, ऐसा होने से, अनादि संसार से बंधी हुई दृढ़तर मोह ग्रन्थि छूट जाने से अत्यन्त निर्विकार चैतन्य वाला और समस्त ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय के नष्ट हो जाने से निर्विघ्न विकसित आत्म शक्तिवान स्वयमेव होता हुआ ज्ञेयता को प्राप्त (पदार्थों) के अन्त को पा लेता हैं।

यहाँ आत्मा ज्ञान स्वभाव है और ज्ञान (स्व) ज्ञेय प्रमाण है, इसलिये समस्त ज्ञेयों के भीतर प्रवेश को प्राप्त (ज्ञाता) ज्ञान जिसका स्वभाव है ऐसे आत्मा को आत्मा शुद्धोपयोग के ही प्रसाद से प्राप्त करता है।

केवल ज्ञानी परम सुखी है ऐसा नहीं मानता वह अभव्य है

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगद घादीणं।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥४४१॥

अर्थ—जिनके घाति कर्म नष्ट हो गये हैं, उनका सुख (सर्व) सुखों में उत्कृष्ट है यह सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते वे (आत्मा)

अभव्य है और भव्य उसे स्वीकार करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं।

स्वसमय परसमय का स्वरूप

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥४४२॥

अर्थ—जो जीव पर्यायों में लीन है उन्हें पर समय कहा गया है, जो जीव आत्म स्वभाव में स्थित है वे स्वसमय जानने।

टीका—जो जीव पुद्गलात्मक असमान जाती द्रव्य पर्याय का, जो कि सकल अविद्या की एक जड़ है उसका आश्रय करते हुए यथोक्त आत्मस्वभाव की सम्भावना (मान्यता) करने में नपुंसक होने से उसी में बल धारण करते हैं जिनकी निरर्गल एकान्त दृष्टि उछलती है ऐसे "यह मैं मनुष्य ही हूँ मेरा यह मनुष्य शरीर है" इस प्रकार अहंकार ममकार से ठगाये जाते हुए अविचलित चेतना विलासमात्र आत्म व्यवहार से च्युत होकर जिसमें समस्त क्रिया कलाप को छाती से लगाया जाता है ऐसे मनुष्य व्यवहार का आश्रय करके रागी द्वेषी होते हुए पर द्रव्य रूप कर्म के साथ संगतता के कारण वास्तव में पर समय होते हैं अर्थात् पर समय रूप परिणमित होते हैं।

और जो असंकीर्ण (स्पष्टतया भिन्न) द्रव्य गुण पर्यायों से सुस्थित भगवान आत्मा के स्वभाव का जो कि सकल विद्याओं का एक मूल है उसका आश्रय करके यथोक्त आत्म स्वभाव की सम्भावना में समर्थ होने से पर्याय मात्र प्रति के बल को दूर करके आत्मा के स्वभाव में ही स्थित करते हैं (लीन होते हैं) वे जिन्होंने सहज विकसित अनेकान्त दृष्टि से समस्त एकान्त दृष्टि के परिग्रह के आग्रह प्रक्षीण कर दिये हैं ऐसे मनुष्यादि

गतियों में और उन गतियों के शरीरों में अहंकार ममकार न करके अनेक कक्षों में संचारित रत्नदीपक की भांति एक रूप ही आत्मा को उपलब्ध करते हुए अविचलित चेतना विलासमात्र आत्म व्यवहार को अंगीकार करके जिसमें समस्त क्रियाकलाप से भेंट की जाती है ऐसे मनुष्य व्यवहार का आश्रय नहीं करते हुए रागद्वेष का उन्मेष (प्राकट्य) रूप जाने से परम उदासीनता का आलम्बन लेते हुए समस्त पर द्रव्यों की संगति दूर कर देने से मात्र स्वद्रव्य के साथ ही संगतता होने से वास्तव में स्वसमय होते हैं अथवा स्व समय रूप परिणमित होते हैं।

पर समय का स्वरूप

अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्ध संपओगादो ।
हवदि त्ति दुक्खमोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो ॥४४३॥पं

अर्थ—शुद्ध संप्रयोग से दुःख मोक्ष होता है ऐसा यदि अज्ञान कारण ज्ञानी माने तो वह पर समय रत जीव है।

टीका—यह सूक्ष्म पर समय के स्वरूप का कथन है।

सिद्धि के साधन भूत ऐसे अर्हंतादि भगवन्तो के प्रति भक्ति भाव से अनुरंजित चितवृत्ति वह यहाँ "शुद्ध संप्रयोग" कहा है। अब अज्ञान लव के आवेश से यदि ज्ञानवान भी "उस शुद्ध संप्रयोग से मोक्ष होता है" ऐसे अभिप्राय द्वारा खेद प्राप्त करता हुआ उसमें प्रवर्ते तो तब तक वह भी राग लव के सद्भाव के कारण पर समय रत कहलाता है। तो फिर निरंकुश राग रूप क्लेश से कलंकित ऐसी अन्तरंग वृत्ति वाला इतर जन क्या पर समय रत नहीं कहलायेगा? (अवश्य कहलायेगा)

भावार्थ—जिस जीव ही ऐसी मान्यता है कि अर्हंतादि

भगवन्तों की भक्ति मोक्ष का कारण है तब तक वह जीव पर समयरत (मिथ्यादृष्टि) है। जहाँ मोक्षमार्ग में धर्मानुराग निषेध है वहाँ पापानुराग की तो कथा ही नहीं है अर्थात् हिंसा से मोक्ष मानना वह तो स्थूल मिथ्यादृष्टि ही है इसमें सन्देह नही है।

पर चारित्र का स्वरूप

जो परदव्वम्मि सुहं असुहं रागेण कुणदि जदि भावं।
सो सगचरित्त भट्ठो परचरियचरो हवदि जीवो ॥४४॥पं

अर्थ—जो राग से पर द्रव्य में शुभ वा अशुभ भाव करता है, वह जीव स्वचारित्र भ्रष्ट ऐसा परचारित्र का आचरण करने वाला है।

टीका—जो जीव वास्तव में मोहनीय (कर्म) के उदय का अनुकरण करने वाली परिणति के वश रंजित उपयोग वाला वर्तता हुआ पर द्रव्य में शुभ वा अशुभ भाव को धारण करता है वह जीव स्वचारित्र से भ्रष्ट ऐसा परचारित्र का आचरण करने वाला कहा जाता है, क्योंकि वास्तव में स्वद्रव्य में शुद्ध उपयोग रूप परिणति वह स्वचारित्र है पर द्रव्य में सोपराग-उपयोग रूप परिणति वह परचारित्र है।

परचारित्र बंध मार्ग है।

आसवदि जेण पुण्णं पावं वा अप्पणोध भावेण।
सो तेण पर चरित्तो हवदि त्ति जिणा परुवंति ॥४५॥

अर्थ—जिस भाव से आत्मा को पुन्य तथा पाप आस्रवित होते हैं उस भाव द्वारा वह जीव पर चारित्र हैं ऐसा जिन प्ररुपित कहते हैं।

टीका—यहाँ पर चारित्र प्रवृति बन्ध हेतुभूत होने से उसे मोक्ष मार्ग पनेका निषेध किया गया है।

यहाँ वास्तव में शुभोपरक्त भाव वह पुन्यास्रव है। और अशुभोपरक्त भाव पापास्रव है। वहाँ पुण्य अथवा पाव जिस भाव आस्रवित होता है। वह भाव जब जिस जीव को होता है। तब वह जीव उस भाव द्वारा पर चारित्र है ऐसा (जिनेन्द्रों द्वारा) प्ररुपित किया जाता है। इसलिये पर चारित्र में प्रवृति सो बन्ध मार्ग ही है मोक्ष मार्ग नहीं है।

स्वचारित्र और परचारित्र

जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओध पर समओ।
जदि कुणदि सगं समयं पब्भस्सदि कम्म बंधादो ॥४४६॥

अर्थ—जीव (द्रव्य अपेक्षा से) स्वभाव नियत होने पर भी यदि अनियत गुण पर्याय वाला हो तो परसमय है। यदि वह (नियतगुण पर्याय से परिणमित होकर) स्व-समय को करता है तो कर्म बन्धन से छूटता है।

टीका—संसारी जीव (द्रव्य अपेक्षा से) ज्ञान दर्शन में अवस्थित होने के कारण स्वभाव में नियत (निश्चल रूप से स्थित) होने पर भी जब अनादि मोहनीय कर्म के उदय का अनुः-सरण करके परिणति करने के कारण उपरक्त उपयोग वाला (अशुद्ध उपयोग रूप) होता है तब (स्वयं) भावों का विश्वरूप पना ग्रहण किया होने के कारण उसे जो अनियत गुण पर्याय पना होता है वह पर समय अर्थात् पर चारित्र है। वही (जीव) जब अनादि मोहनीय कर्म के उदय का अनुसरण करने वाली परिणति को छोड़कर अत्यन्त शुद्धोपयोग वाला होता है तब (स्वयं) भाव का एक रूप पना ग्रहण किया होने के कारण

उसे जो नियत गुण पर्याय पना होता है वह स्वसमय अर्थात् स्वचारित्र है।

अब वास्तव में यदि किसी भी प्रकार सम्यक्ज्ञान ज्योति प्रगट करके जीव पर समय को छोड़कर स्वसमय को ग्रहण करता है तो कर्म बन्धन से अवश्य छूटता है। इसलिये वास्तव में जीव स्वभाव में (स्थित) नियत चारित्र वह मोक्ष मार्ग है।

स्व चारित्र का स्वरूप

जो सव्वसंगमुक्को णण्णमजो अप्पणं सहावेण।
जाणदि पस्सदि णियदं सो सगचरियं चरदि जीवो॥

अर्थ—जो सर्व संग मुक्त और अनन्य मन वाला वर्तता हुआ आत्मा को (ज्ञायक) स्वभाव द्वारा नियत रूप से जानता देखता है वह जीव स्वचारित्र आचरता है।

टीका—जो जीव वास्तव में निरूपराग उपयोग वाला होने के कारण सर्व संग मुक्त वर्तता हुआ पर द्रव्य से व्यावृत उपयोग वाला होने के कारण अनन्य मन वाला वर्तता हुआ, आत्मा को ज्ञान दर्शन रूप स्वभाव द्वारा नियत रूप से अर्थात् अवस्थित रूप से जानता देखता है। वह जीव वास्तव में स्वचारित्र आचरता है। क्योंकि वास्तव में दृशी ज्ञप्ति स्वरूप पुरुष में (आत्मा में) तन्मात्र रूप से वर्तना सो स्वचारित्र है।

चरियं चरदि संग सो जो परदव्वप्प भावरहिदप्पा।
दंसणणाणवियप्पं अवियप्पं चरदि अप्पादो॥४४८॥ पं०

अर्थ—जो पर द्रव्यात्मक भावो से रहित स्वरूप वाला वर्तता हुआ (निजस्वभाव भूत) दर्शन ज्ञान रूप भेद को आत्मा से अभेद रूप आचरता है, वह स्वचारित्र को आचरता है।

टीका—यह शुद्ध स्वचारित्र के प्रवृत्ति के मार्ग का कथन है।

जो योगीन्द्र समस्त मोह व्यूह से बहिर्भूत होने के कारण पर द्रव्य के स्वभाव रूप भावों से रहित स्वरूप वाले वर्तते हुये स्वद्रव्य को एक को ही अभिमुख रूप से अनुसरते हुए निज स्वभाव भूत दर्शन ज्ञान भेद को भी आत्मा से अभेद रूप से आचरते हैं वे वास्तव में स्वचारित्र को आचरते हैं।

इस प्रकार वास्तव में शुद्ध द्रव्य के आश्रित अभिन्न साध्य साधन भाव वाले निश्चय नय के आश्रय से मोक्ष मार्ग का प्ररूपण किया गया। और जो पहले दर्शाया गया था वह स्व पर हेतुक पर्याय के आश्रित भिन्न साध्य साधन भाव वाले व्यवहार नय के आश्रय से प्ररूपित किया गया था इसमें परस्पर विरोध आता है ऐसा भी नहीं है क्योंकि सुवर्ण और सुवर्ण पाषाण की भांति निश्चय व्यवहार को साध्य साधन पना है। इसलिये पारमेश्वरी (जिन भगवान की) तीर्थ प्रवर्तना दोनों नयों के आधीन हैं।

भावार्थ—सुवर्ण पाषाण में पाषाण का अभाव करने से ही सुवर्ण की प्राप्ति होती है उसी प्रकार पुण्य भाव रूप पाषाण का अभाव करने से ही वीतराग भाव की प्राप्ति होती है। अर्थात व्यवहार का अभाव सो निश्चय की प्राप्ति है किन्तु व्यवहार करते करते निश्चय की प्राप्ति मानना भ्रम है वही मिथ्यात्व भाव है।

ज्ञेयार्थ परिणमन करनार आत्मा राग का ही अनुभव करते हैं।

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स।
णाणं ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममे वुत्ता ॥४४६॥ प्र:

अर्थ—ज्ञाता यदि ज्ञेय पदार्थ रूप परिणमन करता है उसके क्षायिक ज्ञान होता ही नहीं है जिनेन्द्र देवों ने उसे कर्म को ही अनुभव करने वाला कहा है।

टीका—यदि ज्ञाता ज्ञेय पदार्थ रूप परिणमित होता है तो उसे सकल कर्म वनके क्षय से प्रवर्तमान स्वाभाविक जानपना का कारण (क्षायिक ज्ञान) नहीं है। अथवा उसे ज्ञान ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ रूप से परिणति के द्वारा मृग तृष्णा में जल समूह की कल्पना करने की भावना वाला वह आत्मा अत्यन्त दुःसह कर्म भार को ही भोगता है ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है।

ज्ञेय से ज्ञेयान्तर राग से ही ऐता है।

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥४५०॥ प्र.

अर्थ—(संसारी जीव के) उदय प्राप्त कर्मांश (मोहनीयादि कर्म) नियम से जिनवर वृषभों ने कहे हैं। (जीव) उन कर्मांशों के होने पर मोही रागी अथवा द्वेषी होता हुआ बन्ध का अनुभव करता है।

टीका—प्रथम तो संसारी जीव के नियम से उदय गत पुद्गल कर्मांश होते हैं। और वह संसारी जीव उन उदय गत कर्मांशों के अस्तित्व में चेतते जानते अनुभव करते हुए मोह राग द्वेष में ही परिणत होने से ज्ञेय पदार्थों में परिणमन जिसका लक्षण है ऐसी (ज्ञेयार्थ परिणमन स्वरूप) क्रिया के साथ युक्त होता है। और इसलिये क्रिया के फल भूत बन्ध का

अनुभव करता है। इससे (यह कहा है कि) मोह के उदय से ही क्रिया और क्रिया फल होता है ज्ञान से नहीं।

मोक्ष मार्ग का स्वरूप

मोक्ष मार्ग का कारण

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोस परिहीणं।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं ॥४५१॥ प.

अर्थ—सम्यकत्व और ज्ञान से संयुक्त ऐसा चारित्र जो कि राग द्वेष से रहित हो वह लब्ध बुद्धि भव्य जीवों को मोक्ष का मार्ग होता है।

टीका—प्रथम मोक्ष मार्ग की यह सूचना है।

सम्यकत्व और ज्ञान से ही युक्त न कि असम्यकत्व और अज्ञान से संयुक्त, चारित्र ही न कि अचारित्र, रागद्वेष रहित ही ऐसा ही (चारित्र) न कि रागद्वेष सहित हो ऐसा, मोक्ष का ही, भावतः न कि बन्ध का, मार्ग ही, न कि अमार्ग, भव्यों को ही न कि अभव्यों को, लब्ध बुद्धियों को ही, न कि अलब्ध बुद्धियों को, क्षीण कषायपने में ही होता है, न कि कषायपने में होता है। इस प्रकार आठ प्रकार से नियम यहाँ देखना।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का स्वरूप

सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढ़मग्गाणं ॥४५२॥पं.

अर्थ—भावों का (नव पदार्थों का) श्रद्धान वह सम्यक्त्व है, उनका अवबोध वह ज्ञान है (निज तत्त्व में) जिनका मार्ग विशेष रूढ़ हुआ है उन्हें विषयों के प्रति वर्तता हुआ समभाव वह चारित्र है।

टीका—काल सहित पंचास्तिकाय के भेद रूप नव पदार्थ वे वास्तव में "भाव" है। उन "भावों का" मिथ्यादर्शन के उदय से प्राप्त होने वाला जो अश्रद्धान उसके अभाव स्वभाव वाला जो भावान्तर श्रद्धान (अर्थात् नव पदार्थों का श्रद्धान) वह सम्यग्दर्शन है, जोकि (सम्यग्दर्शन) शुद्ध चैतन्य रूप आत्मतत्त्व के विनिश्चय का बीज है। नौका गमन के संस्कार की भांति मिथ्या दर्शन के उदय के कारण जो स्वरूप विपर्यय पूर्वक अध्यवसित होते हैं, ऐसे उन भावों का ही मिथ्यादर्शन के उदय की निवृत्ति होने पर जो सम्यक अध्यवसाय होना वह सम्यक ज्ञान है जोकि, कुछ अंशों में ज्ञान चेतना प्रधान आत्म तत्व की उपलब्धि का बीज हैं। सम्यग्दर्शन और सम्या ज्ञान के सद्भाव के कारण समस्त अमार्गों से छूट कर जो स्वतत्व में विशेष रूप से रूढ मार्ग वाले हुए हैं उन्हें इन्द्रिय और मन के विषय भूत पदार्थों के प्रति रागद्वेष पूर्वक विकार के अभाव के कारण जो निर्विकार ज्ञान स्वभाव वाला समभाव होता है वह चारित्र है जोकि उस काल में और आगामी काल में रमणीय है और अपुनर्भव के (मोक्ष के) महा सौख्य का बीज है :

भावार्थ—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होते ही ज्ञान चेतना की प्रारिम्भकता (शुरुआत) हो जाती है वह ज्ञान चेतना बढ़ते २ बारहवें तेहरवें गुण स्थान में पूर्ण हो जाती है। ऐसा जिस जीव को ज्ञान श्रद्धान नहीं है वह जीव ज्ञान चेतना की प्राप्ति कभी भी नहीं कर सकता है। जितने अंश में भाव संवर भाव निर्जरा

है वही ज्ञान चेतना है और जितने अंश में बन्ध है वह कर्म चेतना है इस भाव का नाम मिश्र भाव है। चारित्र गुण चौथे गुण स्थान से प्रारंभ हो जाता है। वह मिश्र भाव दसवां गुणस्थान तक चला जाता है। ग्यारहवें गुण स्थान में चारित्र गुण का उपशम भाव है और बारहवाँ तेरहवाँ गुण स्थान में चारित्र गुण का क्षायिक भाव है वह पूर्ण ज्ञान चेतना है। वह ज्ञान चेतना का पूज्य पना छठवाँ सातवाँ गुणस्थान से होता है इसी अपेक्षा से छठा गुणस्थान से शुद्धोपयोग माना है, परन्तु शुद्धोपयोग के प्रारम्भ स्वरूपाचरण चारित्र से ही हो जाती है।

मोक्ष मार्ग

जीवाजीवविभत्ती जो जाणइ सो हवेई सण्णाणी।
रायादिदोसरहिओ जिण सासण मोक्खमग्गुत्ति।।४५३।। अ.

अर्थ—जो पुरुष जीव अजीव इनका भेद जाने सो सम्यक् ज्ञानी होता है रागादि दोषों से रहित हो उसे जिन शासन में मोक्ष मार्गी कहा है।

भावार्थ—मोक्ष मार्ग का प्रारम्भ अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव से ही होती है वह शुद्धता की कणिका बढ़ते २ बारहवें गुण स्थान में पूर्ण हो जाती हैं। चौदहवाँ गुण स्थान के प्रथम समय में आस्रव तत्व, बन्ध तत्व का अत्यन्त अभाव हो जाता है। संवर और भाव निर्जरा तत्व पूर्ण हो जाता है, केवल उसी समय आत्मा में दो ही तत्व हैं। १ जीव दूसरा अजीव तत्व। चौदहवें गुण स्थान के अन्त के समय में अजीव तत्व का अभाव होने से मोक्ष तत्व की प्राप्ति होती है वह मोक्ष तत्व परमार्थ से एक ही समय का है और सिद्ध परमात्मा में केवल एक जीव

तत्व रह गया कि जिसकी श्रद्धा चौथे गुणस्थान में सम्यदर्शन में हुई थी वह अखण्ड अनादि अनन्त गुण और अनन्तानन्त पर्याय का पुंज रूप अभेद जीवात्मा का स्वरूप है। वही मोक्षतत्व है। वह मोक्ष तत्व जयवंत वर्तो।

मोक्ष मार्ग के स्वरूप

जीव सहावं णाणं अप्पडिहददंसणं अणण्णमयं।
चरियं च तेसु णियदं अत्थित्तमणिंदियं भणियं ॥४५४॥पं.

अर्थ—जीव का स्वभाव ज्ञान और अप्रतिहत दर्शन है जो कि (जीव से) अनन्यमय है। उन ज्ञान दर्शन में नियत अस्तित्व जो कि अनिंदित है उसे (जिनेन्द्रों ने) चारित्र कहा है।

टीका--जीव स्वभाव में नियत चारित्र वह मोक्ष मार्ग है। जीव स्वभाव वास्तव में ज्ञान दर्शन है क्योंकि वे (जीव से) अनन्यमयपना होने के कारण यह है कि विशेष चैतन्य और सामान्य चैतन्य जिसका स्वभाव है ऐसे जीव से वे निष्पन्न हैं। अब जीव के स्वरूप भूत ऐसे उन ज्ञान दर्शन में नियत अवस्थित ऐसा जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप वृतिमय अस्तित्व जो कि रागादि परिणाम के अभाव के कारण अनिंदित है यह चारित्र हैं वही मोक्ष मार्ग है।

संसारियों में चारित्र वास्तव में दो प्रकार का है (१) स्वचारित्र (२) परचारित्र (१) स्वसमय (२) परसमय ऐसा अर्थ है। वहाँ स्वभाव में अवस्थित अस्तित्व स्वरूप (चारित्र) वह स्व चारित्र है और परभाव में अवस्थित अस्तित्व रूप (चारित्र) वह परचारित्र

है उनमें से (अर्थात् दो प्रकार के चारित्र में से) स्वभाव में अवस्थित अस्तित्व रूप चारित्र जोकि पर भाव में अवस्थित अस्तित्व से भिन्न होने के कारण अत्यन्त अनिंदित है वह यहाँ साक्षात मोक्ष मार्ग रूप अवधारना।

व्यवहार मोक्ष मार्ग

धम्मादी सद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चेट्ठा तवंहि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ॥४५५॥पं.

अर्थ—धर्मास्ति काय का श्रद्धान सो सम्यक्त्व, अगं पूर्व सम्बन्धी ज्ञान सो ज्ञान तप में चेष्टा सो चारित्र इस प्रकार व्यवहार मोक्ष मार्ग है।

टीका—निश्चय मोक्ष मार्ग के साधन रूप से पूर्वोद्दिष्ट व्यवहार मोक्ष मार्ग का यह निर्देश है।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र सो मोक्ष मार्ग है। वहाँ (छह) द्रव्य रूप और (नव) पदार्थ रूप जिनके भेद है ऐसे धर्मादि के तत्वार्थ श्रद्धान रूप भाव जिसका स्वभाव है ऐसा 'श्रद्धान" नाम का भाव विशेष सो सम्यक्त्व, तत्वार्थ श्रद्धान के सद्भाव में अंग पूर्व गत पदार्थों का अवबोधन सो ज्ञान। आचारादि सूत्रों द्वारा कहे गये अनेक विध मुनि आचारों के समस्त समुदाय रूप तप में चेष्टा सो चारित्र ऐसा यह स्व पर हेतुके पर्याय के आश्रित भिन्न साध्य साधन भाव वाले व्यवहार नय के आश्रय से अनुसरण किया जाने वाला मोक्ष मार्ग सुवर्ण पाषाण को लगाई जाने वाली प्रदीप्त अग्नि की भाँति समाहित अंतरंग वाले जीव को (जिसका अंतरंग एकाग्र समाधि प्राप्त हैं ऐसे जीव को) पद पद पर परम रम्य ऐसी ऊपर की शुद्ध भूमिकाओं में अभिन्न

विश्रांति (अभेद रूप स्थिरता) उत्पन्न करता है, यद्यपि उत्तम सुवर्ण की भांति शुद्ध जीव कथंचित भिन्न साध्य साधन भाव के अभाव के कारण स्वयं (अपने आप) शुद्ध स्वभाव से परिणमित होता है तथापि निश्चय मोक्ष मार्ग के साधन पने को प्राप्त होता है।

भावार्थ—सुवर्ण पाषाण को अग्नि के द्वारा जिस प्रकार शुद्ध किया जाता है अर्थात् जितने अंश में पाषाण का अभाव वह तो निश्चय सोना है और जितने अंश में पाषाण है उसको व्यवहार से सोना बोला जाता है इसी प्रकार जितने अंश में आत्मा में शुद्धता होती है इतने अंश में निश्चय मोक्ष मार्ग है और जितने अंश में अशुद्ध अर्थात् पुण्य भाव है उस पुण्य भाव को व्यवहार मोक्ष मार्ग बोला जाता है परमार्थ से वह पुण्य भाव रूपी मल मोक्ष मार्ग नहीं है।

निश्चय मोक्ष मार्ग

णिच्छयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ॥

अर्थ—जो आत्मा इन तीन द्वारा वास्तव में समाहित होता है अन्य कुछ भी करता नहीं है या छोड़ता नहीं है वह निश्चय नय से मोक्ष मार्ग कहा गया है।

टीका—व्यवहार मोक्ष मार्ग के साध्य रूप से निश्चय मोक्ष मार्ग यह कथन है।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र द्वारा समाहित हुआ आत्मा ही जीव स्वभाव में नियत चारित्र रूप होने के कारण निश्चय से मोक्ष मार्ग है।

अब यह आत्मा वास्तव में कथंचित् अनादि अविद्या के नाश द्वारा व्यवहार मोक्ष मार्ग को प्राप्त करता हुआ धर्मादि सम्बन्धी तत्त्वार्थ अश्रद्धान के अंग पूर्व गत पदार्थों सम्बन्धी अज्ञान के और अतप में चेष्टा के त्याग हेतु से तथा धर्मादि सम्बन्धी तत्त्वार्थ श्रद्धान के अंग पूर्व गत पदार्थों सम्बन्धी ज्ञान के और तप में चेष्टा के ग्रहण हेतु से (तीनों का त्याग हेतु तथा तीनों का ग्रहण हेतु) विविक्त भाव रूप व्यापार करता हुआ और, किसी कारण से ग्राह्य का त्याग हो जाने पर तथा त्याज्य का ग्रहण हो जाने पर उसके प्रति विधान का अभिप्राय करता हुआ, जिस काल और जितने काल तक विशिष्ट भावना सौष्टव के कारण स्वभाव भूत सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के साथ अंग अंगी भाव से परिणति द्वारा उनसे समाहित होकर, त्याग ग्रहण के, विकल्प से शून्य पने के कारण (भेदात्मक) भाव रूप व्यापार विराम को प्राप्त होने से सुनिष्कंप रूप से रहता है, उस काल और, उतने काल तक यही आत्मा जीव स्वभाव में नियत चारित्र रूप होने के कारण निश्चय मोक्ष मार्ग कहलाता है। इसलिए निश्चय मोक्ष मार्ग और व्यवहार मोक्ष मार्ग को साध्य साधनपना अत्यन्त घटित होता है।

भावार्थ—अनादि काल से जीव मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र में रमण करता है उनका त्याग करना और अनादि से सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का त्याग किया है उसको ग्रहण करना सो व्यवहार का त्याग निश्चय की प्राप्ति है, किन्तु धर्मानुराग करते करते मोक्ष हो जावे ऐसा साध्य साधन नहीं है किन्तु अभाव भाव का नाम साध्य और सम्यक भाव की प्राप्ति सो साधन ऐसे घटित होता है।

सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र का स्वरूप

जो चरदि णादि पेच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं ।
सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि ॥४५७॥पं

अर्थ—जो (आत्मा) अनन्यमय - आत्मा को आत्मा से आचरता है, जानता है, देखता है वही (आत्मा ही) चारित्र है ज्ञान है, दर्शन है ऐसा निश्चित है।

टीका—यह आत्मा के चारित्र ज्ञान दर्शनपने का प्रकाशन है।

जो (आत्मा) वास्तव में आत्मा को, जो कि आत्ममय, होने से अनन्यमय है उसे आत्मा से आचरता है, अर्थात् स्वभाव नियत अस्तित्त्व द्वारा अनुवर्तता हैं, आत्मा से जानता है, अर्थात् स्व पर प्रकाशक रूप से चेतता हैं, आत्मा से देखता है, अर्थात् यथा तथ रूप से अवलोकता हैं, वह आत्मा ही वास्तव में चारित्र है. ज्ञान है, दर्शन है ऐसा कर्ता करण कर्म आदि अभेद के कारण निश्चत है। इससे चारित्रज्ञान दर्शन रूप होने के कारण आत्मा को जीव स्वभाव नियत चारित्र जिसका लक्षण है ऐसा निश्चय मोक्षमार्ग पना अत्यन्त घटित होता है।

भावार्थ—आत्मा आत्मा में रमण करे सो चारित्र, ज्ञान ज्ञान को एवं अनन्त गुण और अनन्तानन्त पर्याय को जाने सो स्व पर प्रकाशक ज्ञान, और आत्मा अपने अनन्त गुण और और अनन्तानन्त पर्याय अभेद ज्ञायक रूप श्रद्धा करे सो सम्यग्दर्शन अभेद वस्तु है।

रत्नत्रय बन्ध का एवं मोक्ष का भी कारण है।

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि।
साधूहि इदं भणिदं तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ॥४५८॥पं

अर्थ—दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्ष मार्ग है इसलिये वे सेवन योग्य है, ऐसा साधुओं ने कहा है, परन्तु उनसे बन्ध भी होता है और मोक्ष भी होता है।

टीका—यहाँ दर्शन ज्ञान चारित्र का कथंचित् वन्ध हेतु पना दर्शाया है, और इस प्रकार जीव स्वभाव में स्थित चारित्र का साक्षात् मोक्ष हेतु पना प्रकाशित किया है।

यह दर्शन ज्ञान चारित्र यदि अल्प भी पर समय प्रवृत्ति के साथ मिलित हो तो, अग्नि के साथ मिलित घृत के भांति कथंचित् विरुद्ध कार्य के कारण पने की व्याप्ति के कारण बन्ध कारण भी है। और जब वे (दर्शन ज्ञान चारित्र) समस्त पर समय प्रवृत्ति से निवृत्ति रूप ऐसी स्व समय प्रवृत्ति के साथ संयुक्त होते हैं तब जिसे अग्नि के साथ का मिलत पना निवृत्त हुआ है ऐसे घृत की भांति विरूद्ध कार्य का कारण भाव निवृत्त हो गया होंने से साक्षात् मोक्ष कारणों ही है; इसलिये स्व समय प्रवृत्ति नाम का जो जीव स्वभाव में नियत चारित्र उसे साक्षत् मोक्ष मार्ग पना घटित होता है।

भावार्थ—वीतराग चारित्र का नाम निश्चय चारित्र है वही मोक्ष मार्ग है किन्तु निचली अवस्था में वीतराग चारित्र के साथ में जो भक्ति आदि पुण्य भाव है वह व्यवहार चारित्र है और पुण्य भाव रूप व्यवहार चारित्र वन्ध का ही साधक है मोक्ष का

बाधक ही है। वह व्यवहार चारित्र केवल नाम मात्र चारित्र है मोक्ष मार्ग में ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। किन्तु छोड़ने योग्य है हेय हैं।

आत्म स्वभाव ही मोक्ष मार्ग है।

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदू धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥४५६॥ अ.

अर्थ—जो आत्मा आत्मा में रत है, रागादि समस्त दोषो के समूह से रहित संसार समुद्र से तिरने का कारण स्वरूप धर्म है। ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

मोक्ष मार्ग एक ही है।

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥४६०॥स.

अर्थ—आत्मा का तत्व दर्शन ज्ञान चारित्र त्रयात्मक है इसलिये मोक्ष के इच्छुक पुरुष को (यह दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप) मोक्ष मार्ग एक ही सदा सेवन करने योग्य है।

लिंग मोक्ष मार्ग नहीं है।

ण वि एस मोक्खमग्गो पासंडीगिहिमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥४६१॥

अर्थ—मुनियों और ग्रहस्थ के लिंग (बाह्य चिन्ह) यह मोक्ष मार्ग नहीं है। दर्शन ज्ञान चारित्र को जिन देव मोक्ष मार्ग कहते हैं।

टीका— द्रव्य लिंग वास्तव में मोक्ष मार्ग नहीं है क्योंकि वह (नग्नता) शरीराश्रित होने से पर द्रव्य है। दर्शन ज्ञान चारित्र ही मोक्ष मार्ग है क्योंकि व आत्माश्रित होने से स्वद्रव्य है।

आत्मा का ध्यान - ज्ञान और रमणता ही मोक्षमार्ग है।

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४६२॥स.

अर्थ—हे भव्य ! तू मोक्ष मार्ग में अपने आत्मा को स्थापित कर उसी का ध्यान कर उसी को चेत अनुभव कर और उसमें निरंतर विहार कर अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

टीका—(हे भव्य) स्वयं अर्थात् अपना आत्मा अनादि संसार से लेकर अपनी प्रज्ञा के (बुद्धि के) दोष से पर द्रव्य में राग द्वेषादि में निरंतर स्थित रहता हुआ भी अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही उसमें से पीछे हटा कर उसे अति निश्चलता पूर्वक ज्ञान दर्शन चारित्र में निरंतर स्थापित कर, तथा समस्त अन्य चिन्ता के विरोध द्वारा अत्यन्त एकाग्र होकर दर्शन ज्ञान चारित्र का ही ध्यान कर, तथा समस्त कर्म चेतना और कर्म फल चेतना के त्याग द्वारा शुद्ध ज्ञान चेतना मय होकर दर्शन ज्ञान चारित्र को ही चेत अनुभव कर, तथा द्रव्य के स्वभाव के वश से (अपने को) प्रतिक्षण जो परिणाम उत्पन्न होते हैं उनके द्वारा (अर्थात् परिणामी पने के द्वारा) तन्मय परिणाम वाला होकर दर्शन ज्ञान चारित्र में ही विहार कर, तथा ज्ञान रूप को एक को ही अचल तथा अवलम्बन करता हुआ, जो ज्ञेय रूप होने से उपाधि स्वरूप है ऐसे सर्व ओर से फैलते हुए समस्त पर द्रव्यों में किंचित मात्र भी विहार मत कर।

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यान्तराण्य स्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति ॥४६३॥

अर्थ—दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप जो यह एक नियत मोक्ष मार्ग है उसी में जो पुरुष स्थिति प्राप्त करता है अर्थात् स्थित रहता है, उसी का निरंतर ध्यान करता है, उसी का अनुभव करता है, और अन्य द्रव्यों को स्पर्श न करता हुआ उसमें निरंतर विहार करता है वह पुरुष जिसका उदय नित्य रहता हैं, ऐसे समय के सार को (अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को) अल्प काल में ही अवश्य प्राप्त करता है अर्थात् उसका अनुभव करता है ।

देह का लिंग मोक्ष कारण नहीं है !

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिंगं मोक्षकारणं ॥४६४॥क

अर्थ—इस प्रकार शुद्ध ज्ञान के देह ही नहीं हैं इसलिये ज्ञाता को देहमय चिन्ह मोक्ष का कारण नहीं है ।

पासडी लिंगाणि व गिहिलिंगाणि वबहुप्पयाराणि ।
घित्तु वादंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ॥४६५॥स.
ण दु होइ मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा ।
लिंगं मुचित्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति ॥४६६॥स

अर्थ—बहुत प्रकार के मुनि लिंग को अथवा गृही लिंग को

ग्रहण करके मूढ (अज्ञानी) जान यह कहते हैं कि यह लिंग मोक्ष मार्ग है।

परन्तु लिंग मोक्ष मार्ग नहीं है क्योंकि अर्हन्त देव ने देह के प्रति निर्ममत्व वर्तते हुये लिंग को छोड़कर दर्शन ज्ञान चारित्र का ही सेवन करते हैं।

बाह्य वेस में-नग्नता में ममता करता है यह मूढ है।

पासंडी लिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंत्ति जे ममत्तं तेहिं ण णायं समयसारं ॥४६७॥स

अर्थ—जो बहुत प्रकार के मुनि लिंगों में अथवा गृहस्थ लिंगों में ममता करते हैं (अर्थात् यह मानते हैं कि यह द्रव्य लिंग ही मोक्ष का दाता है) उन्होंने समय सार को नहीं जाना।

टीका—जो वास्तव में "मैं श्रमण हूँ, मैं श्रमणो पासक हूँ", इस प्रकार द्रव्य लिंग में ममत्व भाव के द्वारा मिथ्या अहकार करते हैं, वे अनादि रूढ व्यवहार में मूढ (मोही) होते हुये, पौढ़ विवेक वाले निश्चय (निश्चय नय) पर आरूढ न होते हुये परमार्थ सत्य भगवान समय सार को नहीं देखते अनुभव नहीं करते।

य त्वेनं परिहृत्य संवृत्तिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिंगे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः।
नित्योद्योतमखंडमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यंति ते ॥४६७॥क

अर्थ—जो पुरुष इन पूर्वोक्त परमार्थ स्वरूप मोक्ष मार्ग को छोड़कर व्यवहार मोक्ष मार्ग में स्थापित अपने आत्मा के द्वारा द्रव्यमय लिंग में ममता करते है (अर्थात् यह मानते हैं कि यह लिंग (नग्नता) ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगी) वे पुरुष तत्त्व के यथार्थ ज्ञान से रहित होते हुये अभी तक समय के सार को (अर्थात शुद्ध आत्मा को) नहीं देखते अनुभव नहीं करते। वह समय सार शुद्ध आत्मा ऐसा है ? नित्य प्रकाशमान है, अखन्ड है (अर्थात् जिसमें अन्य ज्ञेय आदि के निमित्त से खण्ड नहीं होते) एक हैं (अर्थात् पर्यायों से अनेक अवस्था रूप होने पर भी जो एक रूपत्व को नहीं छोड़ता) अतुल (उपमा रहित) प्रकाश वाला है, स्वभाव प्रभा का पुन्ज है (अर्थात् चैतन्य प्रकाश का समूह है), अमल है (अर्थात् रागादि विकार रूपी मल से रहित है)।

लिंग को व्यवहारनय मोक्ष मार्ग कहते हैं।

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४६६॥

अर्थ—व्यवहार नय दोनों लिंगों को मोक्ष मार्ग में कहते हैं (अर्थात् व्यवहार नय मुनिलिंग तथा गृहलिंग को मोक्ष मार्ग कहता है) निश्चय नय सभी (किसी भी) लिंगों को मोक्ष मार्ग नहीं मानता।

टीका—श्रमण और श्रमणोपासक के भेद से दो प्रकार के द्रव्य लिंग मोक्ष मार्ग है, इस प्रकार का जो प्ररूपण-प्रकार (अर्थात् इस प्रकार की जो प्ररूपणा) वह केवल व्यवहार ही है, परमार्थ नहीं, क्योंकि वह (प्ररूपणा) स्वयं अशुद्ध द्रव्य की अनुभवन स्वरूप है इसलिये उसको परमार्थता का अभाव है, श्रमण और

श्रमणोपासक के भेदों से अतिक्रान्त दर्शन ज्ञान में प्रवृत परिणति मात्र शुद्ध ज्ञान ही एक है, ऐसा जो निस्तुष (निर्मल) अनुभवन ही परमार्थ है क्योंकि वह (अनुभवन) स्वयं शुद्ध द्रव्य का अनुभवन स्वरूप होने से उसी के परमार्थत्व है, इसलिये जो व्यवहार को ही परमार्थ बुद्धि से (परमार्थ मानकर) अनुभव करते हैं वे समय सार का ही अनुभव नहीं करते जो परमार्थ को परमार्थ बुद्धि से अनुभव करते हैं वे ही समय सार का अनुभव करता है।

व्यवहार को परमार्थ मानने पर मूढ हैं।

व्यवहार विमूढदृष्टयः परमार्थं कलयंति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्ध बुद्धयः कलयंतीह तुषं न तंडुलम् ॥४७०॥

अर्थ—जिनकी दृष्टि (बुद्धि) व्यवहार में ही मोहित है ऐसे पुरुष परमार्थ को नहीं जानते हैं, जैसे जगत में जिनकी बुद्धि तुष के ज्ञान में ही मोहित है ऐसे पुरुष तुष को ही जानते हैं तंदुल (चावल को नहीं जानते)।

द्रव्य लिंग में अन्ध है वह आत्मा को नहीं जानते।

द्रव्यलिंगममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिंगमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ॥

अर्थ—जो द्रव्य लिंग (नग्नता) में ममकार के द्वारा अंध विवेक रहित हैं ये समय सार को नहीं देखते, क्योंकि इस जगत में, द्रव्य लिंग तो वास्तव में अन्य द्रव्य से होता है, मात्र यह ज्ञान ही निज से (आत्म द्रव्य से) होता है।

द्रव्य लिंगी संसार तत्व है ।

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये ।
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं ॥४७२॥प्र.

अर्थ—जो भले ही संयम में हो तथापि यह तत्व है इस प्रकार निश्चयवान वर्तते हुए पदार्थों अयथार्थ तया ग्रहण करते हैं वे अत्यन्त फल समृद्ध ऐसे अब से आगामी काल में भ्रमण करेंगे।

टीका—जो स्वयं अविवेक से पदार्थों को अन्यथा ही अंगीकृत करके ऐसा ही तत्व है ऐसा निश्चय करते हुए सतत एकत्रित किये जाने वाले महा मोह मल से मलीन मन वाले होने से नित्य अज्ञानी है वे भले ही संयम में स्थित हो तथापि परमार्थ श्रामण्य को प्राप्त न होने से वास्तव ने श्रमणाभास वर्तते हुए अनन्त कर्म फल की उपभोग राशि से भयंकर ऐसे अनन्त काल तक अनन्त भावान्तर रूप परावर्तनों से अनवस्थित वृति वाले रहने से उनको संसार तत्व ही जानना।

लिंग दो प्रकार हैं तेमां भाव लिंग ही प्रधान है ।

भावो हि पठमलिंगं ण दव्व लिंगं च जाण परमत्थं ।
भावो कारण भूदो गुणदोसाणं जिणा विंति ॥४७३॥अ.

अर्थ—भाव ही प्रथम लिंग है वही परमार्थ सेवनीय है। द्रव्य लिंग परमार्थ रूप मत जानो। गुण और दोष इनका कारण भाव ही है ऐसा जिन भगवान ने कहा है।

भाव रहित द्रव्य लिंग कार्य कारी नहीं है

जाणहि भावं पठमं किं ते लिंगेण भावरहिएण ।
पंथिय ! मिवपुरिपंथं जिण उवइट्ठं पयतेण ॥४७४॥अ.

अर्थ—हे मुनि! मोक्ष पुरी का मार्ग जिनवर देव ने प्रयत्न पूर्वक उपदेश किया है भाव ही शिवपुरी का मार्ग है? भाव ही प्रथम परमार्थ जानो। भाव रहित द्रव्य मात्र लिंग से तेरे क्या साध्य है? कुछ भी नहीं।

द्रव्य लिंग अनेक बार ग्रहण किया

भावरहिएण सपुरिस अणाइकालं अणंतसंसारे।
गहिउज्झियाइं बहुसो वाहिर णिग्गंथ रुवाई ॥४७५॥अ.

अर्थ—हे सत पुरुष! अनादि काल से लेकर इस अनन्त संसार में भाव रहित निर्ग्रंथरूप बहुत बार ग्रहण कियां और छोड़ा।

द्रव्य लिंग नग्नता अपयश का ही कारण है।

अयसाण भायणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण।
पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण ॥४७६॥ अ.

अर्थ—हे मुनि! तेरे ऐसे नग्न पने से तथा मुनिपने से क्या साध्य है! कैसा है? पैसून्य कहिये अन्य का दोष देखने का स्वभाव, हास्य कहिये अन्य का हास्य करना, मत्सर कहिये आप समान ते इर्षा राखी परकु नीचा पाड़ने की बुद्धि, माया कहिये कुटिल परिणाम, ये भाव है बहुत प्रचर जा में याहिते पाप करि मलीन है, याही ते कैसा है? अपयश कहिए अपकीर्ति तिनिका भाजन है।

दर्शन ज्ञान चारित्र की युगपतता ही मोक्ष मार्ग है अन्यथा नहीं।

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि विणत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥४७७॥प्र.

अर्थ—आगम से यदि पदार्थों का ज्ञान न हो तो सिद्धि नहीं होती, पदार्थों का श्रद्धान करने वाला भी यदि असंयत है तो निर्वाण को प्राप्त नहीं होता।

टीका--आगम जनित ज्ञान से यदि वह श्रद्धान सून्य हो तो सिद्धि नहीं होती और जो उस (आगम ज्ञान) के बिना नहीं होता ऐसे श्रद्धान से भी, यदि वह (श्रद्धान) संयम सून्य हो तो सिद्धि नहीं होती।

भावार्थ--मात्र सम्यग्दर्शन से सिद्धि नहीं है, सिद्धि का कारण सम्यक् चारित्र ही है। साक्षात् शान्ति का कारण चारित्र ही है।

दर्शन ज्ञान चारित्र का स्वरूप

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं।
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ॥४७८॥अ.

अर्थ—जो जाने सो ज्ञान, जो देखे सो दर्शन, ऐसा कहा है। ज्ञान दर्शन के समायोग से चारित्र होता है।

सिद्धि की प्राप्ति

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स ॥४७९॥

अर्थ—जिन, जिनेन्द्र और श्रमण इस (पूर्वोक्त ही) प्रकार से मार्ग में आरूढ होते हुए सिद्धो को नमस्कार हो उस निर्वाण मार्ग को नमस्कार हो।

टीका—सभी सामन्य चरम शरीरी तीर्थंकर, और अचरम शरीरी मुमुक्षु इसी यथोक्त शुद्धात्म तत्व प्रवृति लक्षण विध से प्रवर्तमान मोक्ष मार्ग को प्राप्त करके सिद्ध हुए, किन्तु ऐसा नहीं है कि, किसी दूसरी विधि से सिद्ध हुए हों। इससे निश्चित होता है कि केवल यह एक ही मोक्ष मार्ग है दूसरा नहीं। अधिक विस्तार से पुरा पड़े ? उस शुद्धात्म तत्व में प्रवर्ते हुवे सिद्धों को तथा शुद्धात्म तत्व प्रवृति रूप मोक्ष मार्ग को जिसमें से भाव्य भावकका (ध्येय ध्याता) विभाग अस्त हो गया है ऐसे नोआगम भाव नमस्कार हो।

मोक्ष मार्ग का सार

तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदु मा किंचि।
सो तेण वीदरागो भवियो भवसायरं तरदि ॥४८०॥पं.

अर्थ—इसलिये मोक्षाभिलाषी जीव सर्वत्र किंचित भी राग न करो, ऐसा करने से वह भव्य जीव वीतराग होकर भव सागर को तरता है।

टीका—यह साक्षात् मोक्ष मार्ग में अग्रसर सचमुच वीतराग पना है। इसलिए वास्तव में अरिहंतादिगत राग को भी, चंदन वृक्ष संगत अग्नि की भाँति देवलोकादि के क्लेश की प्राप्ति द्वारा अत्यन्त अंतर्दाह का कारण समझकर साक्षात् मोक्ष का अभिलाषी महाजन सब की ओर से राग को छोड़ कर, अत्यन्त वीतराग होकर, जिसमें उबलती हुई दुःख सुख की कल्लोलें उछलती है और जो कर्माग्नि द्वारा तप्त खल बलाते हुए जलसमूह की अतिशयता से भयंकर है ऐसे भव सागर को पार उतर कर, शुद्ध स्वरूप परमामृत समुद्र को अवगाह कर, शीघ्र निर्वाण को प्राप्त

करता है। विस्तार से बस हो! जयवंत वर्ते वीतरागता जो कि साक्षात् मोक्ष मार्ग का सार होने से शास्त्रतात्पर्य भूत हैं।

मोक्ष मार्ग में किसका आश्रय लेना

द्रव्यानुसारिचरणा चरणानुसारि द्रव्यं
मिथो द्वयमिदंननु सव्यपेक्षम्।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्ग
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वाचरणं प्रतीत्या ॥४८१॥

अर्थ—चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है। इस प्रकार वे दोनों परस्पर सापेक्ष है, इसलिए या तो द्रव्य का आश्रय लेकर अथवा चरण का आश्रय लेकर मुमुक्षु मोक्ष मार्ग में आरोहण करो।

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः द्रव्यस्य सिद्धि श्चरणस्य सिद्धौ
बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेऽपि द्रव्याविरुध्दं चरणा चरेणु

अर्थ—द्रव्य की सिद्धि में चरण की सिद्धि हैं चरण की सिद्धि में द्रव्य सिद्धि है यह जान कर, कर्मों से (शुभाशुभ भावों से) अविरत दूसरे भी, द्रव्य से अविरूद्ध चरण का आचरण करो।

चारित्र दो प्रकार का है।

जिणणाणदिट्ठि सुद्धं पठमं सम्मत्त चरण चारित्तं।
विदियं संजम चरणं जिणणाण सदेसियं तं पि ॥४३॥ अ.

अर्थ--प्रथम तो सम्यक्त्व का आचरण रूप चारित्र है सो जिन देवका ज्ञान दर्शन श्रद्धान किया हुआ शुद्ध है। दूसरा संयम का आचरण स्वरूप चारित्र है सो भी जिन देव के ज्ञान द्वारा दिखाया हुआ शुद्ध है।

भावार्थ—प्रथम श्रद्धा निर्मल करना चाहिए बाद में आचरण शुद्ध होता है। श्रद्धा निर्मल किए बिना आचरण कभी शुद्ध होता ही नहीं है।

व्यवहार सम्यक्त्व

हिंसा रहिए धम्मे अट्ठारह दोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥४८४॥अ.

अर्थ--हिंसा रहित धर्म अठारह दोष रहित देव निर्ग्रंथ प्रवचन अर्थात् निर्ग्रंथ गुरु और जिन वीतराग वाणी उपर श्रद्धा होना सम्यक्त्व है।

निश्चय व्यवहार सम्यक्त्व

जीवादी सद्दहणं सम्मत्त जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥४८५॥अ.

अर्थ--जीवादि नौ पदार्थ का श्रद्धान सो व्यवहार सम्यक्त्व है ऐसा जिन भगवान ने कहा है, और निश्चय से अपना आत्मा का ही श्रद्धान प्रतिती अनुभूति सो सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व बिना चारित्र मिथ्या है।

सम्मतचरणभट्ठा संयम चरणं चरंति जे वि णरा।
अण्णाणणाणमूढा तह वि ण पावंति णिव्वाणं ॥४८६॥

अर्थ—जो पुरुष सम्यक्त्व चरण चारित्र से भ्रष्ट हैं और संयम आचरण करे तो भी उसकी अज्ञान मूढ दृष्टि होने से निर्वाण को प्राप्त नहीं होता है।

धर्मध्यान शुक्ल ध्यान का कारण भी सम्यक्त्व है।

पव्वज्ज संगचाए पयट्ट सुतवे सुसंजमं भावे।
होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते ॥४८७॥ अ.

अर्थ—हे भव्य ! तू संग अर्थात् परिग्रह का त्याग कर ऐसी दीक्षा ग्रहण करो, भले प्रकार संयम स्वरूप भाव द्वारा सम्यक् प्रकार तप में प्रवर्तन कर, जिससे मोह रहित वीतराग पना होने से निर्मल धर्म ध्यान शुल्क ध्यान होता है।

सम्यक्त्व बाद संयम अंगीकार किये मोक्ष होवे।

सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं ॥४८८॥अ

अर्थ—ज्ञानी होने पर अमूढ दृष्टि होता है, और सम्यक्त्व चरण चारित्र से शुद्ध होकर और संयम चरण चारित्र को सम्यक् प्रकार शुद्ध होकर शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त होता है।

मोह रहित जीव ही मोक्ष पावे।

ए ए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स।
नियगुणमाराहंतो अचिरेण वि कम्म परिहरइ ॥४८९॥

अर्थ—जो पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीन भाव हैं, वे निश्चय से मोह रूपी मिथ्यात्व को दूर करके अपने निज गुण

जो शुद्ध दर्शन ज्ञान मयी चेतना द्वारा थोड़े ही समय में कर्म का नाश कर मोक्ष प्राप्त करता है।

———

संयम चरण चारित्र

संयम चरण चारित्र दो प्रकार हैं।

दुविहं संजम चरणं सायारं तह हवे णिरायारं।
सायारं सग्गंथे परिग्गहा रहिय खलु णिरायारं ॥४६०॥अ.

अर्थ—संयम चरण चारित्र दो प्रकार का है, सागार, तथा निरागार। सागार परिग्रह सहित श्रावक के होता है और निरागार परिग्रह रहित मुनिराज के होता है यह निश्चय है।

सागार संयम चरण

दंसण वय सामाइय, पोसह, सचित रायभत्ते य।
बंभारंभ परिग्गह अणुमण उद्दिट्ठि देस विरदो य ॥४९१॥

अर्थ—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त त्याग, रात्रिभुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्या, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग, उद्दिष्ट आहार त्याग ऐसे ग्यारह प्रकार देश चारित्र हैं।

बारह व्रत के नाम

पंचेव णुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि य संजम चरणं च सायारं ॥४९२॥अ.

अर्थ—अणुव्रत पाँच, तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत ऐसे बारह प्रकार करि संयम चरण चारित्र हैं सो सागार, ग्रंथ सहित श्रावक के होते हैं इसलिये सागर कहा है।

पांच अणुव्रत के नाम

थूले तसकायवहे, थूले मोपे, अदत्त थूले य।
परिहारो, परमहिला परग्गहारंभ परिमाणं ॥४६३॥अ.

अर्थ—स्थूल त्रस काय का घात, स्थूल मृषा अर्थात् असत्य, स्थूलअदता, अर्थात् पर का न दिया धनादि, पर महिला अर्थात् पर की स्त्री का परिहार अर्थात् त्याग, परिग्रह और आरंभ का परिमाण इस प्रकार पाँच अणुव्रत है।

तीन गुणव्रत

दिसिविदिसिमाण, पढमं अणत्थ दंडस्स वज्जणं विदियं
भोगोपभागपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥४९४॥अ.

अर्थ—दिशा विदिशा में पाप केलिये गमन का परिमाण, सो प्रथम गुणव्रत है! अनर्थ दंड का वर्जना सो द्वितीय गुणव्रत है और भोग उपभोग परिमाण सो तीसरा गुणव्रत है, इस प्रकार तीन गुणव्रत हैं।

चार शिक्षा व्रत

सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं च अतिहि पुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥४६५॥अ

अर्थ—सामायिक प्रथम शिक्षाव्रत है, दूसरा प्रोषध व्रत है तीसरा अतिथि का पूजन और अन्त समय सल्लेखना व्रत है।

श्रावक का प्रथम कर्तव्य

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंप ।
तं जाणे झाइज्जइ सावय ! दुक्खक्खयट्ठाए ॥४९६॥अ.

अर्थ—प्रथम श्रावक को सुनिर्मल मेरू समान निःकंप अचल सम्यक्त्व का ग्रहण करना चाहिये, उस श्रद्धा को ध्यान द्वारा दुःख का क्षय के लिये ध्यावना।

श्रावक धर्म मुनि धर्म में अन्तर

एवं सावय धम्मं संजम चरणं उदेसियं सयलं ।
सुध्दं संजम चरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे ॥४९७॥अ.

अर्थ—इस श्रावक धर्म स्वरूप संयम चरण कहा है उसी प्रकार सकल कला सहित धर्म स्वरूप संयम चरण जो कि शुद्ध निर्दोष है, जिसमें पाप चरण का लेश मात्र नहीं है। कला निष्कान्त है, ऐसा यति (मुनि) धर्म है। श्रावक धर्म जैसा एक देशी नहीं है।

पदार्थ का श्रद्धान नहीं है वह श्रमण नहीं है।

सत्तासंबद्धे दे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे ।
सद्दहदि ण सो समणो तत्तो धम्मो ण संभवदि ॥४९८॥प्र.

अर्थ—जो श्रवण अवस्था में इन सत्ता संयुक्त सविशेष पदार्थों की श्रद्धा नहीं करता वह श्रमण नहीं हैं, उससे धर्म का उद्भव नहीं होता।

टीका—जो जीव इन द्रव्यों को जो कि सादृश्य अस्तित्व के

द्वारा समानता को धारण करते हुये स्वरूप अस्तित्व के द्वारा विशेष युक्त है, उन्हें स्व-पर के भेद पूर्वक न जानता हुआ और श्रद्धान न करता हुआ यों ही (ज्ञान श्रद्धान के बिना) मात्र श्रमणता से आत्मा का दमन करता है वह वास्तव में श्रमण नहीं है। इसलिये जैसे जिसे रेती और सुवर्ण कणों का अन्तर ज्ञात नहीं है उसे धूल के धोने से उसमें से सुवर्ण लाभ नहीं होता उसी प्रकार उसमें से (श्रमणाभास में से) निरूपराग आत्म तत्त्व की उपलब्धि लक्षण वाले धर्म लाभ का उद्भव नहीं होता।

प्रथम भाव से मुनि बने बाद में द्रव्य में नग्नता धारण करे।

भावेण होय णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥४९९॥

अर्थ—(मुनि बनने का इच्छुक) प्रथम मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय का त्याग रूप अन्तरंग वीतरागता धारण करे अर्थात् अन्तरंग से नग्न होकर एक शुद्ध आत्मा का श्रद्धान ज्ञान और आचरण रूप रत्नत्रय की प्राप्ति करने के बाद मुनि द्रव्य द्वारा बाह्य लिंग जिन आज्ञा द्वारा धारण करे यही मार्ग है।

श्रमण होने का इच्छुक क्या करे।

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं।
आसिज्ज णाण दंसण चरित्त तव वीरियायारं ॥५००॥प्र.

अर्थ—(श्रामणार्थी) बंधुवर्ग से विदा माँगकर बड़ों से तथा स्त्री और पुत्र से मुक्त होता हुआ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार और वीर्याचार को अंगीकार करे।

दिक्षा कैसे गुरु की पास लेवे

समणं गणिं गुणड्ढं कुल रुव वयो विसिट्ठ मिट्ठदरं ।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ॥

अर्थ—जो श्रमण हैं, गुणाढ्य है, कुल, रूप तथा वय से विशिष्ट है, और श्रमणो को अति इष्ट है "ऐसे गणी को मुझे स्वीकार करो" ऐसा कहकर प्रणत होता है (प्रणाम करता है) और अनुगृहीत होता है।

टीका—पश्चात श्रामण्यार्थी प्रणत और अनुग्रहीत होता है। वह इस प्रकार से है कि आचरण करने में और आचरण कराने में आने वाली समस्त विरति की प्रवृति के समान आत्म रूप ऐसे श्रामण्य पने के कारण जो "श्रमण" है ऐसे श्रामण्य का आचरण करने में और आचरण कराने में प्रवीण होने से जो गुणाढ्य है। सर्व लौकिक जनों के द्वारा निःशंकतया सेवा करने योग्य होने से और कुल क्रमा गत क्रूरतादि दोषों से रहित होने से जो कुल विशिस्ट है, अन्तरंग शुद्ध रूप का अनुमान कराने वाला वहिरंग शुद्ध रूप होने से जो रूप विशिष्ट है। बालकत्व और वृद्धत्व से होने वाली वुद्धि विक्लवता का अभाव होने से तथा यौवनोद्रेक की विक्रिया से रहित वुद्धि होने से जो वय विशिष्ट है, और यथोक्त श्रामण्य का आचरण करने तथा आचरण कराने सम्बन्धी पौरुषेय द्वोषों को निःशेषतया नष्ट कर देने से मुमुक्षुओं के द्वारा (प्रायश्चितादि के लिये) जिनका बहुआश्रय लिया जाता है, इसलिये जो श्रमणो को अति इष्ट है ऐसे गणी के निकट शुद्धात्म तत्व की उपलब्धि के साधक आचार्य के निकट शुद्धात्म तत्व की उपलब्धि रूप सिद्धि से मुझे अनुगृहीत करो ऐसा कहकर (श्रामण्यार्थी) जाता हुआ प्रणत होता है।

इस प्रकार यह तुझे शुद्धात्म तत्व की उपलब्धि रूप सिद्धि ऐसा (कहकर) उस गणी के द्वारा (वह श्रामण्यार्थी) प्रार्थित अर्थ से संयुक्त किया जाता हुआ अनुगृहीत होता है।

दीक्षा योग्य कौन सा स्थान है एवं गुरु कहां मिले

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा।
गिरिगुह गिरिसिहरे, वा भीमवणे अहव वसिते वा ॥५०२॥

सवसासत्त तित्थं वचचइदालत्तयं च वुत्तेहिं।
जिण भवणं अह वेज्झं जिणमग्गे जिणवरा विंति ॥५०३॥

पञ्चमहव्वयजुत्ता पंचिंदिय संजया णिरावेक्खा
सज्झायझाण जुत्ता मुणिवर वसहा णिइच्छन्ति ॥५०४॥

अर्थ - सूनाघर, वृक्ष का मूल, कोटर, उद्यान, वन, मसान भूमि, गिरि की गुफा, गिरि का शिखर, भयानक वन, अथवा वस्तिका इनमें दीक्षा सहित मुनिराज ठहरे यही दीक्षा योग्य स्थान है।

जहाँ कोई प्रकार की रोक टोक न हो ऐसा क्षेत्र में जहाँ से मुक्ति पधारे ऐसा तीर्थस्थान, जिस मकान में जिन प्रतिमा जिन वाणी आदि विराजमान किया हो ऐसा चैत्यालय जिन भवन ऐसा स्थान मुनिराज को ध्यान करने योग्य है।

कैसा है वह गुरू मुनिराज! पंच महाव्रत सहित है पंचइन्द्रिय के विषयों के विजेता है, कोई प्रकार की संसार भोग की बांछा नहीं है। ध्यान तथा स्वाध्याय में जिसका निरंतर उपयोग रहता है।

कैसी है मुनि दीक्षा

उवसग्ग परिसहसहा विज्जणादेसेहि णिच्च अत्थेइ।
सिलकट्ठे भूमितले सव्वे आरूहइ सव्वत्थ ॥५०५॥ अ.

अर्थ—कैसी हैं वह प्रवज्या मुनिदीक्षा, उपसर्ग, मनुष्य, देव, तिर्यंच, अचेतनकृत्त उपद्रवों को जीते, बावीस परिषह को जीते, ऐसी प्रवज्जा सहित मुनिराज जहाँ अन्य जन नहीं है ऐसा निर्जन वनादिक में सदा तिष्टे अर्थात रहे, तहाँ भी शिलातल, काष्ट भूमितल पर तिष्टे अर्थात् वेठे सोवे, सर्वत्र कहने से वनादिक में ही रहै।

पसु महिल संढसंगं कुशील संगं ण कुणइ विकहाओ।
सज्झाय झाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५०६॥अ.

अर्थ—जिस प्रवज्या विषै, पशु तिर्यंच महिला स्त्री, षंढ नपुंसक इनका संग न करे, कुशील पुरुष का संग न करे, स्त्री कथा, राष्ट्र कथा, भोजन कथा, चौर कथा इत्यादि विकथा नहीं करे किन्तु ध्यान करे और ध्यान में स्थिर न रहे तव शास्त्र पठन पाठन करे ऐसी जिनदीक्षा जिनेस्वरदेव ने कही है।

गिह गन्थमोहमुक्का बावीस परिषहा जिय कषाया।
पावारम्भ विमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५०७॥ अ.

अर्थ—गृह, ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह तथा मोह मिथ्यात्व भाव से रहित, वाईस परिसह के विजेता, कषायों को जीतने वाले, पापारम्भ से रहित, ऐसी दीक्षा को जिनेश्वरदेव ने प्रवज्या कही है।

सत्तुमित्ते य समा पससणिद्दा अलद्धिलद्धिसमा ।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५०८॥अ.

अर्थ—जिसमें शत्रु मित्र में समभाव, प्रशंसा निंदा में समभाव हो, लाभ अलाभ में समभाव हो, तृण तथा कंचन में समभाव हो, ऐसी प्रवज्या कही है ।

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा, अराय णिदोसा
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५०९॥अ.

अर्थ—केसी है मुनिदीक्षा—निग्रंथ बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह रहित हो, निसंग स्त्री आदि संग रहित हो, निर्माना—जिसमें मान कषाय न हो, निरासा—संसार भोग की जिसमें आशा नहीं हो, अराग—राग रहित हो, अर्थात् जिसमें विषयानुराग शिष्य आदि में राग न हो, निर्दोष—जिसमें कोई प्रत्ये द्वेष न हो, निर्ममा—जिसमें ममत्व भाव न हो, निरहंकार—जिसमें किसी प्रकार का अहंकार न हो, ऐसी प्रवज्या कही है ।

तिलतुसमत्तणिमित्त सम बाहिगन्थ संगहो णत्थि ।
पव्वज्जा हवइ ऐसा जह भणिया सव्व दरसीहिं ॥५१०॥अ

अर्थ—जिस प्रवज्या में जिसके तुषमात्र संग्रह का कारण रूप अन्तरंग और बाह्य परिग्रह नहीं है- ऐसी प्रवज्या जैसी सर्वज्ञ देव ने कही है तैसी ही है अन्य प्रकार नहीं है ।

कौनसा सहनन में प्रवज्या होती है ।

जिण मग्गे पवज्जा छह संहणणेसु भणिय णिग्गन्था
भावन्ति भव्व पुरिसा कम्मक्खय कारणे भणिया ॥५११॥

अर्थ—ऐसी प्रवज्या-मुनि दीक्षा छह सहनन वाले जीव के होना कहा है, जो निर्ग्रंथ स्वरूप हैं, अन्तरंग और वाह्य परिग्रह रहित है ऐसी प्रवज्या की भावना भव्य पुरुष की है एसी प्रवज्या कर्म क्षय का कारण कही है।

भावार्थ—उत्तम संहनन वाला ही मुनि पर्याय का पालन कर सके और हीन संहनन वाला मुनि पर्याय का पालन न कर सके ऐसा स्वरूप नहीं है। हाँड की शक्ति से मुनि पर्याय नहीं होती मुनि पर्याय में भाव की ही मुख्यता है।

श्रामण्यार्थं गुरु पास में जाकर कैसा रूप धारण करे।

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।

इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो ॥५१२॥प्र.

अर्थ—मैं दूसरा के नहीं हूँ, पर मेरे नहीं है, इस लोक में मेरा कुछ नहीं है, ऐसा निश्चयवान जितेन्द्रिय होता हुआ यथाजातरूपधर होता है।

टीका—और फिर तत्पश्चात् श्राम्यण्यार्थी यथाजातरूपधर होता है।

वह इस प्रकार कि प्रथम तो मैं किंचित मात्र भी परका नहीं हूँ। पर भी किंचित मात्र मेरे नहीं है, क्योंकि समस्त द्रव्य तत्त्वतः पर के साथ सम्बन्ध रहित है इसलिये इस षड द्रव्यात्मक लोक में आत्मा से अन्य कुछ भी मेरा नहीं है, इस प्रकार निश्चित मन वाला (बर्तता हुआ) और पर द्रव्यों के साथ स्व स्वामी सम्बन्ध जिनका आधार है ऐसी इन्द्रियों और नोइन्द्रियों के जय से जितेन्द्रिय होता हुआ (श्रामण्यार्थी) आत्म द्रव्य का यथा निष्पन्न शुद्ध रूप धारण करने से यथाजातरूप धर होता है।

श्रामण्य का बहिरंग अंतरंग चिन्ह

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं ।

रहिदं हिंसादीओ अपडिकम्मं हवदि लिंगं ॥५१३॥प्र.

मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोग जोग सुद्धीहिं ।

लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भव कारणं जेण्हं ॥५१४॥प्र.

अर्थ—जन्म समय के रूप जैसा रूपवाला, सिर और दाढ़ी मूँछ के बालों का लोच किया हुआ (अकिंचन) हिंसा से रहित और प्रति कर्म (शारीरिक श्रृङ्गार) से रहित लिंग (श्रामण्य का बहिरंग) है।

मूर्च्छा (ममत्व) और आरम्भ रहित उपयोग और योग की शुद्धि से युक्त तथा पर की अपेक्षा से रहित ऐसा जिनेन्द्र देव कथित (श्रामण्य का अंतरंग) लिंग है जोकि मोक्ष का कारण है।

यति धर्म की सामग्री

पंचेदिय संवरणं पंच वया पंचविंसकिरियासु ।

पंच समिदि तय गुत्ति संयम चरणं णिरायारं ॥५१५॥अ.

अर्थ—पाँच इन्द्रिय का संवर, पाँच व्रत से पचीस भावना सहित होकर, पाँच समिति, तीन गुप्ति इस प्रकार निरागार संयम चरण चारित्र होता हैं।

मुनि का मूल गुण

वद समिदिं दियरोधो लोचा वस्सयमचेलमण्हाणं ।

खिदिसयणमदंतवणाट्ठिदिभोयणं मेगभत्तं च ॥५१६॥

एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।

तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥५१७॥प्र.

अर्थ—व्रत, समिति, इन्द्रिय रोध, लोंच, आवश्यक अचेलत्व अस्नान, भूमिशयन, अदंतधोवन, खड़े खड़े भोजन और एक बार यह वास्तव में श्रमणो के मूलगुण जिनवरो ने कहा है, उनमें प्रमत होता हुआ श्रमण छेदोपस्थापक होता है।

मुनि पर्याय की सामग्री

चरिद णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि।

पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ॥५१८॥

अर्थ—जो श्रमण सदा ज्ञान में और दर्शन में प्रति बद्ध तथा मूलगुणों में प्रयत्न (प्रयत्नशील) विचरण करता है वह परिपूर्ण श्रावण्यवान है।

टीका—एक स्वद्रव्य प्रतिबंध ही उपयोग का मार्जन (शुद्धत्व) करनेवालाहोनेसे मार्जित (शुद्ध) उपयोग रूप श्रामण्य की परिपूर्णता का आयातन है। उसके सद्भाव से परिपूर्ण श्रामण्य होता है। इसलिये सदा ज्ञान में और दर्शन आदि में प्रति बद्ध रह कर मूलगुणों में प्रयत्न शीलता से विचरना, ज्ञान दर्शन स्वभात्र शुद्धात्म द्रव्य में प्रति बद्ध शुद्ध अस्तित्व मात्र रूप से वर्तना यह तात्पर्य है।

पञ्च महाव्रत

हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य।

तुरियं अवंभविरई पंचम संगम्मि विरई य ॥५१९॥अ.

अर्थ—प्रथम हिंसा से विरती सो अहिंसा है, दूसरा असत्य

विरति, तीजा अदत्त विरती, चौथा अब्रह्म विरति, और पाँचवा परिग्रह विरति हैं ऐसा पंच महाव्रत है।

महाव्रत नाम क्यों रखा

साहंति जं महल्ला आयारिमं जं महल्लपुव्वेहिं ।

जं च महल्लाणि तदो मह्व्वया इत्तहे याइं ॥५२०॥अ.

अर्थ— महल्ला अर्थात् महान पुरुष आचरणता है भूतकाल में आचरण किया है, आगे भी इसी प्रकार व्रत का आचरण करेगा इसलिये उस व्रत का नाम महाव्रत है। यहाँ पाप का लेश भी नहीं रहता है। ऐसे ही पंच महाव्रत हैं।

भावार्थ—वीर पुरुष जिसका आचरण कर सके कायर पुरुष आचरण न कर सकें इसलिये इसी का नाम महाव्रत है।

अहिंसा महाव्रत

कुलजोणिजीवमग्गण ठ्ठाणाइसु जाणऊण जीवाणं ।

तस्सारम्भणियत्तण परिणामो होइ पठमवदं ॥५२१॥

अर्थ— जिवों के कुलयोनि, जीव स्थान, मार्ग णा स्थान आदि जानकर उनके आरम्भ से निवृति रूप परिणाम वह पहला व्रत है।

अहिंसा व्रत की पाँच भावना

वयगुत्ती मणगुत्ति इरियासमिदी सुदाणणिखेवो ।

अवलोय भोयणाए अहिंसए भावणा होंति ॥५२२॥अ.

अर्थ—वचन गुप्ति, मनोगुप्ति, इर्या समिति, भले प्रकार कमन्डल आदि का ग्रहण सों आदान निक्षेपण समिति और छियालीस दोष टाली शुद्ध निर्दोष भोजन ग्रहण करना ऐसी

ऐसणा समितिं ऐसे ये पञ्च अहिंसा महाव्रत की भावना है।

भावार्थ—भावना ही व्रत की रक्षा करती है भावना में सिथिलता आने से व्रत में दोष नियम से लगेगा यह दोष से वचना है उसी को भावना निरंतर मजबूत दृढ रखनी चाहिये। बालक की रक्षा माता करती है उसी प्रकार व्रत की रक्षा भावना ही करती है।

सत्याणु महाव्रत

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं।

जो पजहदि साहु सया विदयवयं होई तस्सेव ॥५२३॥

अर्थ—राग से, द्वेष से, अथवा मोह से, होने वाले मृषा भाषा के परिणाम को जो साधु छोड़ता है उसी को सदा दूसरा व्रत है।

सत्यमहाव्रत की पाँच भावना

कोहभय हास लोहामोहा विपरीय भावणा चेव।

विदियस्स भावणाए ए पंचेव य तहा होंति ॥५२४॥अ.

अर्थ—क्रोध से, भय से, हास्य से वचन नहीं बोलना लोभ से वचन नहीं बोलना, मोह से वचन नहीं बोलना यह सत्य महाव्रत की पाँच भावना है।

भावार्थ—असत्य वचन की प्रवृति क्रोध से, भय से, हास्य से, और मोह से ही होती है। सो इनका त्यागभये ही सत्य महाव्रत दृढ़ होता है।

अचौर्य महाव्रत

गामे वा णयरे वा रण्णे वा पेछिऊण परमत्थं।

जो मुचदि गहण भावं तिदियवदं होदि तस्सेव ॥५२५॥

अर्थ – ग्राम में, नगर में, या वन में, परायी वस्तु को देख कर जो साधु उसे ग्रहण करने को भावको छोड़ता है उसी का तीसरा व्रत है।

अचौर्य महाव्रत की भावना

सुण्णायारणिवासो विमोचितावास जं परोधं च।

एसणसुद्धिसउत्तं साहम्मीसं विसंवादो ॥५२६॥ अ.

अर्थ—सुन्यागार गिरि, गुफा, तरु कोटरादि में निवास करना, विमोचितावास अर्थात् जो लोग कोई कारण पाकर छोड़ दिया ऐसा ग्रह, झोपड़ा, ग्रामादि में निवास करना, परोपरोध अर्थात् परका, जहाँ उपरोध नहीं, वस्तीकादिक को अपनाना, पर को बर्जना (अर्थात् ये स्थान अच्छे नहीं हैं यह अच्छे हैं ऐसा विकल्प) ऐसा नहीं करना, तथा एषणा शुद्धि अर्थात् छीयालीस दोष टोल के शुद्ध मर्यादित आहार ग्रहण करना, सहधर्मी से विसंवाद नहीं करना ऐसे पंच भावना तृतीय अचौर्य महाव्रत की है।

भावार्थ—शहरों में रहने से अनेक प्रकार का राग उत्पन्न होने का कारण है, इसीलिये वीतराग मार्ग में चलने वाले मुनिराज भयानक वन मरघट, पहाड़ गुफा आदि में ही निवास करे। जहाँ पाँच इन्द्रिय के विषय में रक्त बसते हैं वहाँ वीतरागी मुनिराज कभी न ठहरे न बसे।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

दट्ठूण इच्छिरूवं वांच्छाभावं णिवत्तदे तासु।

मेहुणसण्णविवज्जिय परिणामो अहव तुरीयवदं ॥५२७॥

अर्थ—स्त्रियों का रूप देखकर उनके प्रति वांछा भाव की निवृत्ति वह अथवा मैथुन संज्ञा रहित जो परिणाम वह चौथा व्रत है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावना

महिलालोयणपुव्वार इसरण संसत्त वसहि विकाहा हिं।
पुट्ठियरसेहिं विरओ भावणा पंचावि तुरियम्मि ॥५२८॥

अर्थ—स्त्री को विकार भाव से देखना, पूर्व में किया हुआ भोग को याद करना, स्त्री समूह से संलक्त वस्तिका में बसना, स्त्री की कथा करना और पुष्टकारी रसका भोजन (सेवन) करना इन पांच से विकार उत्पन्न होता है इसलिये इनसे विरक्त इसी का त्याग करना ये पांच ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावना है।

अपरिग्रह महाव्रत

सव्वेसिं गंथाणं तागो णिरवेरव भावणा पुव्वं।
पंचमव्रदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स ॥५२९॥नि.

अर्थ—निरपेक्ष भावना पूर्वक सर्व परिग्रहों का त्याग उस चारित्र भार वहन करने वाले को पांचवा व्रत कहा है।

अपरिग्रहमहा व्रत की भावना

अपरिग्गह समणुण्णेसु सद्दपरिसरसरूवगंधेसु
रायद्दो साईणं परिहारो भावणा होंति ॥५३०॥ अ.

अर्थ—शब्द, स्पर्श, रस, गंध, रूपये पाँच इन्द्रिय के विषय हैं वे समनोज्ञ और अमनोज्ञ ऐसे दोनों में रागद्वेष आदि का न करना यह परिग्रह त्याग महाव्रत की पाँच भावना है।

भावार्थ—पांच इन्द्रिय के विषयों में अच्छा बुरा नहीं करना यह अपरिग्रह महाव्रत की रक्षा का उपाय है। जो जीव इन्द्रिय के विषयों में अच्छे बुरे की कल्पना करता है वह जीव परिग्रह न रखते भी परिग्रह वान हैं।

पाँच इन्द्रिय का संवर

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य।

ण करेइ रायदोसे पंचेंदिय संवरो भणिओ ॥५३१॥अ.

अर्थ—मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ ऐसे जो पदार्थ जिनको लोक अपना माने हैं ऐसे सजीव द्रव्य पुत्र स्त्री शिष्यादि और अजीव द्रव्य, धन, धान्य, शास्त्र पीछी कमन्डल आदि में राग द्वेष न करे सो पांच इन्द्रिय का संवर अर्थात् पंच इन्द्रिय का विजेता कहा है।

पांच समिति

इरिया भासा एसणा जा सा आदाण चेव णिक्खेवो।

संजम सोहिणिमित्ते खंति जिणा पञ्च समिदीओ ॥५३२॥

अर्थ—ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति और प्रतिष्टापन समिति ये पाँच समिति संयम की शुद्धता के लिए कारण हैं ऐसा जिनदेव ने कहा है।

ईर्या समिति

पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि।

गच्छइ पुरदो समणो इरिया समिदी हवे तस्स ॥५३३॥नि.

अर्थ—जो श्रमण प्रासुक मार्ग पर दिन में धुरा प्रमाण आगे देखकर चलता है उसे ईर्या समिति होती है।

भावार्थ—मुनिराज चार हाथ आगे देखकर दिन में मौन से ही गमन करते हैं बोलते २ गमन नहीं करते हैं।

भाषा समिति

पेसुण्णहासकक्कस परणिंद प्पप्पसंसियं वयणं।

परिचत्ता सपरिहिदं भासा समिदी वदंतस्स ॥५३४॥नि.

अर्थ—पैशून्य, (चुगली) हास्य, कर्कश भाषा, पर निन्दा और आत्म प्रसंसा, रूप परित्यागी की जो स्वपर हित रूप वचन बोलता है उसे भाषा समिति होती है।

एषणा समिति

कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च।

दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणा समिदी ॥५३५॥ नि.

अर्थ—पर द्वारा दिया गया कृत कारित अनुमोदन रहित प्रासुक और प्रशस्त भोजन करने रूप जो सम्यक् आहार ग्रहण वह एषणा समिति है।

भावार्थ—छयालीस दोष टालना बतीस अंतराय का पालन करना चौदामल दोष टालना, और वृत्तिपरिसंख्यन नाम का तप है वही एषणा समिति है। शुद्ध मर्यादित प्रासुक आहार लेने का भाव एषणा समिति नहीं है वह तो आहार संज्ञा रूप पाप भाव है एषणा समिति पुन्य भाव है।

आदान निक्षेपण समिति

पोथइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो।

आदावणणिक्खेवणा समिदी होदित्ति णिद्दिट्ठा ॥५३६॥

अर्थ--पुस्तक, कमन्डल आदि लेने रखने सम्बन्धी प्रयत्न परिणाम वह आदन निक्षेपण समिति है ऐसा कहा है।

भावार्थ—मुनिराज, शास्त्र, कमन्डल उठाते रखते हैं तब प्रथम पीछे से मर्दन करके ही उठाते रखते हैं।

प्रतिष्टापन समिति

पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपराहेण ।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स ।।५३७।।नि.

अर्थ--जिसे परके उपरोध रहित गूढ और प्रासुक भूमि प्रदेश में मलादिक का त्याग हो उसे प्रतिष्टापन समिति कहा है।

भावार्थ---ग्राम बाहर प्रासुक भूमि में जहाँ परजन की रोक टोक नहीं ऐसा स्थान में ही मुनिराज लघुशंका एवं दीर्घ शंका में जाते हैं। अपने लिए टट्टी घर बना देवे ऐसा स्थान में मुनिराज टट्टी पेशाब करते ही नहीं है यदि करे तो वह मुनिराज नहीं है किन्तु भ्रष्ट मुनि है।

मन गुप्ति व्यवहार से

कालुस्समोहसण्णा रागदोसाइअसुहभावाणं ।
परिहारो मणुगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं ।।५३८।।नि.

अर्थ—कलुषता, मोह, संज्ञा, रागद्वेष आदि अशुभ भावों के परिहार को व्यवहार नय से मनो गुप्ति कहा हैं।

वचन गुप्ति

थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स ।
परिहारो वचगुत्ती अलीयादिणियत्तिवयणं वा ।।५३९।।

अर्थ--पाप के हेतु भूत ऐसे स्त्री कथा, राजकथा, चोरकथा, भक्तकथा इत्यादि रूप वचनों का परिहार अथवा असत्यादिक की निवृति वाले वचन वह वचन गुप्ति है।

भावार्थ--यह शुभयोग है उसको वचन गुप्ति बोलना व्यवहार नय का कथन है। परमार्थ से यह व्यवहार गुप्ति है।

काय गुप्ति

वधण छेदण मारण आकुञ्चण तह पसारणादीया।
कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्ति त्ति ॥५४०॥नि.

अर्थ--बंधन, छेदन, मारण, आंकुचन तथा प्रसारण इत्यादि काय क्रियाओं की निवृति को कायगुप्ति कहते हैं।

निश्चय मन तथा वचन गुप्ति

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तम्मणोगुत्ती।
अलियादिणीयत्ति वा मोणं वा होइ वदीगुत्ती ॥५४१॥

अर्थ—मन में से जो रागादि निवृति उसे मनोगुप्ति जानो। असत्यादि की निवृति अथवा मौन वह वचन गुप्ति है।

भावार्थ—परयार्थ से योग की निवृति वही निश्चय गुप्ति है, अर्थात् आस्रव तत्व का अभाव वही निश्चय गुप्ति है।

निश्चय काय गुप्ति

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसा इणियत्ती वा सरीरगुत्तित्ति णिद्दिट्ठा ॥५४२॥

अर्थ—काय क्रियाओं की निवृति रूप कायोत्सर्ग शरीर सम्बन्धी गुप्ति है अथवा हिंसादि की निवृति को शरीर गुप्ति कहा है।

भावार्थ--यह व्यवहार कथन है परमार्थ से काय का अत्यन्त अभाव और योगगुण की निष्कम्प अवस्था वही निश्चय गुप्ति है। यह गुप्ति चौदहवें गुणस्थान के प्रथम समय में अयोगी क्षायिक भाव होता है तब ही होती है।

प्रतिक्रमण का स्वरूप

मोत्तूण वयणरयणं रागादी भाव वारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदि त्ति पडिकमणं ॥५४३॥

अर्थ—वचन रचना को छोड़कर रागादि भावों का निवारण करके जो आत्मा को ध्याता है उसे प्रतिक्रमण होता है।

आराहणाइ वट्टइ मोत्तूण विराहणं विसेसेण।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥५४४॥

अर्थ—जो जीव विराधना को छोड़कर आराधना में वर्तता है, वह जीव प्रतिक्रमण कहलाता है, कारण कि वह प्रतिक्रमण, मय है।

मोत्तूण अट्टरूद्दं झाणं जो झादि धम्म सुक्क वा।
सो पडिकमणं उच्चइ जिणवर णि दिट्ठ सुत्तेसु ॥५४५॥

अर्थ—जो जीव आर्त और रौद्रभाव छोड़कर धर्म अथवा शुक्ल ध्यान को ध्याता है वह (जीव) जिनवर कथित सूत्रों में प्रतिक्रमण कहलाता है।

मिच्छादंसणणाणचरित्तं चइऊण णिखसेसेण ।
सम्मत्तणाण चरणं जो भावइ सो पडिक्कमणं ॥५४६॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र को निरवशेष रूप से छोड़कर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को जो भाता है वह (जीव) प्रतिक्रमण है ।

प्रतिक्रमण का स्वरूप

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं ।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥५४७॥स.

अर्थ—अनेक प्रकार के विस्तार वाले पूर्व कृत शुभाशुभ कर्मों से जो अपने आत्मा को निवृत करता वह आत्मा प्रतिक्रमण है ।

भावार्थ—सब धर्मानुराग छोड़ने योग्य ही है ऐसा श्रद्धान रखना चाहिये । मोक्ष मार्ग में जहाँ धर्मानुराग का निषेध किया जाता है वहां विषयानुराग का तो स्वयं निषेध हो जाता है। निवृति रूप मोक्ष मार्ग है। मुमुक्षु जीवों में यह दोनों धारा साथ में चलती है तो भी प्रवृति मार्ग को वह हेय ही जानता है ।

त्यक्त्वाऽशुद्धि विधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियत्तं सर्वापराधच्युतः ।
बंधध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-
चैतन्यामृतपूरपूर्ण महिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥५४८॥

अर्थ—जो पुरुष वास्तव में अशुद्धता करने वाले समस्त

परद्रव्यों के छोड़कर स्वयं स्वद्रव्य में लीन होता है, वह पुरुष नियम से सर्व अपराधों से रहित होता हुआ बन्ध के नाश को प्राप्त होकर नित्य उदित (सदा प्रकाशमान) होता हुआ अपनी ज्योति से (आत्म स्वरूप के प्रकाश से) निर्मलतया उछलता हुआ चैतन्य रूपी अमृत के प्रवाह द्वारा जिसकी पूर्ण महिमा है ऐसा शुद्ध होता हुआ कर्मों से मुक्त होता है।

प्रत्याख्यान का स्वरूप

मोत्तूण सयल जप्पमणागय सुहमसुहवारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स ॥५४९॥नि.

अर्थ--समस्त जल्प को छोड़कर अनागत शुभ अशुभ का निवारण करके जो आत्मा को ध्याता है उसे प्रत्याख्यान है।

जं किंचि में दुच्चरित्तं सव्वं तिविहेण वोसरे।
सामाइयं तु तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं ॥५५०॥नि.

अर्थ—मेरा जो भी कुछ दुश्चारित्र उस सर्व को त्रिविधि से (मन, वचन काय से) छोड़ता हूँ और त्रिविध जो सामयिक (चारित्र) उस सर्व को निराकार (निर्विकल्प) करता हूँ।

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ॥५५१॥नि.

अर्थ—जो निःकषाय है दान्त है, (संयमी) शूरवीर है, व्यवसायी (शुद्ध आके प्रति उद्यमवन्त) है और संसार से भयभीत है उसें सुखमय प्रत्याख्यान होता है।

आलोचना स्वरूप

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।

अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि ॥५५२॥

अर्थ—कर्म नोकर्म से रहित तथा विभाव गुण पर्यायों से व्यतिरिक्त आत्मा को जो ध्याता है उस श्रमण को आलोचना है।

आलोचना के भेद

आलोयणमालुच्छण वियडीकरणं च भाव सुद्धी य।

चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्खणं समए ॥५५३॥

अर्थ—अब आलोचना का स्वरूप आलोचन, आलुंछन. अविकृति करण और भाव शुद्धि ऐसे चार प्रकार शास्त्र में कहा है।

आलोचना का स्वरूप

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं।

आलोयणमिदि जाणह परमजिणंदस्स उवएसं ॥५५४॥

अर्थ—जो जीव परिणाम को समभाव में स्थापकर (निज) आत्मा को देखता है, वह आलोचन है ऐसा परम जिनेन्द्र का उपदेश जान।

आलुंछन का स्वरूप

कम्ममहीरूहमूलच्छेदसमत्थो सकीय परिणामो।

साहीणो समभावो आलुच्छणमिदि समुद्दिट्ठं ॥५५५॥

अर्थ—कर्म रूपी वृक्ष का मूल छेदन में समर्थ ऐसा जो समभाव रूप स्वाधीन निज परिणाम उसे आलुंछन कहा है।

अविकृति करण का स्वरूप

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं।
मज्झत्थ भावणाए वियडीकरणं त्ति विण्णेयं ॥५५६॥

अर्थ—जो मध्यस्थ भावना में कर्म से भिन्न आत्मा को कि, जो निर्मल गुणों का निवास है उसे भाता है उस जीव को अविकृत करण जानना।

भाव शुद्धि का स्वरूप

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति।
परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं ॥५५७॥

अर्थ—मद, मान, माया, लोभ रहित भाव वह भाव शुद्धि है, ऐसा भव्य को, लोकालोक के द्रष्टाओं ने कहा है।

प्रायश्चित का स्वरूप

वदसमिदिसीलसंजमपरिणामो करण णिग्गहो भावो।
सो हवदि पायछित्तं अणवरयं चेव कायव्वो ॥५५८॥

अर्थ—व्रत, समिति, शील और संयम रूप परिणाम तथा इन्द्रिय निग्रह रूप भाव यह प्रायश्चित है और वह निरंतर कर्तव्य है।

निश्चत प्रायश्चित का स्वरूप

कोहादिसगब्भावक्खयपहुदि भावणाए णिग्गहणं।
पायच्छित्त भणिदं णियगुण चिंता यणिच्छयदो ॥५५९॥

अर्थ—क्रोध आदि स्वकीय भावों के क्षमादिक की भावना

में रखना और निज गुणों का चिंतवन करना वह निश्चय से प्रायश्चित है।

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जयदि खुए चहु विह कसाए ॥५६०॥

अर्थ—क्रोध को क्षमा से, मान को निज मार्दव से, माया को आर्जव से, तथा लोभ को संतोष से इस प्रकार चतुर विध कषायों को (योगी) वास्तव में जीतते हैं।

उक्किट्ठो जो बोहो णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं।
जो धरइ मुणी णिच्चं पायच्छित्तं हवे तस्स ॥५६१॥नि.

अर्थ—जो (अनंत धर्म वाले) आत्मा का जो उत्कृष्ट बोध ज्ञान अथवा चित्त उसे जो मुनि नित्य धारण करता है उसे प्रायश्चित है।

णंताणंतभवेण समज्जिअ असुहअसुह कम्मसंदोहो।
तवचरणेण विणस्सदि पायच्छितं तवं तम्हा ॥५५२॥

अर्थ—अनन्तानंत भवों द्वारा उपार्जित शुभाशुभ कर्म राशि तपश्चरण से नष्ट होती है इसलिये तप प्रायश्चित है।

कायोत्सर्ग का स्वरूप

कायाइ परदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं।
तस्स हवे तणुसग्गं जो झायइ णिव्वि अप्पेण ॥५६३॥

अर्थ--कायादि पर द्रव्य में स्थिर भाव छोड़कर जो आत्मा का निर्विकल्प रूप से ध्याता है वह कायोत्सर्ग है।

परम समाधि

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयराय भावेण ।

जो झायदि अप्पाणं परम समाही हवे तस्स ॥५६४॥

अर्थ—वचनोचारण की क्रिया परित्याग कर वीतराग भाव से जो आत्मा को ध्याता है उसे परम समाधि है।

सामायिक का स्वरूप

विरदो सव्व सावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ ।

तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलि सासणे ॥५६५॥

अर्थ—जो सर्व सावद्य से विरत है, जो तीन गुप्ति वाला है और जिसने इन्द्रियों को बन्द (निरुद्ध) किया है उसे सामायिक स्थायी है ऐसा केवली के शासन में कहा है।

जस्स सण्णि हिदो अप्पा संजमे णियमे तवे ।

तस्स समाइगं ठाइ इदि केवलि सासणे ॥५६६॥

अर्थ—जिसे संयम में नियम में और तप में आत्मा समीप है उसे सामायिक स्थायी है ऐसा केवली के शासन में कहा है।

जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेति दु ।

तस्स समाइगं ठाई इदि केवलि सासणे ॥५६७॥

अर्थ—जिसे राग द्वेष विकृत उत्पन्न नहीं करता उसे समायिक स्थायी है ऐसा केवली के शासन में कहा है।

जोदु पुण्णं च पावं च भावंवज्जेदि णिच्चसा।
तस्स समाइगं ठाइ इदि केवली सासणे ॥५६८॥

अर्थ—जो पुण्य तथा पाप भाव को नित्य वर्जता है उसे सामायिक स्थायी है ऐसा केवली के शासन में कहा है।

योग भक्ति

सव्व वि अप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्ति जुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो ॥५६९॥

अर्थ—जो साधु सर्व विकल्पों के अभाव में आत्मा को लगाता है वह योग भक्ति वाला है। दूसरे को योग किस प्रकार हो सकता है ?

आवश्य कर्म

जो चरिद संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे ॥५७०॥

अर्थ—जो जीव संयत रहता हुआ वास्तव में शुभ भाव में चरता प्रवर्तता है वह अन्य वश है इसलिये उसे आवश्यक स्वरूप कर्म नहीं है।

आवश्यक सहित तथा रहित मुनि का स्वरूप

दव्वगुणपज्जयाणं चित्तं जो कुणइ सोवि अण्णवसो।
मोहांधयारववगय समणा कहयंति एरिसयं ॥५७१॥

अर्थ—जो द्रव्य गुण पर्यायों में मन लगाता है नहीं अन्य वश है मोहान्धकार रहित श्रमण ऐसा कहते हैं।

निश्चय आवश्यक कर्म

परिचत्ता परभावं अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणंति आवासं॥

अर्थ—जो परभाव को परित्याग कर निर्मल स्वभाव वाले आत्मा को ध्याता है वह वास्तव में आत्म वश है और उसे आवश्यक कर्म (जिन) कहते हैं।

आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा।
आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा॥५७३॥

अर्थ—आवश्यक सहित श्रमण वह अन्तरात्मा है आवश्यक रहित श्रमण वह बहिरात्मा है।

अन्तरात्मा बहिरात्मा का स्वरूप

अंतर बाहिर जप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बिहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा॥५७४॥

अर्थ—जो अंतरबाह्य जल्प में वर्तता है वह बहिरात्मा है। जो जल्पों में नहीं वर्तता है वह अंतरात्मा कहलाता है।

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सो विं अंतरंगप्पा।
झाण विहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहिं॥५७५॥

अर्थ—जो धर्म ध्यान में और शुक्ल ध्यान में परिणत है वह भी अन्तरात्मा है, ध्यान विहीन श्रमण बहिरात्मा है ऐसा जान।

स्वाध्याय

वयणमयं पडिक्कमणं वयण मयं पच्चखाण णियमं च।
आलोयण वयणमयं तं सव्वं जाण सज्झाउं ॥५७६॥

अर्थ—वचनमय प्रतिक्रमण वचन मय प्रत्याख्यान (वचनमय) नियम और वचनमय आलोचना यह सब स्वाध्याय जान।

संयम में दोष लगे तो प्रायश्चित की विधि

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयण पुव्विया किरिया ॥
छदु वजुत्ता समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि।
आसेज्जा लोचित्ता उवदिट्ठं तेण कात्वं ॥५७८॥प्र.

अर्थ—यदि श्रमण के प्रयत्न पूर्वक की जाने वाली काय चेष्टा में छेद होता है, तो उसे तो आलोचना पूर्वक क्रिया करना चाहिये।

किन्तु यदि श्रमण छेद में उपयुक्त हुआ हो तो उसे जैन मत में व्यवहार कुशल श्रमण के पास जाकर आलोचना करके (अपने दोष का निवेदन करके) वे जैसा उपदेश दें वह करना चाहिये।

टीका—संयम का छेद दो प्रकार का है बहिरंग और उपयोग सम्बन्धी अंतरंग। उसमें यदि भली भांति उपयुक्त श्रमण के

प्रयत्न कृत काय चेष्टा का कथंचित् बहिरंग छेद होता है तो वह सर्वथा अंतरंग छेद से रहित है इसलिये आलोचना पूर्वक क्रिया से ही उसका प्रतिकार होता है, किन्तु यदि वही श्रमण उपयोग सम्बन्धी छेद होने से साक्षात् छेद में ही उपयुक्त होता है तो जिनोक्त व्यवहार विधि में कुशल श्रमण के आश्रय से आलोचना पूर्वक उनसे उपदिष्ट अनुष्ठान द्वारा (संयम का) प्रतिसंधान होता है।

मुनि पर्याय छेद के आयातन

भत्ते वा खमणे वा आवासधे वा पुणो विहारे वा ।
उवधिम्हि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि ॥५७६॥

अथ—मुनि आहार में, क्षपण में (उपवास में) आवास में, और विहार में, उपधि में (परिग्रह में) श्रमण में, (अन्य मुनि में) अथवा विकथा में प्रतिबन्ध नहीं चाहता।

टीका—(१) श्रामण्य पर्याय के सहकारी कारणभूत शरीर की वृत्ति के हेतु मात्र रूप से ग्रहण किये जाने वाले आहार में (२) तथाविध शरीर की वृत्ति के साथ विरोध रहित, शुद्धात्म द्रव्य में नीरंग और निस्तरंग विश्रान्ति की रचनानुसार प्रवर्तमान क्षपण में (अर्थात् शरीर के टिकने के साथ विरोध न आवे इस प्रकार शुद्धात्म द्रव्य में विकार रहित और तरंग रहित स्थिरता की रचना की जाय, तदनुसार प्रवर्तमान अनशन में) (३) नीरंग और निस्तरंग—अन्तरंग द्रव्य की प्रसिद्धि के लिए सेव्यमान गिरिन्द्र कन्दरादिक आवास में (४) यथोक्त शरीर की वृत्ति की कारण भूत भिक्षा के लिए किये जाने वाले विहार कार्य में (५) श्रामण्य पर्याय का सहकारी कारण होने से जिसका निषेध

नहीं है ऐसे केवल देह मात्र परिग्रह में (६) मात्र अन्योन्य बोध्य बोधक रूप से जिसका कथंचित् परिचय पाया जाता है ऐसे श्रमण में (७) शब्द रूप पुद्गलोल्लास के साथ संबंध से जिसमें चैतन्य रूपी भित्ति का भाग मलिन होता है ऐसी शुद्धात्म द्रव्य से विरुद्ध कथा में प्रतिबन्ध निषेध्य त्याग ने योग्य है अर्थात् उनके विकल्पों से भी चित्त भूमि को चित्रित होने देना योग्य नहीं है।

छेद किसको कहते हैं

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचं कमादीसु।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संततिय त्ति मदा ॥५८०॥

अर्थ—श्रमण के शयन, आसन, (बैठना) स्थान, (खडेहोना) गमन इत्यादि में जो अप्रयत चर्या है वह सदा सतत हिंसा मानी गई है।

टीका—अशुद्धोपयोग वास्तव में छेद है क्योंकि, (उससे) शुद्धोपयोग रूप श्रामण्य का छेदन होता है, वही (अशुद्धोपयोग ही) हिंसा है क्योंकि, (उससे) शुद्धोपयोग रूप श्रामण्य का हिंसन (हनन) होता है। इसलिये श्रमण के अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होती ऐसी शयन, आसन, स्थान गमन इत्यादि में अप्रयत चर्या वास्तव में उसके लिये सर्वकाल में ही सन्तान वाहिनी हिंसा ही हैं जो कि छेद से अनन्यभूत है।

मुनि पर्याय का छेद अन्तरंग बहिरंग दो प्रकार है।

मरदु वा जियदु जीवो अयदा चारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसा मेत्तेण समिदस्स ॥५८१॥प्र.

अर्थ—जीव मरे या जिये अप्रयत आचरण वाले के (अंतरंग) हिंसा निश्चित है प्रयत्न के समिति वान के (बहिरंग) हिंसा मात्र से बन्ध नहीं है।

टीका—अशुद्धोपयोग अंतरंग छेद है। परप्राणों का व्यपरोप वहिरंग छेद है। इनमें से अंतरंग छेद ही विशेष बलवान है बहिरंग छेद नहीं, क्योंकि पर प्राणों के व्यपरोप का सद्भाव हो या असद्भाव हो जो अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता ऐसे अप्रयत्न आचार से प्रसिद्ध होने वाला अशुद्धोपयोग का सद्भाव जिसके पाया जाता है उसके हिंसा के सद्भाव की प्रसिद्धि सुनिश्चित है और इस प्रकार जो अशुद्धोपयोग के बिना होता है ऐसे प्रयत्न आचार से प्रसिद्ध होने वाला अशुद्धोपयोग का असद्भाव जिसके पाया जाता है उसके परप्राणों के व्यपरोप के सद्भाव में भी वन्धक अप्रसिद्धि होने से हिंसा के अभाव की प्रसिद्धि सुनिश्चित है। ऐसा होने पर भी वहिरंग छेद का आयातन मात्र हैं इसलिये उसे स्वीकार तो करना ही चाहिये।

अप्रयत आचार ने वाले हिंसक ही है अनेकान्त

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो।
चरिंद जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥५८२॥

अर्थ—अप्रयत आचार वाला श्रमण छहों काय सम्बन्धी वध का करने वाला मानने में आया है यदि सदा प्रयत्न रूप से आचरण करे तो जल में कमल की भांति निर्लेप कहा गया है।

भावार्थ—जीव मरे या जिये जहां प्रमाद है वहां नियम

से हिंसा है और जहां प्रमाद नहीं है वहां अहिंसक ही है जीव मरने से बन्ध हो या न भी हो अनेकान्तहै क्योंकि हिंसा में प्रमाद ही मूल है।

परिग्रह एकान्तिक हिंसा है

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध काय चेट्ठम्हि।
बंध धुवमीवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं ॥५८३॥

अर्थ—अब (परिग्रह के सम्बन्ध में ऐसा है कि) काय चेष्टा पूर्वक जीव के मरने पर बन्ध होता है अथवा नहीं होता (किन्तु) उपधि से परिग्रह से निश्चय ही बन्ध होता है। इसलिये श्रमणों (अर्हन्त देवों) ने सर्व परिग्रह को छोड़ा है।

टीका—जैसे काय व्यापार पूर्वक परप्राण व्यपरोप को अशुद्धोपयोग के सद्भाव में और असद्भाव के द्वारा अनेकांतिक बन्ध रूप होने से छेदत्व अनैकान्तिक माना गया है, वैसा उपधि (परिग्रह) का नहीं है, परिग्रह सर्वथा अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता, ऐसा जो परिग्रह का सर्वथा अशुद्धोपयोग के साथ अविनाभावित्व है उससे प्रसिद्ध होने वाले एकान्तिक अशुद्धोपयोग के सद्भाव के कारण परिग्रह तो एकान्तिक बन्ध रूप है, इसलिये उसे (परिग्रह को) छेदत्व एकान्तिक ही है। इसलिये भगवन्त अर्हन्तों ने परम श्रमणों ने स्वयं ही पहले ही सभी परिग्रह को छोड़ा है क्योंकि वह (परिग्रह) अन्तरंग छेद के बिना नहीं होता।

परिग्रह अन्तरंग छेद का कारण है

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥५८४॥प्र.

अर्थ—उपधि के सद्भाव में (भीक्षु) के मूर्छा, आरम्भ या असंयम न हो वह यह कैसे हो सकता है ? तथा जो पर द्रव्य में रत हो आत्मा को कैसे साध सकता है।

टीका—उपधि के सद्भाव में (१) ममत्व परिणाम जिसका लक्षण है ऐसी मूर्छा (२) उपधि सम्बन्धी कर्म प्रकम के परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा आरम्भ (३) शुद्धात्म स्वरूप की हिंसा रूप परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा असंयम अवश्यमेव है। तथा उपधि जिसका द्वितीय हो उसके पर द्रव्य में लीनता होने के कारण शुद्धात्म द्रव्य की साधकता का अभाव होता है, इसलिये उपधि के एकान्तिक अन्तरंग छेदत्व निश्चित होता है।

परिग्रह एकान्तिक छोड़ने योग्य हैं

किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोथ देहे वि।
संग त्ति जिणवरिंदा णिप्पडिकम्मत्त मुदिट्ठा ॥५८५॥प्र.

अर्थ—जब की जिनवरेन्द्रो ने मोक्षाभिलाषी ने देह परिग्रह है यह कहकर देह में भी अप्रति कर्मत्व (संस्कार रहित्व) कहा है, तब उनका यह (स्पष्ट) आशय है कि, उसके अन्य परिग्रह कैसे हो सकता है ?

टीका—यहाँ श्रामण्य पर्याय का सहकारी कारण होने से जिसका निषेध नहीं किया गया है ऐसे अत्यन्त उपात्त शरीर में भी यह (शरीर) परद्रव्य होने से परिग्रह है, वास्तव में यह अनुग्रह योग्य नहीं है किन्तु उपेक्षा योग्य ही है, ऐसा कहकर अर्हन्त देवो ने अप्रतिकर्मत्व कहा है, तब फिर वहाँ शुद्धात्म-तत्वोपलब्धि की सम्भावना के सिक पुरुषों के शेष अन्य

अनुपात्त परिग्रह विचार कैसे हो सकता है ? ऐसा उनका आशय व्यक्त ही है। इससे निश्चित होता है कि उत्सर्ग ही वस्तु धर्म है अपवाद नहीं।

अपवाद मार्ग के भेद

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं ॥५८६॥

अर्थ—(जन्मजात नग्न) यथाजातरूप लिंग जिन मार्ग में उपकरण कहा गया है, गुरु के वचन, सूत्रों का अध्यन और बिनय भी उपकरण कहे गये हैं।

टीका—इसमें जो अनिषिद्ध उपधि अपवाद है वह सभी वास्तव में ऐसा ही है कि जो श्रामण्य पर्याय के सहकारी कारण के रूप में उपकार करने वाला होने से उपकरण भूत है दूसरा नहीं। उसके विशेष भेद इस प्रकार है। (१) सर्व आहार्य रहित सहज रूप से अपेक्षित यथाजात रूपत्व के कारण जो बहिरंग लिंग भूत है ऐसे काय पुद्गल (२) जिनका श्रवण किया जाता है ऐसे, तत्काल बोधक गुरुद्वारा कहे जाने पर आत्मतत्त्व द्योतक सिद्ध उपदेश रूप वचन पुद्गल तथा (३) जिनका अध्ययन किया जाता है ऐसे नित्य बोधक अनादि निधन शुद्ध आत्म तत्व को प्रकाशित करने में समर्थ श्रुत ज्ञान के साधन भूत शब्दात्मक सूत्र पुद्गल, और (४) शुद्ध आत्मतत्व को व्यक्त करने वाली जो दर्शनादिक पर्यायें उन रूप से परिणमित पुरुष के प्रति विनीतता का अभिप्राय प्रवर्तित करने वाले चित्र पुद्गल। यहाँ यह तात्पर्य हैं कि काय की भांति वचन और मन भी वस्तु धर्म नहीं।

मुनि अल्प परिग्रह रखे तो निगोद में जावें।

जहजाय रुव सरिसो तिलतुस मित्तंण गिहदि हत्तेसु।
जइ लेइ अप्प बहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदम् ॥५८७॥

अर्थ—मुनि है सो यथाजातरूप है जैसा तुरत के जन्मे हुए बालक नग्न एवं विकार रहित है तैसा नग्न मुद्रा का धारक है, सो अपने हाथ विषै तिल के तुष मात्र भी किछु ग्रहण नहीं करे है बहुरि जो कुच्छ अल्प बहुत लेवे ग्रहण करे तो वह मुनि ग्रहण करने से निगोद में जाय है।

भावार्थ—मुनिराज का परिग्रह का त्याग है तो भी जब उसका परिग्रह रखने का भाव हुआ तब अपना पद का नाश किया यह मुनिराज की तीव्र कषाय है और अपनी तीव्र कषाय से मुनिराज निगोद में चले जाते हैं। पद की रक्षा करना वही कर्तव्य है।

केवल उत्सर्ग एवं केवल अपवाद मार्ग पर चलने से आचरण की दुःस्थितता होती है इसलिये उत्सर्ग सापेक्ष अपवाद एवं अपवाद सापेक्ष उत्कर्ष मार्ग उचित है।

आहारे वा विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥५८८॥प्र.

अर्थ—यदि श्रमण आहार अथवा विहार में देश, काल, श्रम, क्षमता तथा उपधि इनको जानकर प्रवर्तेतो अल्प लेपी होता है।

टीका—क्षमता तथा ग्लानता का हेतु उपवास है, और बाल

तथा वृद्धत्व का अधिष्टान उपधि शरीर है, इसलिये यहाँ (टीका में) बाल, वृद्ध, श्रांत, ग्लान ही लिये गये है।

देश कालज्ञ को भी यदि वह बाल, वृद्ध, ग्लान, श्रांत के अनुरोध से आहार विहार में प्रवृति करे तो मृदु आचरण में प्रवृत्ति होने से अल्प लेप अर्थात् किंचित् पाप बंध होता है, इसलिये उत्सर्ग अच्छा है।

देश कालज्ञ को यदि वह बाल वृद्ध, श्रांत ग्लानत्व के अनुरोध से विहार में प्रवृति करे तो मृदु आचरण में प्रवृत होने से अल्प लेप ही होता है इसलिये अपवाद अच्छा है।

देश कालज्ञ को भी यदि वह बाल वृद्ध, श्राँत ग्लानत्व के अनुरोध से जो आहार विहार है उससे होने वाले अल्प लेप अर्थात् किंचित पाप वन्घ के भय से प्रवृति न करे तो, अति कर्कश आचरण रूप होकर *अक्रम से शरीर पात* करके देवलोक प्राप्त करके जिसने समस्त संयमामृतका समूह वमन कर डाला है उसे तप का अवकाश न रहने से, जिसका प्रतिकार अशक्य है, ऐसा महान लेप होता है, इसलिये अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग मार्ग श्रेयस्कर नहीं है।

देश काल को भी यदि वह बाल वृद्ध श्रांति ग्लानत्व के अनुरोध से जो आहार विहार है, उससे होने वाले अल्प लेप को न गिनकर उसमें यथेस्ट प्रवृति करे तो (अर्थात् अपवाद से होने वाले अल्प पाप वन्ध के प्रति असावधान होकर उत्सर्ग रूप ध्येय को चूककर अपवाद मार्ग में स्वच्छन्दतया प्रवृति करे तो) मृदु आचरण रूप होकर संयम विरोधी को असंयत जन के समान हुये उसको उस समय तप का अवकाश न रहने जिसका प्रतिकार

अशक्य है ऐसा महान पाप का लेप होता है इसलिये उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद मार्ग श्रेयस्कार नहीं है।

इससे (कहा गया है कि) उत्सर्ग और अपवाद के विरोध से होने वाले आचरण की दुःस्थितता सर्वथा निषेध्य (त्याज्य) है, और इसलिये परस्पर सापेक्ष उत्सर्ग और अपवाद से जिसकी वृति प्रगट होती है ऐसा स्याद्वाद सर्वथा अनुगम्य है।

भावार्थ—जो जीव केवल क्रम बद्ध ही पर्याय मानते है ऐसे अज्ञानी जीवों को सावधान किया है कि अक्रम भी पर्याय होती है यदि मुनिराज उत्कृष्ट सापेक्ष अपवाद मार्ग का ग्रहण करते तो अक्रम से मनुष्य पर्याय का नाश नहीं होता। औदयिक भाव से जो मरण होता है अर्थात् अनिच्छा प्रवृति जो मरण होता है वह काल मरण है और उदीरणा भाव से जो मरण होता है अर्थात् इच्छा प्रवति मरण होता है वह अक्रम मरण है अर्थात् अकाल मरण है तीसरी प्रकार से मरण होता ही नही।

अब आगमज्ञान तत्त्वार्थ श्रद्धान संयतत्त्व की युगपत्ता के साथ आत्मज्ञान की युगपत्ता को साधित करते है।

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदिय संवुडो जिद कसायो।

दंसणणाण समग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥५८६॥

अर्थ—पाँच समिति युक्त, पांच इन्द्रियों को संवर वाला तीन गुप्ति सहित कषायों को जीतने वाला, दर्शन ज्ञान से परिपूर्ण जो श्रवण वही संयत कहा गया है।

टीका—जो पुरुष अनेकान्त केतन आगम ज्ञान के बलसे, सकल पदार्थों के ज्ञेयाकारों के साथ मिलत होता हुआ, विशद

एक ज्ञान जिसका आकार है ऐसे आत्मा का श्रद्धान और अनुभव करता हुआ आत्मा में ही नित्य निश्चल वृति को इच्छता हुआ संयम के साधन रूप बनाये हुए शरीर पात्र को पांच समितियों से अंकुशित प्रवृति द्वारा प्रवर्तित करता हुआ क्रमशः पंचेन्द्रियों के निश्चल निरोध द्वारा जिसके काय वचन मन के व्यापार विराम को प्राप्त हुआ है. ऐसा होकर चिद्वृति के लिये परद्रव्य में भ्रमण का निमित्त जो कषाय समूह वह आत्मा के साथ अन्योन्य मिलन के कारण अत्यन्त एक रूप हो जाने पर भी, स्वभाव भेद के कारण उसे पर रूप से निश्चित करके आत्मा से ही कुशल मल्ल की भांति अत्यन्त मर्दन कर करके अक्रम से उसे मार डालता हैं, वह पुरुष वास्तव में सकल परद्रव्य से सून्य होने पर भी विशुद्ध दर्शन ज्ञान मात्र स्वभाव से रहने वाले आत्मतत्त्व (त्रिकाल स्वभाव) में नित्य निश्चल परिणति उत्पन्न होने से साक्षात संयत ही है । और उसे ही आगम ज्ञान तत्त्वार्थ श्रद्धान संयतत्व की युगपत्ता के साथ आत्म ज्ञान की युगपता सिद्ध होती है ।

भावार्थ—केवल ज्ञानी एवं श्रुत केवली में कोई विशेष अन्तर नहीं है, केवल प्रत्यक्ष परोक्षकाही अन्तर है, जो केवल ज्ञानी कहेगा वही श्रुत केवली कहेगा, केवल ज्ञानी भी पदार्थ को अखण्ड अनादि अनंत, अनंतानंत पर्याय का पीन्ड सहित प्रतिपादन करते हैं, ऐसा ही श्रुत केवली प्रतिपादन करते हैं, मोक्ष मार्ग में केवल ज्ञान की खास कोई महिमा नहीं है महिमा तो एक वीतराग भाव की ही है। वह वीतराग भाव की प्राप्ति अक्रम से अर्थात् पुरुषार्थ से ही होती है । जिस जीव ने क्रम बद्ध ही पर्याय स्वीकार की है उसने अपने पुरुषार्थ का नाश कर दिया है । क्रम बद्ध में जो होता है वही होगा वहाँ पुरुषार्थ को अवकाश

भी नहीं है, ऐसे जीव को एकान्त मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। अक्रम पर्याय आत्मा के पुरुषार्थ के आधीन है, आचार्य देवे अक्रम से मोह को मारडाला लिखकर अज्ञानी जो केवल क्रमबद्ध ही पर्याय मानते हैं उसे जागृत किया है।

मोक्ष मार्ग में मूल साधन आगम ज्ञान

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थे सु ।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥५६०॥प्र.

अर्थ—श्रमण एकाग्रता को प्राप्त होता है, एकाग्रता पदार्थों के निश्चयवान के होती है (पदार्थों का) निश्चय आगम द्वारा होता है, इसलिये आगम में व्यापार मुख्य है।

भावार्थ—आगम के बिना पदार्थों का निश्चय नहीं होता, पदार्थों के निश्चय के बिना अश्रद्धान जनित तरलता परकर्तृत्वाभिलाषा जनित क्षोभ और परमोत्कृत्वाभिलाषा जनित अस्थिरता के कारण एकाग्रता नहीं होती, और एकाग्रता के बिना एक आत्मा में श्रद्धान, ज्ञान वर्तन रूप प्रवर्तमान शुद्धात्म प्रवृति न होने से मुनित्व नहीं होता, इसलिये मोक्षार्थी का प्रथम कर्तव्य शब्दब्रह्म रूप आगम में प्रवीणता प्राप्त करना है।

आगमज्ञानहीन कर्म क्षय नहीं कर सकता

आगम हीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि ।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खु ॥५६१॥

अर्थ—आगम हीन श्रमण आत्मा को (निज को) और परको

नहीं जानता पदार्थों को नहीं जानता हुआ भिक्षु कर्मों का किस प्रकार क्षय करे ?

टीका—वास्तव में आगम के बिना परमात्म ज्ञान या परात्म-ज्ञान नहीं होता और परात्मज्ञान शून्य के य परमात्मज्ञान सून्य के माहोदि द्रव्यभाव कर्मों का या ज्ञप्ति परिवर्त्तन रूप कर्मों का क्षय नहीं होता।

आगम चक्षु से सब कुछ दिखाई देता है

सव्वे आगम सिद्धा अत्था गुण पज्जएहिं चित्तेहिं ।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥५९२॥

अर्थ—समस्त पदार्थ विचित्र गुण पर्यायों सहित आगम सिद्ध है, उन्हें भी वे श्रमण आगम द्वारा वास्तव में देखकर जानते हैं।

टीका—प्रथम तो आगम द्वारा सभी द्रव्य प्रमेय (ज्ञेय) होते हैं, क्योंकि सर्व द्रव्य विस्पष्ट तर्कणा से अविरुद्ध है। और फिर आगम से वे द्रव्य विचित्र गुण पर्याय वाले प्रतीत होते हैं, क्योंकि आगम को सह प्रवृत और क्रमप्रवृत अनेक धर्मों में व्यापक अनेकान्त मय होने से प्रमाणता की उपपत्ति है। इससे सभी पदार्थ आगम सिद्ध ही है। और वे श्रमणों को स्वयमेव ज्ञेयभूत होते है, क्योंकि श्रमण विचित्र गुण पर्याय वाले सर्व द्रव्यों में व्यापक अनेकान्त आत्मक श्रुतज्ञानोपयोग रूप होकर परिणमित होते हैं। इससे आगम चक्षुओं को कुछ भी अदृश्य नहीं है।

आगम ज्ञान बिना श्रमण नहीं है ।

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सहे संजमो तस्स ।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ॥५६३॥

अर्थ—इस लोक में जिसकी आगम पूर्वक दृष्टि (दर्शन) नहीं है, उसके संयम नहीं है इस प्रकार सूत्र कहता है और असंयत वह श्रमण कैसे हो सकता है ।

ज्ञान की महिमा

णाणगुणेहिं विहीणा ण लहंते ते सुइच्छियं लाहं ।
इय णाऊं गुणदोसं तं सण्णाणं वियाणेहि ॥५६४॥प्र.

अर्थ—ज्ञान गुण से हीन जो पुरुष है वह अपना इच्छित वस्तु के लाभ को नहीं पाते हैं, ऐसा जानकर हे भव्य । तू पूर्वोक्त सम्यग्ज्ञान को ग्रहण कर तथा उसके गुण दोषों जानो ।

शरीरादि प्रत्य मूर्छा वाला जीव सिद्धि को नहीं पाता

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥५९५॥

अर्थ—और यदि जिसके शरीरादि के प्रति परमाणुमात्र भी मूर्छा पाई जाय तो वह भले ही सर्वागम का धारी हो तो भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है ।

धनादि में रागवाला श्रमण उनमार्गी है।

ण चयदि जो दुममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेसु।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं ॥५९६॥प्र.

अर्थ—जो देह, धनादि में 'मैं यह हूं यह मेरा है' ऐसी ममता को नहीं छोड़ता वह श्रमणताको छोड़कर उन्मार्ग का आश्रय लेता है।

श्रमण का स्वरूप

पंच समिदो तिगुत्तो पंचेंदिय संवुडो जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥५९७॥प्र.

अर्थ—पांच समिति युक्त पाँच इन्द्रियों का संवर वाला तीन गुप्ति सहित, कषायों को जीतने वाला, दर्शन ज्ञान से परिपूर्ण जो श्रमण वह संयत कहा गया है।

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंद समो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥५९८॥

अर्थ—जिसे शत्रु मित्र (बन्धु) वर्ग समान है, दुःख सुख समान है, प्रशंसा और निन्दा के प्रति जिसको समता है जिसे लोष्ट और सुवर्ण समान है, तथा जीवन मरण प्रति जिसको समता है वह श्रमण है।

टीका—संयम सम्यग्दर्शन ज्ञान पूर्वक चारित्र है। चारित्र धर्म है, धर्म शाम्य है, शाम्य मोह क्षोभ रहित आत्म

परिणाम है इसलिये संयत का शाम्य लक्षण है। वहाँ (१) शत्रु बन्धु वर्ग में (२) सुख दुःख में (३) प्रशंसा निन्दा में (४) मिट्टी के ढेले और सोने में (५) जीवन मरण में एक ही साथ (१) यह मेरा पर (शत्रु) है यह स्व, (स्वजन) है (२) यह आह्लाद है यह परिताप है (३) यह मेरा उत्कर्षण (कीर्ति) है यह अपकर्षण (अकीर्ति) है ४) यह मुझे अकिंचित्कर है यह उपकारक है (५) यह मेरा स्थायित्व है यह अत्यन्त विनाश है, इस प्रकार मोह के अभाव के कारण सर्वत्र जिससे रागद्वेष का द्वैत प्रगट नहीं होता, जो सतत विशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभाव आत्मा का अनुभव करता है, और (इस प्रकार) शत्रु, बन्धु, सुख दुःख, प्रशंसा निन्दा, लोष्ट कांचन, और जीवन मरण को निर्विशेषतया ही ज्ञेयरूप जान कर ज्ञानात्मक आत्मा में जिसकी परिणति अचलित हुई है, उस पुरुष को वास्तव में जो सर्वतः शाम्य है सो (साम्य) संयत का लक्षण समझना चाहिये, कि जिस संयत के आगम ज्ञान तत्त्वार्थ श्रद्धान संयतत्व की युगपत्ता के साथ आत्म ज्ञान की युगपत्ता सिद्ध हुई है।

दंसणणाण चरित्ते सु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु।

एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥५९९॥प्र.

अर्थ—जो दर्शन ज्ञान और चारित्र इन तीनों में एक ही साथ आरूढ़ है वह एकाग्रता को प्राप्त है, इस प्रकार (शास्त्र में) कहा है उसके श्रामण्य परिपूर्ण है।

श्रमण का बाह्य स्वरूप

जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स।

सो गरहिऊ जिणवयणे परिगह रहिओ निरायारो ॥६००॥

अर्थ—जो जीव अल्प तथा विशेष परिग्रह रखता है और अपने निर्ग्रन्थ मुनि कहलाता है ऐसे जीव के प्रति जो श्रद्धावान है वह भी निन्दा के योग्य है। क्योंकि जिन शासन में परिग्रह रहित को ही निर्दोष निर्ग्रन्थ मुनि माना है।

श्रमण शुद्धो एवं शुभोपयोगी होता है

समणासुद्धु वजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि।
तेसु वि सुद्ध वजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥६०१॥प्र.

अर्थ—शास्त्र में (ऐसा कहा है कि) शुद्धोपयोगी श्रमण है शुभोपयोगी भी श्रमण होते हैं। उसमें भी शुद्धोपयोंगी निरास्त्रव है शेष सास्त्रव है।

टीका—जो वास्तव में श्रामण्य परिणति की प्रतिज्ञा करके भी कषाय कण के जीवित होने से, समस्त परद्रव्य से निवृति रूप से प्रवर्तमान जो विशुद्ध दर्शन ज्ञायक स्वभाव आत्मतत्त्व में परिणति रूप शुद्धोपयोग भूमिका उसमें आरोहण करने में असमर्थ है, वे (शुभोपयोगी) जीव जो कि शुद्धोपयोग भूम्का के उपकण्ठ निवास कर रहे हैं, और कषाय ने जिसकी शक्ति कुण्ठित की है, तथा जो अत्यन्त उत्कण्ठित मन वाले हैं, वे श्रमण है या नहीं वह यहाँ कहा जाता है, शुभोपयोग का धर्म के साथ एकार्थ समवाय है। इसलिये शुभोपयोगी भी उनके धर्म का सद्भाव होने से श्रमण है। किन्तु वे शुद्धोपयोगीयों के साथ समान कोटि के नहीं हैं, क्योंकि शुद्धोपयोगी समस्त कषायों को निरस्त किया होने से निरास्त्रव ही है, और ये शुभोपयोगी तो कषाय कण के विनष्ट न होने से सास्त्रव ही हैं। और ऐसा होने

से शुद्धोपयोगीयों के साथ उन्हें एकत्रित नहीं लिया जाता, मात्र पीछे से लिया जाता है।

शुभोपयोगी श्रमण का लक्षण

अरहंतादि सु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु ।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुह जुत्ता भवे चरिया ॥६०२॥

अर्थ—श्रामण्य में यदि अर्हन्तादि के प्रति भक्ति तथा प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्य पाया जाता है तो वह शुभ युक्त चर्या (शुभोपयोगी चारित्र) है।

टीका—सकल संग के सन्यास स्वरूप श्रामण्य के होने पर भी जो कषाय अंश के आवेश के वश केवल शुद्धात्म परिणति रूप से रहने में स्वयं अशक्त हैं ऐसा श्रमण पर रूप (१) केवल शुद्धात्म परिणति रूप से रहने वाले अर्हन्तादिक तथा (२) केवल शुद्धात्म परिणति रूप से रहने का प्रतिपादन करने वाले प्रवचन रत जीवों के प्रति, भक्ति तथा वात्सल्य से चंचल है उस श्रमण के मात्र उतने राग से प्रवर्तमान पर द्रव्य प्रवृति के साथ शुद्धात्म परिणति मिलित होने से शुभोपयोगी चारित्र है। इससे (कहा गया है कि) शुद्धात्मा का अनुराग युक्त चारित्र शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण है।

शुभोपयोगी श्रमण की प्रवृति

वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।
समणे सु समावणओ ण णिंदिदा रायचरिय म्हि ॥३०३॥

अर्थ—श्रमणों के प्रति, बन्दन, नमस्कार सहित अभ्युत्थान

और अनुगपन रूप विनीत प्रवृति करना उनका तथा श्रय दूर करना रागचर्या में निन्दित नहीं है।

मुनि अवस्था में पुण्य भाव गौण है किन्तु श्रावक में मुख्य हैं।

ऐसा पसत्थ भूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥५०४॥

अर्थ—यह प्रशस्त भूत चर्या श्रमणों के (गौण) होती हैं और ग्रहस्थों के तो मुख्य होती है ऐसा (शास्त्रों में) कहा गया है, उसी से (परम्परा से) ग्रहस्थ परम सौख्य को प्राप्त होता है।

टीका—इस प्रकार शुद्धात्मानुराग युक्त प्रशस्त चर्या रूप जो यह शुभोपयोग वर्णित किया गया है वह यह शुभोपयोग शुद्धात्म की प्रकाशक सर्व विरति को प्राप्त श्रमणों के कषाय कण के सद्भाव के कारण प्रवर्तित होता हुआ, गौण होता है, क्योंकि वह शुभोपयोग शुद्धात्म परिणति से विरुद्ध राग के साथ सम्बन्ध वान है, और वह शुभोपयोग गृहस्थों के तो सर्व विरति के अभाव से शुद्धात्म का अभाव होने से कषाय के सद्भाव के कारण प्रवर्तमान होता हुआ भी, मुख्य है, क्योंकि जैसे ईंधन को स्फटिक के संपर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है (और इससे वह क्रमशः जल उठता है) उसी प्रकार गृहस्थ को राग के संयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है, और (इसलिए वह शुभोपयोग) *क्रमशः परम निर्वाण सौख्य का कारण होता है।*

भावार्थ—जिसने संपूर्ण परिग्रह का त्याग किया है जो पंच इन्द्रिय का विजेता है उसको ध्यान में ही अपना उपयोग लगाना चाहिए किन्तु शुभोपयोग की मुख्यता नहीं है किन्तु जो श्रमण-

पर्याय धारण कर विकथा में ही अपना समय व्यतीत करते हैं वह श्रमण नहीं है उसी को जिनागम में श्रमणाभास कहा गया है। जिसकी पास में परिग्रह है जो पाँच इन्द्रिय का लम्पटी है वह ध्यान नहीं कर सकता है उसी को पुण्य भाव में ही अपना उपयोग लगाना चाहिए, जो पुण्य भाव ऐसे जीवों को परम्परा निर्वाण सौख्य का कारण बन जाता है। पुन्य भाव करते २ निर्वाण नहीं होता है किन्तु पुन्य भाव छोड़ते २ निर्वाण सौख्य का कारण हो जाता है इसलिए गृहस्थों को पाप से बचने के लिये अवश्य पुण्य मार्ग में लगना ही चाहिये यदि वह अपनी अवस्था में पुण्य को हेय मानकर छोड़ देवे तो वह केवल पाप मार्ग में ही रहेगा, जो नरक का ही कारण है। गृहस्थ भी वह शुभोपयोगी की साथ अंश में शुद्धात्म का अनुभव करता है अर्थात् अनंतानुवन्धी कषाय के अभाव में अप्रत्याख्यान कषाय के अभाव में शुद्धात्मा का अनुभव करता है।

लौकिक जन के साथ श्रमण किस निमित्त से बातचीत करे

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।
लोगिगजण संभासा ण णिंदिदा वा सुहोव जुदा॥६०५॥

अर्थ—और रोगीगुरु (पूज्य बड़े) बाल तथा वृद्ध श्रमणों की सेवा के निमित्त से शुभोपयोग युक्त लौकिक जनों की साथकी बातचीत निन्दित नहीं है।

टीका—शुद्धात्म परिणति को प्राप्त रोगी, गुरू, बाल, वृद्ध श्रमणों की सेवा के निमित्त से ही (शुभोपयोगी श्रमण को) शुद्धात्म परिणति शून्य लोगों के साथ बातचीत प्रसिद्ध है

(शास्त्रों में निषिद्ध नहीं है) किन्तु अन्य निमित से भी प्रसिद्ध हो ऐसा नहीं है।

शुभोपयोगी श्रमण की चर्या

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंद पूजोवदेसो य ॥६०६॥प्र.

अर्थ—दर्शन, ज्ञान, उपदेश, शिष्यों का ग्रहण, तथा उनका पोषण, और जिनेन्द्र की पूजा का उपदेश वास्तव में सरागियों की चर्या है।

टीका—अनुग्रह करने की इच्छा पूर्वक दर्शन, ज्ञान के उपदेश की प्रवृति, शिष्य ग्रहण की प्रवृति, उनके पोषण की प्रवृति और जिनेन्द्र पूजन के उपदेश की प्रवृति शुभोपयोगियों के ही होती है, शुद्धोपयोगियो के नहीं।

श्रमण के दो ही कार्य है।

पंचमहव्वयजुत्तो पंचेसु समिदीसु तीसु गुत्ती सु।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सदा कुणह ॥६०७॥अ.

अर्थ—पाँच महाव्रत से युक्त, पांच समिति, तीन गुप्ति से युक्त होकर, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूपी रत्न त्रय से संयुक्त है वह मुनिराज को ध्यान और अध्ययन शास्त्र का अभ्यास करना चाहिये।

श्रमण ध्यान कैसे करे

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं च एवि तिविहेण।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥६०८॥अ.

अर्थ—श्रमण, ध्यानी, मुनि है वह, मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप, को मन वचन काय से छोड़कर मौन धारण कर ध्यान में स्थिर होकर आत्मा को ध्यावे।

श्रमण किसके घर से आहार ग्रहण करे

उत्तम मज्झिम गेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पवज्जा ऐरिसा भणिया॥६०६॥अ.

अर्थ—उत्तमकुल का घर हो, या मध्यम कुल का घर हो, दरिद्र हो या धनवान हो, इनमें निरपेक्ष हो ऐसी सर्व जगह से आहार ग्रहण करे ऐसी प्रवज्या कहीं है।

भावार्थ—श्रमण पात्र के घर से ही आहार ग्रहण कर सकता है कुपात्र एवं अपात्र के घर से आहार ग्रहण नहीं करता है। जिसको देव, गुरू धर्म की श्रद्धा है वह पात्र जीव है। जाति उपर पात्रता नहीं है। जात का क्षत्रिय है और कुपात्र है तो उसके घर से आहार ले नहीं सकता है। जात का ब्राह्मण है और अपात्र है तो उसके घर से आहार ले नहीं सकता है, क्योंकि जिसको आहार की विधि का ज्ञान नहीं है उसके घर से आहार कैसे ग्रहण करेगा! जात का सत् शुद्र है, और वह पात्र है तो मुनिराज उसके घर से यदि विधि मिल जावे तो आहार ले सकता है। जाति की कोई निशानी तो है नहीं कि पात्र जीव दातार की परीक्षा कर लेवे। यदि नौवधा भक्ति में एक भी भक्ति कम करेगा तो पात्र जीव दातार के गृह से आहार नहीं ले सकता है यही दातार की परीक्षा है।

संयम के विरोधी प्रवृति का निषेध

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥६१०॥

अर्थ—यदि श्रमण वैयावृति के लिये उद्यमी वर्तता हुआ छह काय को पिडित करता हैं तो वह श्रमण नहीं है गृहस्थ है; क्योंकि (छह काय को विराधना सहित वैयावृति) श्रावकों का धर्म है।

टीका—जो (श्रमण) दूसरे के शुद्धात्म परिणति रक्षा हो, इस अभिप्राय से वैयावृति की प्रवृति करता हुआ अपने संयम की विराधना करता है वह गृहस्थ धर्म में प्रवेश कर रहा होने से श्रामण्य से च्युत होता है। इससे (यह कहा है कि) जो भी प्रवृति हो वह सर्वथा संयम के साथ विरोध न आवे इस प्रकार ही करनी चाहिये क्योंकि प्रवृति में भी संयम ही साध्य है।

श्रमण प्रवृति कब करे

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं।
दिट्ठा संमणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥६११॥प्र.

अर्थ—रोग से, क्षुधा से, तृपा से अथवा श्रम से आक्रान्त श्रमण को देखकर साधु अपनी शक्ति के अनुसार वैयावृत्यादि करो।

टीका—जब शुद्धात्म परिणति को प्राप्त श्रमण को उससे च्युत करे ऐसा कारण कोई भी उपसर्ग, आजाय तब वह काल शुभोपयोगी को अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिकार करने की

इच्छा रूप प्रवृति काल है, और उसके अतिरिक्त का काल अपनी शुद्धात्मतत्व की प्राप्ति के लिये केवल निवृति का काल है।

निस्तारक गुरु तारक कैसे बन जावे ?

जदि ते विषयकषाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु।
किह ते तप्पडिवद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ॥६१२॥प्र.

अर्थ—जब कि वे विषय कषाय पाप है इस प्रकार शास्त्र में प्ररूपित किया गया है तो उनमें प्रतिबद्ध (विषय कषाय में लीन) वे श्रमण निस्तारक (पार लगाने वाला) कैसे हो सकता है ?

भावार्थ—जो श्रमण स्वयं डूब रहे हैं वह और जीवो को कैसे तार सकता है ? कदापि नहीं ?

श्रमणाभासी का स्वरूप

ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥६१३॥

अर्थ—सूत्र, संयम और तप से संयुक्त होने पर भी यदि (वह जीव) जिनोक्त आत्म प्रधान पदार्थों का श्रदान नहीं करता तो वह श्रमण नहीं है ऐसा (आगम में) कहा है।

टीका—आगम का ज्ञाता होने पर भी, संयत होने पर भी, तप में स्थित होने पर भी जिनोक्त अनन्त पदार्थों से भरे हुये विश्व को, जोकि (विश्व) अपने आत्मा से ज्ञेय रूप से पिया जाता होने के कारण आत्म प्रधान (जिसमें आत्मा प्रधान है) है उसका जो जीव श्रद्धान नहीं करता वह श्रमणा भास है।

लौकिक संग छोड़ने योग्य है

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकषाश्रो तवो धिगो चावि।
लोगिगजण सं संग्ग ण चयदि जदि संजदो ण हवदि ॥

अर्थ—जिसने सूत्रों के पदों को और अर्थों को निश्चित किया हैं, जिसने कषायों का शमन किया है, और अधिक तपवान है, ऐसा जीव यदि लौकिक जनों की संसर्ग को नहीं छोड़ता तो वह संयत नहीं है।

लौकिक जन का लक्षण

णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्में हिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो, संजमतवसंपजुत्तो वि ॥६१५॥

अर्थ—जो (जीव) निर्ग्रंथ रूप से, दीक्षित होने के कारण संयम तप,संयुक्त हो उसे भी यदि वह एहिक कार्यों सहित वर्तता है तो वह "लौकिक" कहा गया है।

टीका--परम निर्ग्रन्थता रूप प्रवृज्या की प्रतिज्ञा ली होने से जो जीव संयम तप के भार से बहन करता हो उसे भी यदि उस मोह की बहुलता के कारण शुद्ध चैतन्य व्यवहार को छोड़कर निरंतर मनुष्य व्यहार के द्वारा चक्कर खाने से एहिक कर्मों से अनिवृत हो तो लौकिक कहा जाता है।

भावार्थ—मुनि लिंग धारणकर मंत्र करना, जोतिष देखना, तेजी मन्दी देख देना आदि कार्य करता है तो वह संयत नहीं है वेषधारी मात्र है।

लौकिक व्यवहार का भी त्याग होना चाहिये

सव्वे कषाय मुत्तं गारवमयरागदोसवामोहं ।
लोयववहारविरदो अप्पा झाएइ झाणत्थो ॥६१६॥

अर्थ—मुनि सो सर्व कषाय को छोड़ कर तथा गारव, मद, राग, द्वेष तथा मोह को छोड़कर और लौकिक व्यवहार से विरक्त होकर ध्यान में स्थिर होकर आत्मा को ध्यावे।

श्रमण किसकी संगति करे

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं ।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्ख परिमोक्खं ॥

अर्थ---यदि श्रमण दुःख से परिमुक्त होना चाहता है तो वह समान गुणों वाले श्रमण के अथवा अधिक गुणों वाले श्रमण के संग में निवास सदा करे।

टीका---क्योंकि आत्मा परिणाम स्वभाव वाला है, इसलिये अग्नि के संग में रहे हुवे पानी की भांति (संयत के भी) लौकिक संग से विकार अवश्यंभावी होने से संयत भी असंयत ही हो जाता है। इसलिये दुःखों से मुक्ति चाहने वाले श्रमण को (१) समान गुण वाले श्रमण के साथ अथवा (२) अधिक गुण वाले श्रमण के साथ सदा ही निवास करना चाहिये। इस प्रकार उस श्रमण के (१) शीतल घर के कोने में रखे हुये शीतल जल की भांति समान गुण वाले की संगति से गुण रक्षा होती है और (२) अधिक शीतल हिम के सम्पर्क में शीतल पानी की भांति अधिक गुण वाले के संग से गुण वृद्धि होती है।

भावार्थ—यदि मुनिराज अपनी पद की रक्षा करने को चाहता है तो वह आचार्य के संग में ही रहें वहां ही उनके पद की रक्षा हो सकती है, किन्तु जो मुनिराज में परिषह जीतने की शक्ति नहीं है, और एकल विहार करते हैं वह पापी मुनि हैं, जो मुनि उत्तम संगति छोड़कर ब्रह्मचारी की संगति करता है वह भी गिरा हुआ वेषधारी मुनि है वह स्वयं डूबते हैं और २ जीवों को भी डुबाते हैं।

कषाय निवृति बिना बाह्य त्याग निष्फल है

भावविसुद्धिणिमित्तं वाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
वाहिरचाओ विहलो अब्भतरगंथजुत्तस्स ॥६१८॥अ.

अर्थ—बाह्य परिग्रह का त्याग कीजिये है, सो भाव की विशुद्धि ताके अर्थी कीजिये है, अभ्यन्तर परिग्रह जो रागादिक से युक्त हैं उसके बाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल है।

पुन्य पाप भाव की निवृति ही भाव शुद्धि है

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण च यमत्थि ॥६१९॥

अर्थ—उपयोग यदि शुभ हो तो जीव के पुण्य संचय को प्राप्त होता है, और यदि अशुभ होय तो पाप संचय होता है। उन दोनों के अभाव में संचय नहीं होता है।

टीका—जीव का पर द्रव्य के संयोग का कारण अशुद्ध उपयोग है। और वह विशुद्धि तथा संक्लेश रूप उपराग के कारण

शुभ और अशुभ रूप से द्विविधता को प्राप्त होता हुआ जो पुन्य और पाप से द्विविधता को प्राप्त होता है ऐसा जो परद्रव्य उसके संयोग के कारण रूप काम करता है। किन्तु जब दोनों प्रकार के अशुद्धोपयोग का अभाव किया जाता है तब वास्तव में उपयोग शुद्ध ही रहता है और वह परद्रव्य के संयोग का कारण नहीं है।

पुण्य पाप से हटकर आत्मा को ध्याना

असुहोवओगरहिदो, सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि ।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए ॥५२०॥प्र.

अर्थ---अन्य द्रव्य में मध्यस्थ होता हुआ मैं अशुभोपयोग रहित होता हुआ तथा शुभोपयोग युक्त न होता हुआ ज्ञानात्मक आत्मा को ध्याता हूँ।

भाव विहीन श्रमण पापी है

भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो।
कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो ॥६२१॥

अर्थ---शुभ तथा शुद्ध भाव ही स्वर्ग मोक्ष का कारण है इन भाव वर्जित श्रमण है वह पाप स्वरूप है कर्ममल से मलिन है चित जिसका ऐसा श्रमण तिर्यंच गति का पात्र है।

भाव विना शब्द ज्ञान कार्यकारी नहीं है

पढिएण वि किं कीरइ किं वा सुणिएण भावरहिएण ।
भावो कारणभूदो सायारणायार भूदाणं ॥६२२॥अ.

अर्थ—भाव रहित पढ़ना, सुनना, कुछ भी कार्य कारी नहीं है। इसलिये श्रावकपना तथा मुनिपना भाव रहित होने पर व्यर्थ ही है।

पुत्रादिक का त्याग, त्याग नहीं है

भाव विमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण।
इय भाविऊण उज्जसु गंधं अब्भंतरं धीर ॥६२३॥अ.

अर्थ- हे मुनिराज! जो मुनि कषाय से मुक्त हुआ है। वही यथार्थ मुक्त हुआ है, और जो मुनि बान्धव आदि से मुक्त हुआ है, वह परमार्थ से मुक्त नहीं है। इसलिये हे मुनिराज अंतरंग की कषाय छोड़ो।

भावार्थ—सांप ने कांचली का त्याग किया पर विष का त्याग न किया, इसी प्रकार से जिस मुनि ने कषाय का त्याग नहीं किया है, केवल वस्त्र त्याग कार्य कारी नहीं है।

भाव रहित मुनि की सब क्रिया निष्फल है

बाहिर संगच्चाओ गिरिसरिदरि कंदराइ आवासो।
सयलो णाण ज्झयणो णिरत्थओ भाव रहियाणं ॥६२४॥

अर्थ—जो पुरुष भाव से रहित है शुद्ध आत्मा की भावना रहित है, और बाह्य आचरण से संतुष्ट है उसका बाह्य परिग्रह का त्याग है सो निरर्थक है, पर्वत की गुफा, नदी के निकट कंदर स्थानक, इत्यादिक में वसना निरर्थक है, ध्यान करना, आसन से मन को स्थिर करना, अध्ययन सब निरर्थक है।

भाव बिना तप भी कार्यकारी नहीं है

भाव रहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडिओ ।
जम्मंतराइ बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ॥६२५॥अ.

अर्थ—बहुत जन्मातर तक कोटा कोटि संख्या काल तक हस्त लंबायमान करके वस्त्रादिक त्याग कर तपश्चरण किये भाव रहित होने से सिद्धि नहीं होती है

भाव बिना निगोद में जन्म लिया

छत्तीस तिण्णि सया छावट्ठि सहस्सवारमरणाणि ।
अंतोमुहुत्तमज्झे पतोसि निगोय वासम्मि ॥६२६॥अ.

अर्थ—हे आत्मन् ! तू निगोद के वास में एक अन्तर्मुहूर्त में छयालिस हजार तीन सौ छत्तीस मरण को प्राप्त हुआ ।

निगोद की संख्या

वियलिंदए असीदो सट्ठी चालीसमेव जाणेह ।
पंचिदिय चउवीसं खुद्दभवंतो मुहुत्तस्स ॥६२७॥अ.

अर्थ—दो इन्द्रिय के क्षुद्र भाव अस्सी, तेन्द्रिय के साठ, चौइन्द्रिय के चालीस, और पंचेन्द्रिय के चौबीस । ये अन्तर्मूहूर्त के क्षुद्र भव होते हैं ।

भावार्थ—क्षुद्रभव अन्य शास्त्र में ऐसे गिने हैं पृथ्वी, अप, तैज, वायु, साधारण निगोद के सूक्ष्म बादर से दश भेद और

सप्रतिष्ठित वनस्पति एक ऐसे ग्यारह स्थानक के भव तो एक एक के छह हजार वार उस के छयासठ हजार एक सौ बत्तीस हुए और इस गाथा के अनुसार त्रस के दो सो चार मिलकर छियालीस हजार तीन सौ छत्तीस ६६३३६ एक अन्तर्मुहूर्त में क्षुद्रभव अर्थात् निगोद जो स्वास के अठ्ठारहवें भाग में जन्म मरण करते हैं ऐसा जानो।

भव बिना अपवित्र गर्भ वास में वसे

पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरूहिरखरिस किमि जाले।
उयरे वसिओसि चिरं नव दस मसि हिं पत्तेहिं ॥६२८॥

अर्थ—हे आत्मन्! पित्त, अन्त्र अर्थात् अंतडिपो के वेष्टन में, मूत्र, रूधिर, फेफड़े, कलेजे, मलो से युक्त ऐसे स्त्री के उदर में नव दस मास तक भाव न सुधारने से रहा।

दियसंगट्ठियसणं आहारिय मायभुत्तमण्णांते।
छ द्दि खरिसाण मज्झे जठरे वसिओ सि जणणीए॥६२९॥

अर्थ—हे जीव! माता पिता के भोग से अंतर्वमन किये गये मल से माता के गर्भ में रहा और माता भोजन करने के बाद उदर गया उसके रस का आहार तूने किया।

भाव बिना बालक अवस्था में अशुचि भी खाया

शिशुकाले य अयाणे असुई मज्झम्मि लोलिओ सि तुमं।
असुई असिया बहुसो मणिबर बालतप तेण ॥६३०॥अ.

अर्थ—हे मुनिवर! तू बालक गण के काल में अज्ञान अवस्था में अशुचि अपवित्र स्थान में अशुचि के बीच लोया बहुत बार अशुचि वस्तु ही खाई बालकपन में ऐसी चेष्टा की।

अज्ञानी का व्रत तप बाल तप हैं

परमट्ठम्हि दु अट्ठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई।
तं सव्वं बालं तवं बालवदं बिंति सव्वण्हू ॥६३१॥स.

अर्थ—परमार्थ में अस्थित जो जीव तप करता है व्रत धारण करता है उसके उन सब व्रत और तप को सर्वज्ञ देव बाल तप और बाल व्रत कहते हैं।

संसार भ्रमण का कारण

एवं कत्ता भोत्ता होज्जं अप्पा सगेहिं कम्मेहिं।
हिंडदि पारमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥६३२॥पं.

अथ—इस प्रकार अपने से कर्ता भोक्ता होता हुआ आत्मा मोहाच्छादित वर्तता हुआ सांत अथवा अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है।

संसार से छुटने का कारण

उवसंतखीणं मोहो मग्गं जिण भासिदेण समुवगदो।
णाणाणु मग्गचारी णिव्वाण पुरं वजदि धीरो ॥६३३॥

अर्थ—जो जिन वचन द्वारा मार्ग को प्राप्त करके उपशांत क्षीण मोह होता हुआ (अर्थात् जिसे दर्शन मोह का उपशम, क्षय

अथवा क्षयोपशम हुआ है ऐसा होता हुआ) ज्ञानानुमार्ग में विचरता हैं वह धीर पुरुष निर्वाण पुर को प्राप्त होता है।

टीका—जब यही आत्मा जिनाज्ञा द्वारा मार्ग को प्राप्त करके उपशांत क्षीण मोहपने के कारण जिसे विपरीत अभिनिवेश नष्ट हो जाने से सम्यक् ज्ञान ज्योति प्रगट हुई है ऐसा होता हुआ कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अधिकार को समाप्त करके सम्यक् रूप से प्रगट प्रफुल्ल शक्तियान होता हुआ ज्ञान का ही अनुसरण करने वाले मार्ग में विचरता है तब वह शुद्ध आत्म तत्त्व की उपलब्धि रूप अपवर्ग नगर को प्राप्त करता है।

परम वीतराग चारित्र की जय हो।

जो णिहद मोहदिट्ठी आगम कुसलो विरागचरियम्हि।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो ॥६३॥

अर्थ—जो आगम में कुशल है जिसकी मोह दृष्टि हत हो गई है और जो वीतराग चारित्र में आरूढ़ हैं उस महात्मा श्रमण को (शास्त्र में) धर्म कहा है।

टीका—यह आत्मा स्वयं धर्म हो, यह वास्तव में मनोरथ है। उसमें विघ्न डालने वाली एकमात्र बहिर्मोहि दृष्टि ही है। और वह (दृष्टि) आगम कौशल्य से तथा आत्म ज्ञान से नष्ट हो चुकी है, इसलिये अब वह मुझमें पुनः उत्पन्न नहीं होगी, इसलिये वीतराग चारित्र रूप से प्रगटता को प्राप्त मेरा यह आत्मा स्वयं धर्म होकर समस्त विघ्नों का नाश हो जाने से सदा निष्कंप ही रहता है। अधिक विस्तार से पूरा पड़े! जयवंतवर्तो स्याद्वाद मुद्रित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म! जयवंत वर्तो शब्दब्रह्म

मूलक आत्म तत्त्वोपलब्धि कि जिसके प्रसाद से अनादि संसार से बन्धी हुई मोह ग्रन्थि तत्काल ही छुट गई है और जयवंतवर्तो परम वीतराग चारित्र स्वरूप शुद्धोपयोग कि जिसके प्रसाद से आत्मा स्वमेव धर्म हुआ है।

पंचम काल में धर्म ध्यान हो सकता है

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
तं अप्पसहावट्ठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥६३४॥

अर्थ—इस भरत क्षेत्र में दुःषम काल अर्थात् पंचम काल में भी साधु मुनिराज के धर्म ध्यान होता है। यह धर्म ध्यान आत्म स्वभाव में स्थित मुनि के होता है। यह न माने सो अज्ञानी है जिसको धर्म ध्यान का ज्ञान भी नहीं है।

भावार्थ—तीन कषाय अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान के अभाव रूप आत्म शान्ति पंचम काल में मुनिराज को हो सकती है उसी आत्म शांति का नाम धर्म ध्यान है। उसी प्रकार व्रती श्रावक को दो कषाय के अभाव रूप आत्म शांति तथा अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक को भी अनन्तानुबंधी एक कषाय के अभाव रूप आत्म शन्ति हो सकती है यह आत्म धर्म शान्ति ध्यान है।

पंचम काल में भी जीव एकावतारी हो सकता है।

अज्ज वि तिरयण सुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं ।
लोयंतिय देवत्तं तत्थचुआ णिव्वुदिं जंति ॥६३५॥अ.

अर्थ—इस पंचम काल में भी जो मुनिराज सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र शुद्ध रत्नत्रय युक्त है, वे आत्मा का ध्यान करके इन्द्र

पद पाते हैं तथा लौकान्तिक देव हो सकता है और वहाँ से चय कर निर्वाण को प्राप्त होता है।

भावार्थ—चतुर्थ काल में जो जीव सर्वार्थ सिद्धि गये हैं वह मोक्ष में जावे उनसे पहले पंचम काल के जीव लोकान्तिक देव बन कर मोक्ष में जा सकते हैं इससे सिद्ध हुआ कि जीव को पंचम काल बाधक नहीं है किन्तु अपना ही भाव बाधक है।

आत्म भावना

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनु भावा—
दविरतमनुभाव्य व्याप्ति कल्माषितायाः।
मम परम विशुद्धिः शुद्ध चिन्मात्र मूर्ते–
र्भवतु समयसार व्याख्ययैवानु भूतेः ॥६३६॥क.

अर्थ—इस शुद्धात्मा तथा ग्रन्थ की व्याख्या से ही मेरी अनुभूति की अर्थात् अनुभवन रूप परिणति की परम विशुद्धि (समस्त रागादि विभाव परिणति रहित उत्कृष्ट निर्मलता) हो। यह मेरीप रिणति परिणति का कारण जो मोह नामा कर्म है उसके अनुभाव (उदय रूप विपाक) से जो अनुभाव्य (रागादि परिणामों) की व्याप्ति है, उससे निरंतर कल्माषित अर्थात् मैली है। और मैं द्रव्यदृष्टि से शुद्ध चैतन्य मात्र मूर्ति हूँ।

आचार्य की लघुता

णियमं णियमस्स फलं णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए।
पुव्वावर विरोधो जदि–अवणीय पूरयंतु समयण्हा ॥६३७॥

अर्थ--नियम और नियम का फल प्रवचन की भक्ति से दर्शाये गये। यदि (उसमें कुछ) पूर्वा पर विरोध हो तो समयज्ञ (आगम के ज्ञाता) उसे दूर करके पूर्ति कर लेना।

गुरू परम्परा यह कथन है

सद्द वियारो हुओ भासा सूतेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्द बाहुस्स ॥६३८॥अ.

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान के मुखारविन्द से जो वाणी रूप पुद्गल की विकारी पर्याय रूप शब्द भाषा रूप निकला वह गणधरादि रचित पंचम श्रुत केवली भद्रबाहु ने परम्परा सुना उसी को मैंने अपने गुरू मुख द्वारा सुना उसे ही मैंने कहा है।

भद्रबाहु आचार्य की स्तुति

बारस अंग वियाणं चउदसपुव्वंग वि उलवित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमय गुरु भयवओ जयओ ॥६३६॥

अर्थ—१२ अंग १४ पूर्व के धारी श्री भद्र बाहु आचार्य जो महान ज्ञान धारी है एवं गुरुओं में प्रधान, जो स्वयं भगवान रूप है उनको मैं नस्कार करता हूँ। जिनके द्वारा यह ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है।

भावार्थ—कुन्द २ आचार्य विदेह क्षेत्र में श्री मन्दिर स्वामी के श्रमणसणमें जाकर साक्षात् केवली की वाणी सुनकर शास्त्र रचना की है ऐसी जिन जीवों की मान्यता है यह जीव अपनी मान्यता इस स्तुति से जानकारी प्राप्त करे। यह गुरू परम्परा की ही प्रसादी है।

शान्ति —शान्ति— शान्ति

ग्रन्थ श्लोक

(अ)

ग्रन्थ श्लोक

ग्रन्थ श्लोक

ग्रन्थ श्लोक

ग्रन्थ श्लोक

ग्रन्थ श्लोक

ग्रन्थ श्लोक

ग्रन्थ श्लोक

ग्रन्थ श्लोक

ग्रन्थ श्लोक

ग्रन्थ श्लोक

ग्रन्थ श्लोक

ग्रन्थ श्लोक

ग्रन्थ श्लोक

ग्रन्थ श्लोक

जिस ग्रन्थ में से गाथा संग्रहित है उसकी सूची तथा ग्रन्थ संकेत

समयसार	—स	सुत्रपाहुड़	–सू. पा.
समयसार कलश	—क स	मोक्षपाहुड़	–मो, पा.
पंचास्तिकाय	—पं	चारित्रपाहुड़	–चा. पा.
प्रवचनसार	—प्र	बोधपाहुड़	–बो. पा.
अष्टपाहुड़	—अ०	भावपाहुड़	–भा. पा.
नियमसार	—नि.	लिंगपाहुड़	–लिं. पा.
दर्शनपाहुड़	—द.पा.		

